रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला संख्या– २५

॥ओ३म्॥

संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि

बिना रटे ६ मास में अष्टाध्यायी-पद्धति से
संस्कृत का पठन-पाठन
एक नवीन अद्भुत सफल प्रयोग

(प्रथम भाग)

पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

प्रकाशक-
रामलाल कपूर ट्रस्ट
रेवली, सोनीपत– ३९ (हरियाणा)
Web- www.rlktrust.org

प्रकाशक : रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम-रेवली, पो०-ई०सी० मुरथल
सोनीपत-१३१०३९ (हरियाणा)
(०१३०) ३२९०२७६
Web : www.rlktrust.org
email : rlktrust@yahoo.in

संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि

संस्करण	प्रकाशनकाल	संख्या
वेदवाणी पत्रिका में	सं० २०११ वि०	१००० प्रति
प्रथम वार	सं० २०१२ वि०	३००० प्रति
द्वितीय वार	सं० २०१४ वि०	३००० प्रति
तृतीय वार	सं० २०१९ वि०	३००० प्रति
चतुर्थ वार	सं० २०२५ वि०	२००० प्रति
पञ्चम वार	सं० २०३० वि०	२००० प्रति
षष्ठ वार	सं० २०३४ वि०	२००० प्रति
सप्तम वार	सं० २०३९ वि०	२००० प्रति
अष्टम वार	सं० २०४३ वि०	२००० प्रति
नवम वार	सं० २०४९ वि०	२००० प्रति
दशम वार	सं० २०५६ वि०	१००० प्रति
एकादश वार	सं० २०६१ वि०	१००० प्रति
द्वादश वार	सं० २०६५ वि०	१००० प्रति
त्रयोदश वार	सं० २०७० वि०	१००० प्रति
	योग	२६००० प्रतियाँ

त्रयोदश वार सं० २०७०
१००० प्रति सन् २०१४

मूल्यम् : ७० रुपये

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स
दिल्ली-३२

विषय-सूची

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

तृतीय-चतुर्थ संस्करणों की भूमिका

पाठों की भूमिका

प्रारम्भिक ४४ दिन का पाठ्यक्रम

शेष ६ मास का पाठचक्रम

अष्टाध्यायी का मुख्य वा आदर्श पाठचक्रम

—:o:—

—ओ३म्—

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

पाठों को पहिले लिखित रूप क्यों न दिया ?

अष्टाध्यायी-पद्धति से बिना रटे संस्कृत तथा उसके व्याकरण के इस पाठ्यक्रम का आरम्भ सर्वप्रथम सन १९३९ से ४१ में हुआ। इस के पश्चात् सन् ५१ से ५५ तक चार पांच वर्ष हो रहे हैं, जिसमें अनेक पठनार्थी श्रेणियों को इस पद्धति से पढ़ाया गया, और जिसमें सफलता रही। पर इन पाठों को लिखित रूप मैं नहीं दे रहा था, यद्यपि अनेक पठनार्थियों वा संस्कृतप्रेमी सज्जनों वा नेताओं, विद्वानों द्वारा इनको लिखित रूप देने की प्रेरणा अत्यधिक रही। मुझे स्मरण है कि स्वर्गीय श्रद्धेय पूज्य वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज मुझे बार-बार व्याकरण-विषय का एक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखने वा संग्रह कर देने की प्रबल तथा निरन्तर प्रेरणा बहुत समय तक करते रहे। पर मेरे मन में यही आता था कि कहीं यह एक अनार्ष वा अनार्षता को प्रोत्साहन देनेवाला कार्य तो न होगा ? मैं लिखने को उद्यत न होता था। अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही व्याकरण पढ़ाया जा सकता है, अपनी इस बात पर दृढ़ था। और ३५-४० वर्ष तक इसी पर दृढ़ रहा था, तथा १६ वर्ष से कम आयुवालों के सम्बन्ध में अब भी दृढ़ हूं।

लिखित रूप देने का विचार कैसे उत्पन्न हुआ ?

जब मेरे सामने यह स्थिति (दैवी घटना ही कहना चाहिये) उत्पन्न हो गई कि प्रौढ़ (१६ वर्ष से अधिक आयु के) पठनार्थी अत्यन्त श्रद्धा और उत्साह लेकर संस्कृत तथा उसके व्याकरण को पढ़ने लिए मेरे सामने आकर उपस्थित हुये, जिनकी आयु बहुत अधिक थी, और जिनके पास समय कुछ मास का ही था, अनार्ष कौमुदी आदि पढ़ना नहीं चाहते थे, रटने में लगाया जाता तो भाग जाते, और संस्कृत पढ़ने का नाम कभी न लेते। मेरे मन में उनके लिए सद्भावना भी थी, उनकी उन्नति वा उनके भविष्य को उज्ज्वल देखने की प्रेरणा भी मन में होती थी। यह सब स्थिति उत्पन्न होने पर मेरे मन में बहुत गहरी वेदना उठी कि क्या ऐसे व्यक्तियों को मैं यही

कहूं कि तुम लघुकौमुदी रटकर ही संस्कृत-व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर सकते हो, और कोई मार्ग नहीं !!! क्या ऐसों के लिए अष्टाध्यायी का द्वार सदा के लिये बन्द ही रहेगा ? क्या यह महामुनि पाणिनि की असफलता न होगी ? इत्यादि गम्भीर प्रश्नों ने आत्मा में अष्टाध्यायी-पद्धति से विना रटे पढ़ाने की प्रेरणा दी। इसी का परिणाम हुआ कि प्रौढ़ पठनार्थियों को विना रटे अष्टाध्यायी-पद्धति से पढ़ाने का उपक्रम चला। 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है' यही सिद्धान्त यहां भी सत्य सिद्ध हुआ।

इतने वर्षों में अनेक प्रौढ़ पठनार्थी श्रेणियों के पढ़ाने का सफल प्रयोग होने पर भी, मैं अपने इन पाठों को लिखित रूप नहीं दे रहा था। इसका कारण यह था कि मेरे मन में यह एक आशङ्का बनी रहती थी कि कहीं इन पाठों को भी लोग रटना तो प्रारम्भ न कर देंगे ? यही बड़ा भारी कारण वा विचार था, जो मेरे मन में गहरा बैठा था।

अन्त में जब बहुत सी प्रेरणायें निरन्तर मिलने लगीं, और पठनार्थियों तथा अष्टाध्यायी-पद्धति में सच्ची निष्ठा रखनेवाले अध्यापकों की कठिनाई का प्रश्न मेरे सामने बार-बार आया, तब कहीं मेरा मन अन्त में इन पाठों को (जो अभी तक मेरे भीतर ही बैठे थे) यह वर्तमान लिखितरूप देने को उद्यत हुआ।

माननीय टण्डन जी की प्रेरणा

इसकी सब से अधिक प्रेरणा मुझे १८ अप्रेल १९५४ को मिली, जब देहली में संस्कृतप्रेमी गृहमन्त्री श्री माननीय काटजू जी द्वारा पाणिनि महाविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर सच्चे देशभक्त त्यागी-तपस्वी देश के माननीय नेता श्रद्धेय टण्डन जी ने अपने सभापति-भाषण में मुझे इन संस्कृत व्याकरण के पाठों को लिखित रूप देने की अतिप्रबल प्रेरणा दी।

इन सब प्रेरणाओं का ही यह परिणाम है, जो यह पाठ लिखित रूप में संस्कृतप्रेमी पाठकों के सामने उपस्थित हो रहे हैं।

प्रारम्भ में पुस्तक रूप देने का विचार नहीं था

यह सब होने पर भी मैंने तो लेखरूप में ही प्रकाशित करने के लिए इन्हें लिखना आरम्भ किया था, और वह भी १०-२० पृष्ठों में लिख दिया जायगा, यह सम्भावना थी। पुस्तक रूप में लिखने की न कोई सम्भावना थी, न कोई विचार था। जब लिखना आरम्भ किया, जिस शैली पर जितना विषय प्रौढ़ पठनार्थियों को मैं स्वयं पढ़ाता चला आ रहा था, लग-

भग वैसा का वैसा लिखता गया। जिसका कि यह रूप (प्रथम संस्करण में ७७ पृष्ठ) बन गया। वेदवाणी में पहिले प्रति मास १ फार्म अर्थात् ८ पृष्ठ ही देने का विचार था, पर १६ पृष्ठ देना आरम्भ हुआ। यही कारण है कि इसमें पुस्तक रूप बनाने में जितनी बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए, उतना ध्यान नहीं दिया जा सका। आकार भी पुस्तक का नहीं था। यह विचार था और अब भी है कि पठनार्थियों तथा इस विषय के जानकार विद्वानों द्वारा इन पाठों को पढ़ाने के पश्चात् जो-जो कठिनाइयां सामने आवें, वा जो उचित सुझाव वे सब दें, उन पर भी उचित विचार कर आवश्यक निर्देश दिये जावें, वा उन विषयों पर भी प्रकाश डाला जावे, जिससे संस्कृत वा उस के व्याकरण की यह ज्ञानधारा देश में तीव्रता से प्रवाहित होने लगे।

किस परिस्थिति में ये पाठ लिखे गये

पाठक यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि वास्तव में तो ये पाठ एक साथ लिखकर प्रैसकापी बना लेनी आवश्यक थी, जिससे कि पुनः पढ़कर न्यूनाधिक कर ली जाती। पर वेदवाणी तो प्रतिमास की २० ता० तक छपनी चाहिए। इधर मेरा हाल यह रहा कि प्रायः प्रतिमास १४ वा १५ ता० को मैं पाठ लिखना आरम्भ करता था, जो फुलस्केप साईज के कम से कम ३२ पृष्ठ लिखने बैठता था। और पूरा होने से पहिले ही रफ की प्रतिलिपि दूसरों के द्वारा करानी पड़ती थी। स्वयं की जाती तो भी ठीक था। उधर साथ-साथ छपने को भी भेज देते थे। मैं तो स्वयं चकित हूं कि मैं इतना लिख भी कैसे गया। प्रिय युधिष्ठिर मीमांसक ने 'वेदवाणी' में पाठ निकलने की सूचना छाप दी। अब तो लिखना अनिवार्य हो गया। काशी से बाहर जाना पड़ता था, यह एक भारी बाधा थी। प्रूफ भी पूरे संतोषपूर्ण ढंग में नहीं देखे जा सके, इत्यादि कारणों से छपने में कहीं-कहीं अनवधानता से भूल रह गई, पाठ छूट गया, मात्रायें टूट गईं। इसमें जो तो साधारणतया छपने में अशुद्धियां हुई थीं, उनका शुद्धिपत्र परिवर्तन तथा परिवर्धन आदि अन्त में दे दिया है, पाठक तदनुसार ठीक करके ही पढ़ना आरम्भ करें। अगले संस्करण में ये सब वा अन्य आवश्यक संशोधन आदि किये जा सकेंगे[१]।

ये पाठ किनकी दृष्टि से लिखे गये ?

सामान्यतया हमने ये पाठ लगभग उसी शैली-क्रम और ढंग पर लिखें

---

१. द्वितीय संस्करण में सब ठीक कर दिये गये हैं—सम्पादक।

हैं, जिनके अनुसार मैं स्वयं प्रौढ़ पठनार्थियों को पढ़ाता रहा हूं, या पढ़ाता हूं। इस शैली क्रम वा ढंग के सफल होने नें कुछ भी सन्देह वा विप्रतिपत्ति नहीं। अब प्रश्न यह है कि ये ३५ (अब ५४) पाठ किनके लिए हैं? मेरे अनुभव में दोनों तरह की बात आ चुकी है। मेरे इन पाठों को विना किसी अध्यापक के स्वयं ही पढ़कर पूरा समझ लेनेवाले भी मेरे पास आये हैं। अभी कल (५-१-५६) की बात है कि श्री मास्टर नरोत्तमदास जी अग्रवाल रिटायर्ड हेडमास्टर जूनियर हाई स्कूल बड़ागांव जिला बनारस मेरे पास पहलो बार पहुंचे, और कहा कि मैंने वेदवाणी में प्रकाशित आपके ३५ पाठों को स्वय पढ़ा है और समझा है। मुझे आगे का ढंग समझाइए। मैंने कहा कि जब तक मैं परीक्षा न कर लूं कि आपने ये ३५ पाठ समझ लिये हैं (मुझे इन पर सन्देह था), तब तक मैं आगे आपको कैसे बताऊं? मैं चकित रह गया, जब उन्होंने मेरे ३५ पाठ सब ठीक सुना दिये, तब मैंने इनको आगे बताया। इसी प्रकार और भी कई सज्जनों ने मुझे कहा, और पत्र द्वारा लिखा। सो विना अध्यापक के स्वयं पढ़नेवालों के लिए भी ये पाठ उपयोगी हैं। जो सज्जन काशी में कहीं अलग ठहरकर और भोजन का स्वयं प्रबन्ध करके (क्योंकि इसमें मेरी असमर्थता है) कम से कम ये पाठ भी मेरे पास पढ लें, तब तो क्या ही कहना। अध्यापक को यदि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो, तब तो स्वयं भी इन पाठों को प्रौढ़ पठनार्थियों को हमारी इस पद्धति से पढ़ा सकते हैं। पर यदि अध्यापक महानुभाव इस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के भाव से मेरे पास (उपर्युक्त व्यवस्था से) कम से कम १५ दिन लगा लें, तो उन्हें हमारी पद्धति से पढ़ाने में बहुत कुछ मार्ग मिल सकता है। आगे पत्र-व्यवहार द्वारा भी कठिनाइयां दूर होना सम्भव है। यहां को इस पद्धति से पढ़नेवाले छात्र विद्यमान ही रहते हैं, चाहे हम रहें या न रहें। सो ये हमारे पाठ प्रौढ़ पठनार्थी तथा पढ़ानेवाले अध्यापक दोनो की दृष्टि से ही उपयोगी हैं, ऐसा समझना चाहिये। घर बैठे पढ़नेवाले भी यदि एक बार १५ दिन प्रत्यक्ष अनुभवार्थ मेरे पास आकर पढ़ लेंगे, तो पीछे पत्रव्यवहार से भी बहुत कुछ कार्य चल सकता है। यद्यपि मैं ऐसे पत्रों के उत्तर शीघ्र ही देने का प्रयत्न करता हूं, पर कार्य की अधिकता से कभी-कभी विलम्ब हो ही जाता है। पाठकों को विदित रहे कि मैं अन्य वेदभाष्य आदि तथा आर्षग्रन्थों के पढ़ाने वा 'वेदवाणी' के सम्पादनादि अनेक कार्यों में भी तो लगा रहता हूं। न चाहते हुए बाहर भी कभी-कभी जाना ही पड़ता है, निजी सहायक कैसे और कहां तक रखूं?

ये सब पाठ अनुभव से ही लिखे गये हैं

पाठकों को ध्यान रहे कि संस्कृत-व्याकरण-पाठमाला के ये सब लेख प्रौढ़ पठनार्थियों की अनेक श्रेणियों को पढ़ाकर, अर्थात् अनुभव प्राप्त करके और सफल सिद्ध होने पर ही लिखे गये हैं। केवल कल्पनामात्र से लिखे गये हों, यह बात नहीं। प्रिय पाठकों की जानकारी के लिए हम प्रौढ़ों की इन श्रेणियों का परिचय अति संक्षेप से देते हैं—

(१) **सुलतानपुर** (अवध) में ५ अप्रैल १९५२ से २० प्रौढ़ पठनार्थियों की श्रेणी १५ जून १९५२ तक चली, जिसको आरम्भ में मैंने पढ़ाया। तत्पश्चात् वहीं जुलाई सन् ५२ से अप्रैल ५४ तक प्रतिवर्ष दसवीं नवीं तथा छठी तीन-तीन श्रेणियां तीन वर्ष तक चलीं। जिसमें अष्टाध्यायी पद्धति से १००-७१-६२-५५ छात्र पढ़ते रहे। इस प्रकार १० श्रेणियां सुलतानपुर में चलीं, और लगभग २७५ छात्र पढ़े। यहां की श्रेणियों में कई मुसलमान छात्र भी अष्टाध्यायी पढ़ते रहे।

(२) [क] **काशी में**—अगस्त ५२ से अगस्त ५३ तक तीन श्रेणियां लाहौरी टोला में चलीं, जिसमें २६-१६-२६ छात्र पढ़ते रहे। प्राचीन व्याकरण-वालों की श्रेणियां पृथक् चलीं। वर्ष में ७ श्रेणियां चलीं, और लगभग ८४ छात्र पढ़ते रहे।

[ख] मई जून १९५३ में मोतीझील के शिविर में १०० छात्र आये, पर अन्त में ६० प्रौढ़ पठनार्थी ४ श्रेणियों में पढ़ते रहे।

[ग] मोतीझील में जुलाई सन् ५३ से दिसम्बर ५५ तक २ श्रेणियां ५३ में, २ श्रेणियां ५४ में, तथा ६ श्रेणियां ५५ में चलीं, और लगभग ६० छात्र पढ़ते रहे, जिनमें १५ आगे पढ़ रहे हैं।

(३) **देहली में** पाणिनि विद्यालय १८ अप्रैल १९५४ से दिसम्बर १९५४ तक चला। जिसमें सत्यनारायण-मन्दिर तथा जवाहर नगर में तो दो श्रेणियां थोड़े दिन चलीं। करौलबाग और हनुमान मार्ग में लगभग १॥ वर्ष में तीन-तीन श्रेणियां चलीं, और बिरला मन्दिर में लगभग ६ मास में दो श्रेणियां।

देहली में इस प्रकार ७-८ श्रेणियों और पठनार्थियों की कुल संख्या २५०-३०० के बीच में कहीं जा सकती है। देहली में आरम्भ में मेरे द्वारा एक मास का समय लगा। बीच में एक-एक सप्ताह भी लगा।

इस प्रकार सन् ५२ से सन् ५५ के अन्त तक लगभग २५ श्रेणियां

मेरे द्वारा तथा १५ श्रेणियां अन्यों द्वारा चलीं। अन्यों द्वारा चलने में बहुत त्रुटियां सामने आयीं। जिनका निर्देश यहां नहीं हो सकता।

इस प्रकार लगभग चार वर्ष में २५ श्रेणियों को पढ़ाने के अनन्तर मैंने अपने बहुत से प्रेमियों के आग्रह से ये संस्कृत-पाठमाला के लेख 'वेदवाणी' में छापे। और अब वही पृथक् रूप में प्रकाशित किये जा रहे हैं।

हमारी इस विना रटे अष्टाध्यायी-पद्धति से पढ़नेवालों तथा इस पद्धति से पढ़ानेवाले अध्यापकों को मार्गप्रदर्शनरूप में ये लेख अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं, और हो रहे हैं। सभी के सामने यह पद्धति आ जावे, इस विचार से अनेक सज्जनों के प्रेमपूर्वक आग्रह से ये पाठ हम 'वेदवाणी' से पृथक् भी प्रकाशित कर रहे हैं। ताकि 'वेदवाणी' के अंक (जो सर्वथा समाप्त हो चुके हैं) प्राप्त न कर सकनेवाले संस्कृतप्रेमी इन पाठों से वञ्चित न रह जावें। इनका अगला संस्करण और भी परिमार्जित रूप में निकल सकेगा, ऐसा हम समझते हैं। यदि वृत्ति का प्रबन्ध होने पर अध्यापकों को ट्रेनिंग दी जावे,तो बहुत कार्य हो सकता है। इसमें राज्य की सहायता की भी आवश्यकता है। जो सज्जन चाहें,हमारी इस पद्धति का निरीक्षण जब और जैसे चाहें कर सकते हैं। हम तो समझते हैं, काशी में ५ वर्ष के लिये १० हजार छात्रों के भोजन का प्रबन्ध हो, तो इतने ही समय में इस पद्धति से पहिले काशी में, फिर सारे भारत में,और उसके पश्चात् संसार में संस्कृत विस्तार का एक महान् कार्य हो सकता है।

इस पद्धति के सरल प्रदर्शन

अनेक विद्वानों, विशेषकर श्री पं० गोपाल शास्त्री जी दर्शनकेशरी (जिनकी इस पद्धति पर अत्यन्त आस्था है), तथा श्री पं० केदारनाथ जी सारस्वत जैसे काशी के उच्च कोटि के विद्वानों के आग्रह और प्रेम से इस पद्धति का प्रदर्शन निम्न प्रकार अब तक हुआ,जिसे विद्वानों ने सफल बताया—

(१) श्री रामानन्द विद्यालय शङ्कुधारा काशी में १९५१ में व्याकरण-न्याय-वेदान्ताचार्य विद्वद्वर श्री स्वामी माधवाचार्य जी की अध्यक्षता में हुआ। इनकी प्रेरणा से काशी में पा० वि० का आरम्भ हुआ।

(२) महामहोपाध्याय विद्वच्छिरोमणि पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेद जी के (१९५२ में उनके) निवास-स्थान पर हुआ। जिससे इस कार्य को गहरी प्रेरणा मिली।

(३) पाणिनि महाविद्यालय लाहौरी टोला काशी के उद्घाटन के अवसर पर अगस्त १९५२ में।

(४) वैदिकशिरोमणि श्री पं० रामभट्ट जी के (दुर्गाघाट में उनके) गृह पर काशी के अनेक विद्वानों की उपस्थिति में।

(५) अध्यापक ट्रेनिंग कैम्प सुलतानपुर (अवध) में सन् १९५२ में लगभग ५० आचार्यों-शास्त्रियों की उपस्थिति में।

(६) गीताभवन काशी में महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्मा जी के सभापतित्व में।

(७) संस्कृतविश्वपरिषद् काशी में आये विद्वानों में लगभग ३०-४० योग्य विद्वानों के सामने पाणिनि विद्यालय लाहौरी टोला में।

(८) पाण्डेय धर्मशाला गुदौलिया काशी में स्वर्गीय श्री पराड़कर जी (सम्पादक 'आज'), स्व० श्री० पं० रामनारायण जी मिश्र, श्री डा० सूर्यकान्त जी अध्यक्ष संस्कृतविभाग हिन्दूविश्वविद्यालय काशी, तथा काशी के अन्य विद्वानों के समक्ष।

(९) जून १९५३ में मोतीझील शिविर में श्रद्धेय डा० भगवान्दास जी, माननीय डा० मङ्गलदेव जी शास्त्री भूतपूर्व प्रिंसिपल गवर्नमैन्ट संस्कृत कालेज बनारस आदि के समक्ष।

(१०) शिविर में काशी के कुछ विद्वानों के सामने।

(११) अ० भा० संस्कृत महासम्मेलन की कार्यकारिणी के विद्वानों के सामने आसफअली द्वार क्लाथ मार्केट देहली में।

(१२) श्री डा० बाबूराम जी सक्सेना, अध्यक्ष संस्कृतविभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के समक्ष मोतीझील में।

(१३) अ० भा० संस्कृत महासम्मेलन बिरलामन्दिर देहली में भारत के सभी प्रान्तों से आये उच्चकोटि के सब विद्वानों के सामने।

(१४) अध्यापक ट्रेनिंग शिविर काशी (लगभग ७५ आचार्य और शास्त्री अध्यापकों के सामने) श्री माननीय पं० कुबेरनाथ जी शुक्ल प्रिंसिपल गवर्नमैंट संस्कृत कालेज की अध्यक्षता में।

(१५) माननीय शिक्षामन्त्री उत्तर प्रदेश श्री डा० हरगोविन्दसिंह जी तथा संसद के अध्यक्ष श्री माननीय अनन्तशयनम् आयङ्गर जी के सामने मोतीझील में।

छोटे-छोटे प्रदर्शन तो न जाने कितने हुए और होते रहते हैं। यह सब इसलिए लिखा जा रहा है कि पाठकों को यह विदित रहे कि अनुभव के पश्चात् ही ये ३५ पाठ और इसके आगे का पाठयक्रम लिखा गया है।

हमारी सफलता

हमें सफलता कहां तक हुई,इसमें हमारा नम्र निवेदन यही है कि हमारे

द्वारा चलाई २५ श्रेणियों में तो पद्धति की पूरी सफलता हुई है। अन्यों द्वारा चलाई श्रेणियों में आधी सफलता कही जा सकती है, शेष आधी में इस पद्धति में कुछ भी त्रुटि नहीं। हां, व्यवस्था में कुछ दोष अवश्य रहे। अब तो इस पद्धति के अध्यापक तैयार करके जहां तहां श्रेणियां चलाने की आवश्यकता है।

शेष पांच मास का पाठ्यक्रम

यद्यपि हमने पाठों के अन्त में ३५ दिन के पाठों के पश्चात् शेष पांच मास के पाठचक्रम का निर्देश भी अति संक्षेप से कर दिया है, तथापि इस विषय में जहां भी कुछ प्रष्टव्य हो, पाठक पत्र द्वारा भी पूछ सकते हैं। इस में कई सज्जनों का आग्रह है कि ३५ पाठों की भांति आगे भी वेदवाणी में यह पाठमाला ५ मास तक के पाठों को लिखकर प्रकाशित करें। अब इसमें हमारा इतना ही निवेदन है कि यदि २०० पठनार्थी इसके लिये तैयार हों, तो हम भी प्रकाशित करने को तैयार हैं[1] २-४ या ५-१० के लिये इतना समयसाध्य परिश्रम उठाना कठिन प्रतीत होता है। हां कभी समय मिले, तो हो भी सकता है। वैसे तो हमारे निर्देश से भी बहुत कुछ काम चल सकता है।

सम्मति-संग्रह

हां, भिन्न-भिन्न नेताओं समाचारपत्रों वा विद्वानों की सम्मतियां, जो हमें मौखिक रूप में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती रहती हैं, उनको हम न तो प्रकाशित ही करते हैं, न लिखितरूप में लेने का यत्न ही करते हैं। हम समझते हैं कि आजकल सम्मतियां कुछ पक्षपात से मुंहदेखी भी दी जाती हैं, या मिलती हैं। जिनके प्रभाव में आकर अयथार्थता भी प्रायः रहती है। लोग सम्मति देने पर अपना बहुत उपकार समझकर उसके प्रत्युपकार में बहुत कुछ आशा रखने लगते हैं। इन सब कारणों से हमारी रुचि प्रायः इधर से उदासीन ही रहती है। हम समझते हैं कि हमारा पढ़ा छात्र वा पठनार्थी ही हमारी इस पद्धति का प्रेमी वा सच्चा भक्त बन जाता है। हम चाहते हैं कि हमारे द्वारा पढ़ाये छात्रों वा प्रौढ़ पठनार्थियों को देखकर ही विद्वान् अपनी धारणा बनावें, और इस पद्धति का प्रचार करें। ताकि भारत में १० वर्षों में संस्कृत का नाद बज जावे। लगभग आधे तो संस्कृत पढ़नेवाले हो जावें!!! जो असम्भव नहीं।

---

१. इस पाठचक्रम को सरलतम विधि के द्वितीय भाग के रूप में मैंने लिखकर छपवा दिया है। यु० मी०

इन लेखों का आर्ष पाठविधि पर प्रभाव

हमारी दृष्टि में ये पाठ प्रौढ़ पठनार्थियों के लिए हैं। १६ वर्ष से कम आयुवालों को तो हम अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही अष्टाध्यायी महाभाष्य ३५ वर्ष से पढ़ाते चले आ रहे हैं, और इस समय भी पढ़ाते हैं। हमारे इन पाठों (वा पद्धति) का यह भी परिणाम हुआ है कि इन ३५ पाठों वा आगे के पाठों को हमारे ढंग से पढ़कर एक नहीं अनेकों प्रौढ़ पठनार्थी, जिनकी आयु २० और ५० वर्ष के बीच है, सम्पूर्ण अष्टाध्यायी हमारे बिना कहे अपने आप कण्ठ करके व्याकरण के बहुत योग्य विद्वान् बन रहे हैं, जिनको देखकर काशी के विद्वान् चकित हो रहे हैं। ऐसे अनेक पठनार्थी मेरे पास इस समय भी पढ़ रहे हैं।

आज तक २५ श्रेणियों में इस अष्टाध्यायी-पद्धति से स्वयं पढ़ाने पर किसी एक पठनार्थी नेभी कोई बाधा (निजी बाधा समय आदि को छोड़कर) वा त्रुटि नहीं दर्शाई।

एक-आध ध्वनि हम तक पहुंची कि आर्ष पाठविधि पर यह प्रहार है! सो इस विषय में हमारा नम्र निवेदन है कि ऐसे व्यक्ति (जो एक दो से अधिक नहीं) या तो आर्ष पाठविधि का क ख भी नहीं जानते, विद्वान् भले ही प्रसिद्ध हों, या फिर जानते हुए भी ईर्ष्या या द्वेषवश विरुद्ध भावना से अपने स्वभाव के वशीभूत होकर ऐसा अनर्गल कथन करते हैं। प्रभु हम सब की बुद्धियों को सुमार्ग में प्रेरित करें। हम इतना ही कहते हैं।

इस कार्य में ट्रस्ट का श्रेय

पाणिनि महाविद्यालय के इस पठन-पाठन, तथा इन पाठों के लिए और प्रकाशित किये जाने का (जहां-जहां पर भी यह कार्य हो रहा है) मुख्य श्रेय श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर के संचालकों को है, जिनके सहयोग से ही यह सब कार्य और ये सब पाठ जनता के सामने आ रहे हैं। तदनन्तर मित्रवर श्री पं० केदारनाथ जी शर्मा प्रधानमन्त्री काशी विद्वन्मण्डल, संस्कृतमहासम्मेलन तथा भारतीय संस्कृतमहासम्मेलन देहली, तथा काशी पण्डित सभा के अध्यक्ष मित्रवर श्री पं०गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी, तथा काशी के कतिपय अन्य विद्वानों को है, जिनमें प्रमुख महामहोपाध्याय काशीविद्वच्छिरोमणि पं०गिरधर शर्मा चतुर्वेद हैं॥

पौष शुक्ल १३, संवत् २०१२वि०
२६ जनवरी, सन् १९५६

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
अध्यक्ष--पाणिनि महाविद्यालय
मोतीझील, बनारस नं०६

तृतीय संस्करण

सर्वप्रथम ये पाठ 'वेदवाणी' मासिक पत्रिका में १९५५ में छपे थे। प्रथम संस्करण जनवरी १९५५ में छपा, जो मई १९५७ ई० में समाप्त हो गया। दूसरा परिवर्धित संस्करण[1] फरवरी ५८ में छप सका, जो सन् १९६१ ई० के अन्त में समाप्त हो गया। यह तीसरा परिवर्धित एवं परिष्कृत संस्करण सितम्बर१९६२में आरम्भ होकर नवम्बर१९६२ में पूरा हो पाया।

तृतीय संस्करण की विशेषतायें

(१) प्रथम संस्करण में ३५ पाठ थे, द्वितीय संस्करण में ४० किये गये। इस बार पाठों की संख्या ४४ तक पहुंच गई है। चार पाठ भू एध् की सिद्धि के बढ़ाये गये हैं, जिनके सूत्र यद्यपि 'लस्य' प्रकरण के सब सूत्र हैं, पर इस बार सिद्धि के क्रम से सब सूत्र दर्शा दिये गये हैं, ताकि पठनार्थी आख्यात-प्रकरण की मुख्य एवं आवश्यक सिद्धि को पूरी तरह समझलें।

(२) दो परिशिष्ट भी बढ़ाये गये हैं। प्रथम परिशिष्ट 'सन्धि का चित्र(चार्ट)' है, जिससे पठनार्थी को सन्धि का परिज्ञान तथा अभ्यास अद्भुत ढंग से हो जाता है, यह भी अनुभूत है। द्वितीय परिशिष्ट में अष्टाध्यायी के प्रकरणों का परिचय है, जिससे पठनार्थी को सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में मुख्य-मुख्य विषय कहां-कहां पर हैं, यह हृदयाङ्कित हो जाता है।

(३) पढ़ाने में सुगमता एवं उपयोग की दृष्टि से पाठों को इस संस्करण में आगे-पीछे किया गया है। जैसे — द्वितीय संस्करण में २३—२४ वें पाठ कारक (१) तथा (२) के दोनों पाठों को पहिले लेकर उन्हें १५ वां तथा १६ वां पाठ कर दिया गया है। आगे उन्तीसवें पाठ (समास) को सत्रहवां पाठ किया गया है। आगे संज्ञा-प्रकरण के दो पाठों (१५ वें तथा १६वें) की संख्या अब अठाहरवां तथा उन्नीसवां हो गई। आगे उन्तीसवें तक पाठों की संख्या बदल गई है। ३०वें पाठ से ३६ वें तक संख्या भी द्वितीय संस्करण जैसी ही है। आगे संख्या ३७-३८-३९-४० के पाठ नये बढ़ाये गये हैं। सो अन्त तक ४० के स्थान में ४४ संख्या हो गई है।

(४) अन्य बड़े-बड़े संशोधन इस प्रकार किये गये हैं—

(क) 'भवति' प्रकरण बारहवें पाठ में से ग्यारहवें के अन्त में रखा गया है। १२वें में दीव्यति के साथ तुदति सुनोति भी रखा है। १३ वें में

---

१. द्वितीय संस्करण की भूमिका में विशेष विषय न होने से उसे छोड़ दिया है।

तनोति, क्रीणाति, अत्ति, जुहोति रखा गया है। क्रीणाति क्रीणीतः आदि की पूरी सिद्धि भी दर्शा दी है। १४ वें में 'श्रेणी से किसको हटाना आवश्यक है?' सन्दर्भ इतना बढ़ाया गया। और भी कहीं-कहीं थोड़ा संशोधन किया गया है। पिछले संस्करण जिनके पास हैं, उनके परिज्ञानार्थ यह सब लिखा है।

(५) पृ० ८३ पर[1] '५—लेट् से आगे चालीसवां पाठ' भूल से छपना रह गया, उसे ठीक किया गया है। तदनुसार पृ० ८३ से ८८ तक[2] पाठों की संख्या छपने के पश्चात् बदलनी पड़ी है। सो भी पाठकों को विदित रहना चाहिये। तब मैं काशी से बाहिर डलहौजी (पंजाब) में था। पुस्तक छपने की शीघ्रता थी, जिससे पुस्तक पूरी छपने में एक मास का अन्तर पड़ गया। छपते समय मुद्रण-स्थान के पास में न रहने का यह परिणाम है।

(६) सब से बड़ी कठिनाई सूची बनाने की है। सारी सूची नई बनानी पड़ी। क्योंकि परिवर्द्धन में आये नये सूत्रों का समावेश करना अनिवार्य था। परिशिष्ट नं० २ सन्धि-चित्र में आये सूत्रों की सूची भी पृथक् रख दी है। रुग्णावस्था में ही डलहौजी (पंजाब) में यह करना पड़ा। ताकि पठनार्थियों को किसी प्रकार की कठिनाई न रहे। ऐसा अनुभव हुआ कि परिवर्तन-परिवर्द्धन करना स्वयं अपने शिर पर बला लेना है, सो कान को हाथ लगाया। आगे भविष्य का ज्ञाता परमेश्वर है। पुस्तक लिखना स्वयं एक बड़ा कठिन कार्य है। पं० विजयपाल जी, पुत्री प्रज्ञा (हमारे सहायकों) को भी पता लग गया कि परिवर्तन-परिवर्द्धन कितना कष्ट-साध्य होता है॥

अमृतसर १-११-६२ ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

षष्ठ संस्करण

चतुर्थ संस्करण गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् २०२५ में छपा था। उसमें ग्रन्थ के आकार-परिवर्तन के साथ ७वें पाठ में कुछ परिवर्द्धन किया था। यह संस्करण शीघ्रता में छपा था, प्रेस का भी आरम्भिक काल था। अतः उसमें कुछ अशुद्धियां रह गईं थीं। पांचवें संस्करण में ग्रन्थ को भली प्रकार परिष्कृत करने का यत्न किया था। उसी का यह पुनर्मुद्रण है। प्रेस की सामान्य अशुद्धियों को इस संस्करण में ठीक कर दिया है। अतः आशा है कि यह संस्करण पूर्वापेक्षया अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

कागज का मूल्य और छपाई या व्यय निरन्तर बढ़ते जाने से हमें न चाहते हुए भी इस बार पुनः मूल्य बढ़ाना पड़ा।

आषाढ़ संवत् २०३४ युधिष्ठिर मीमांसक

---

१. यह पृष्ठ-संख्या तृतीय संस्करणानुसारी है।
२. चतुर्थ सं० में पाठ-संख्या ठीक कर दी गई है।

महर्षि—पाणिनि—प्रशस्तिः

तपस्यता पाणिनिना महात्मना, क्रमोपनद्धं वटु-बुद्धि-वर्द्धकम् ।
समर्पितं व्याकृतिरत्नमद्भुतं, बहूपकारि क्व नु हापितं बुधैः ॥१॥
संख्याप्रधानं किल नाम संदधत्, स्वग्रन्थरत्नस्य स पाणिनिर्मुनिः ।
आसूसुचत् प्रक्रम-सूत्र-पाठनं, संख्याप्रबोधः कथमन्तरा क्रमम् ॥२॥
काठिन्यवृद्धिः क्रमसूत्रलोपाद् मेधाविलोपोऽपि च वृत्तिघोषात् ।
हा ! कौमुदीरीतिरभूतपूर्वा, महर्षिशिक्षोत्तमशस्यदूर्वा ॥३॥
क्रमोपबन्धेऽप्यथ लाघवे मुनेस्, तपःप्रकर्ष-प्रतिभा-प्रयावौ ।
विलोक्य मुग्धोऽस्मि च वक्तुमक्षमः, प्रशीलयन्तः प्रविदन्तु पण्डिताः ॥४॥
सदाध्येया सर्वैर्निगम-सदृशी पाणिनि-मुनेर्,
अहो अष्टाध्यायी झटिति पदबोध-प्रणयिनी ।
सुपूर्णा वैज्ञानी ध्रुवमतिशयाऽऽह्लादजननी,
स्वयं स्वार्थं ब्रूते क्रम-नियम-पाठेन सुगमा ॥५॥

महान् आत्मा महर्षि पाणिनि ने बालकों की बुद्धि बढ़ानेवाली, अत्यन्तोपकारी, क्रमबद्ध अष्टाध्यायीरूपी व्याकरण रत्न को बनाया था। खेद है कि पण्डितों ने इसे छोड़ दिया ॥१॥

महामुनि ने अष्टाध्यायी (आठ अध्याय, ३२ पादवाली) संख्याप्रधान ही अपने ग्रन्थ का नाम रखा। जिसका यही तात्पर्य है कि क्रम से ही पढ़ना चाहिये। क्योंकि बिना क्रम से पढ़े संख्या का ज्ञान हो ही नहीं सकता ॥२॥

वर्त्तमान कौमुदी-पद्धति ने सूत्रों का क्रम भंग करके कठिनता की चरम सीमा कर दी। [illegible] क्रमबद्ध अधिकार अनुवृत्ति से सूत्र का अर्थ न समझकर केवल वृत्ति [illegible] में (सूत्रार्थ) रटा-रटा कर छात्रों की मेधा (बुद्धि) का सर्वथा लोप कर दिया। जिससे यह कौमुदीपद्धति महर्षि की उत्तम खेती में दूभ (घास जो कठिनता से निकलती है) के समान खड़ी हो गयी, या संस्कृत के प्रवेश में लोहे की दीवार के समान खड़ी ही गई है। इसे अब स्वतन्त्र भारत में हटाना ही होगा ॥३॥

सूत्रों को क्रम से लिखने और अति संक्षिप्त करने में ही तो महर्षि पाणिनि की तपस्या और बुद्धि का वैभव सामने आता है। जिसे देखकर संसार चकित है। विद्वत्समाज तथा संस्कृत-छात्र-वर्ग इस अष्टाध्यायी का परिशीलन अवश्य करे ॥४॥

इसलिये हमारा सप्रेम-साग्रह निवेदन है कि निगम के समान क्रमानुपूर्वीयुक्त, अत्यन्त शीघ्र बोध करानेवाली, विज्ञान से परिपूर्ण, आनन्ददायिनी, क्रमपूर्वक पढ़ने वालों को स्वयं अर्थ का बोध करानेवाली अष्टाध्यायी ही सब को पढ़नी-पढ़ानी चाहिए ॥५॥

निवेदकः—

अध्यक्ष काशी पण्डित सभा, वाराणसी १ (गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी)

ओ३म्

संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि

बिना रटे ६ मास में अष्टाध्यायी-पद्धति से

संस्कृत-पठनपाठन का अद्‌भुत सफल प्रयोग

पाठों की भूमिका[1]

हम इससे पूर्व **'व्याकरणाध्ययनस्य सरलतम उपायः—अष्टाध्यायी-पद्धतेः समाश्रयणम्'** नामक लघुनिबन्ध में संस्कृत में इस विषय पर अपने विचार प्रकाशित कर चुके हैं। हम अपने विचार यहां पर भी संस्कृत में ही लिखना चाहते थे, पर संस्कृताध्येता तथा अष्टाध्यायीप्रेमी प्रायः सभी सज्जनों के आग्रहवश आर्यभाषा में ही उपस्थित कर रहे हैं।

आर्य-सनातन-वैदिकधर्मियों का सम्पूर्ण वाङ्मय मूलरूप से देववाणी (संस्कृत) में ही है। हम भारतीयों के लिये वेद सर्वोपरि हैं। शाखा-उपवेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-वेदाङ्ग-उपाङ्ग-साहित्य-आयुर्वेद-विज्ञान-गणित-महाभारत रामायण-गीता आदि ऋषि-मुनि-आचार्यों के बनाये सभी ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। भारतीय-संस्कृति-सभ्यता-साहित्य, और भारतीय परम्परा का सब कुछ इसी संस्कृत (देव) भाषा में है। कहां तक कहें, हम भारतीयों का जो गौरव सर्वस्व है, वह सब कुछ संस्कृतभाषा में ही निहित है।

मानव धर्मशास्त्र में लिखा है—

> **सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।**
> **सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति** ।।मनु० १२।१००।।

---

१. पाठ आरम्भ करने से पूर्व यह भूमिका अवश्य पढ़ लेनी चाहिये।

अर्थात् सेनापतित्व राज्य-दण्ड वा सेना के संचालन की व्यवस्था वेद-शास्त्रवेत्ता ही कर सकता है। इन सब दृष्टियों से, तथा संसार की समस्त भाषाओं की जननी तथा सब प्राचीन होने से स्वतन्त्र भारत में संस्कृत-भाषा का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। अतः संस्कृत का पठन-पाठन अब भारतीयों के लिये अनिवार्यसा हो रहा है।

दैवदुर्विपाक से लगभग पन्द्रह सौ १५०० वर्षों से संस्कृत वाङ्मय की प्रगति अवरुद्ध हो गई है। और विदेशी आक्रमणों, मुस्लिम तथा अंग्रेजी शासन के प्रभाव, तथा देशकाल की परिस्थिति के कारण संस्कृत के पाठ्य-क्रम की शृंखला विच्छिन्न हो गई, और इसका क्षेत्र संकुचित हो गया।

स्वाधीन भारत में लोगों ने संस्कृत की ओर अभिरुचि प्रेम और उत्साह का प्रदर्शन तो किया है, परन्तु प्राचीन प्रणाली की शृंखला टूट जाने के कारण उसकी कठिनता और उसके व्याकरण की दुरूहता से लोग निरुत्साहित से हो जाते हैं। वास्तव में संस्कृतभाषा इतनी दुर्गम और इस का व्याकरण इतना दुरूह वा जटिल नहीं है, जैसा कि समझा जाता है। संस्कृत में लिखे बौद्ध वाङ्मय को पढ़ने के लिये आनेवाले अनेक विदेशी यात्रियों तक ने इस भाषा का पूर्ण अध्ययन इसके व्याकरण द्वारा ही किया था। उन्होंने तत्कालीन संस्कृत-व्याकरण की अध्ययन-अध्यापन-पद्धति का यत्र तत्र उल्लेख भी किया है। (देखो—सप्तम शताब्दी के चीनी यात्री इत्सिङ्ग की भारतयात्रा, पृष्ठ ३६४ से ३७०)।

जनता वा देश की संस्कृत के प्रति भावना को संभालने की आवश्य-कता है। ठीक व्यवस्था न हो सकने से कहीं यह उबाल उठकर ही समाप्त न हो जावे। इस भावना को लेकर संस्कृत, विशेषकर उसके व्याकरण को अत्यन्त सरल बनाने की आवश्यकता है। इसके लिये हमारा दृढ़ मत ही नहीं, अपितु चालीस वर्ष के अष्टाध्यायी कण्ठ कराकर पढ़ाने के अनुभव, तथा गत कुछ वर्षों से बिना रटे छः मास में संस्कृत-व्याकरण का आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान कराने के स्वानुभूत प्रयोग के आधार पर, हम सब से अधिक सुगमता के लिये पाणिनीय अष्टाध्यायी का नाम उपस्थित करते हैं।

महामुनि आचार्य पाणिनि का महत्त्व

महर्षि पाणिनि न केवल शब्द-शास्त्र के ही ऋषि (साक्षात्कर्त्ता) थे, अपितु सम्पूर्ण वैदिक लौकिक वाङ्मय में उनकी अव्याहतगति थी, ऐसा सभी लोग मानते हैं। वैदिक बाङ्मय के विषय में उनकी बनाई अष्टाध्यायी

में अनेक बहुमूल्य निर्देश जहां-तहां मिलते हैं। भूगोल-इतिहास-मुद्राशास्त्र तथा लोकव्यवहार विषयों के भी वे महान् वेत्ता थे। यह अष्टाध्यायी केवल व्याकरण के नियमों (फारमूलों) को ही बतानेवाली नहीं, अपितु प्राचीन भूगोल इतिहास आदि विषयों के ज्ञान के लिये भी इस शास्त्र की अद्भुत महिमा और महान् उपयोग को विद्वान् लोग अनुभव करते हैं।[1]

१—**महर्षि पतञ्जलि** ने अपने **महाभाष्य** (१, १ पृ० १३४ बम्बई संस्करण) में लिखा—**'तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण'** अर्थात् पाणिनि का एक अक्षर भी व्यर्थ नहीं, सूत्र का तो कहना ही क्या।

२—चीनी यात्री **ह्यूनसाङ्ग** लिखता है—'ऋषि ने पूर्ण मन से शब्द-भण्डार से शब्द चुनने आरम्भ किये, और १००० दोहों में सारी व्युत्पत्ति रची। प्रत्येक दोहा ३२ अक्षरों का था।[2] इसमें प्राचीन तथा नवीन सम्पूर्ण लिखित ज्ञान समाप्त हो गया। शब्द और अक्षर-विषयक कोई भी बात छूटने नहीं पाई' (ह्यूनसांग वर्क्स का अनुवाद, पृ० २२१)।

३—**प्रो० मोनियर विलियम**—'संस्कृत-व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रखा'।

४—**सर डब्ल्यू हण्टर**—'संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषा का धात्वन्वय-सिद्धान्त और प्रयोग-विधियां अद्वितीय एवं अपूर्व हैं .... यह मानव [illegible] अत्यन्त महत्वपूर्ण आविष्कार है।

५—**लेनिनग्राड के प्रो० टी० शेरवात्सकी**—'इन्सानी दिमाग की सब से बड़ी रचनाओं में से एक।'

---

१. इसके लिये देखिये—श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'पाणिनिकालीन भारत-वर्ष' ग्रन्थ।

२. इसका यह अभिप्राय नहीं कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी श्लोकों में रची थी। किसी भी ग्रन्थ का परिमाण बताने के लिये यह भारतीय प्राचीन परिपाटी है कि उस ग्रन्थ के अक्षरों की गिनती कर ली जाए। और उसमें ३२ का भाग देकर जो संख्या भागफल के रूप में प्राप्त हो, उतने श्लोक परिमाणवाला वह ग्रन्थ होता है। इसी नियम के अनुसार अष्टाध्यायी का परिमाण १००० अनुष्टुप् श्लोक के बराबर समझना चाहिये। अर्थात् इसमें लगभग १०००×३२=३२००० अक्षर हैं, ऐसा जानना चाहिये।

पाणिनि तथा उसकी अष्टाध्यायी के प्रति संसार के विद्वानों की कितनी उत्कृष्ट भावना है, यह पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

अष्टाध्यायी के पठनपाठन की प्राचीनता

विक्रमी संवत् ११४० से पूर्व अष्टाध्यायी-क्रम का परित्याग करके प्रक्रिया-ग्रन्थ बनने का पता नहीं मिलता। उस समय तक अष्टाध्यायीक्रम से ही पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन होता था। सन् ६८१ से ६९१ तक भारत में रहनेवाले चीनी यात्री 'इत्सिङ्ग' का कहना है—

(१) 'आजकल भारतवासियों का इस अष्टाध्यायी में विश्वास है। बच्चे ८ वर्ष की आयु में इस (पाणिनीय) सूत्र-पाठ को सीखना आरम्भ करते हैं, और आठ मास में इसे कण्ठस्थ करते हैं' (इत्सिङ्ग की भारतयात्रा, पृष्ठ २५४)।

(२) 'पन्द्रह वर्ष के लड़के इस वृत्ति (काशिकावृत्ति=अष्टाध्यायी की क्रमशः व्याख्या) को पढ़ना आरम्भ करते हैं, और पांच ५ वर्ष में इसे समझ लेत हैं' (पृष्ठ २६८)।

(३) 'इस वृत्ति के अध्ययन कर चुकने के पश्चात् विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना सीखना आरम्भ करते हैं।'

(४) 'प्रौढ विद्यार्थी उसे (=चूर्णिका अर्थात् महाभाष्य को) ३ वर्ष में सीख लेते हैं' (पृष्ठ २७३)।

११वीं शताब्दी से पूर्व जितने भी नवीन व्याकरण-ग्रन्थ रचे गए, वे सब पाणिनीय व्याकरण के अनुसार ही प्रकरणानुसारी बने। शब्दसिद्धि की प्रक्रिया के अनुसार व्याकरण की रचना नहीं हुई (जैसी कि सिद्धान्तकौमुदी, हैमशब्दानुशासन और मुग्धबोधादि की है)।

इससे यह बात प्रत्यक्ष है कि ११वीं शताब्दी से पूर्व के सभी वैयाकरण अष्टाध्यायी के प्रकरणानुसारी क्रम से ही व्याकरणाध्ययन में सुगमता समझते रहे। इसी लिए शब्दसिद्धि की प्रक्रियानुसार ग्रन्थ की रचना इस काल तक नहीं हुई।

प्रक्रिया-ग्रन्थ

प्रक्रिया-ग्रन्थों में इस समय समस्त भारत में भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी (संवत् १५७० से. १६५० विक्रमी) सर्वोपरि मानी और पढ़ाई

जाती है। इसका आधार प्रक्रिया-कौमुदी ग्रन्थ वि० सं० १४८० रचित है। इससे पूर्व संवत् ११४० में सर्वप्रथम, बौद्धभिक्षु धर्मकीर्ति ने अष्टाध्यायी-क्रम को तोड़कर प्रक्रियाक्रम से 'रूपावतार' नामक ग्रन्थ बनाया। इससे पूर्व किसी प्रक्रिया ग्रन्थ का पता नहीं चलता। सिद्धान्तकौमुदी की कठिनता को दूर करने के विचार से मध्यकौमुदी (२२१७ सूत्रयुक्त) और लघुकौमुदी (१२८८ सूत्रयुक्त) की रचना १८वीं शताब्दी में हुई।

व्याकरण की सरलता का स्वानुभव

सन् १९२० से सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होने पर ही छात्रों को हम प्रथमावृत्ति (पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण सिद्धि सहित) पढ़ाते चले आ रहे हैं। सन् १९३९ में लाहौर(रावी तट पर) विरजानन्द आश्रम में हैदराबाद सत्याग्रह के समय, जबकि हमारे छात्र सत्याग्रह में गए हुए थे, एक घटना घटी। संस्कृतभाषा से सर्वथा अनभिज्ञ कुछ पुत्रियों को संस्कृत का आरम्भिक ज्ञान कराने और करवाने का कार्य करना पड़ा। मन में यह विचारा कि ये पुत्रियां अष्टाध्यायी तो कण्ठस्थ कर नहीं सकतीं, अतः इनको किसी अन्य ढ़ंग से पढ़ाया जा सकता है, या नहीं? सो उन्हें अष्टाध्यायी मूल हाथ में देकर विना रटे समझाने का क्रम प्रारम्भ किया गया। वे हिन्दी में प्रभाकर पास थीं। १८ दिन में अष्टाध्यायी के लगभग ३५० सूत्र अर्थ-उदाहरण-सिद्धि सहित समझ गईं। संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ होने पर भी ये १० दस मास में पंजाब यूनिवर्सिटी की विशारद परीक्षा सब विषय लेकर उत्तीर्ण हुईं, और आगे ७ मास में उन्होंने उक्त विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा पास कर ली। शास्त्री परीक्षा में वेद-निरुक्त संस्कृतसाहित्य के ग्रन्थ, महाभाष्य (कुछ अंश), दर्शन में सांख्य योग (सभाष्य), अनुवाद तथा निबन्धादि विषय रहते हैं। जिनमें सामान्यतया कम से कम ६-७ वर्ष लगते हैं। इतना विषय १॥ वर्ष में हो सकता है, इसका सामान्य लोगों को विश्वास भी नहीं होता, पर यह बात देखी-सुनी नहीं, अपितु प्रत्यक्ष और स्वानुभूत है।

कन्याएं ही ऐसा कर सकती हैं, लड़के नहीं कर सकते, यह बात १० वर्ष तक मेरे मन में बैठी रही। उपर्युक्त कन्याओं के एक भाई ने, जिसको सब अल्पबुद्धि बताते थे, सवा दो मास में अष्टाध्यायी के लगभग ६०० सूत्र अर्थोदाहरण सिद्धि सहित याद करके मेरी उक्त धारणा सदा के लिये बदल दी। इधर सन् ५२ से सुलतानपुर (अवध) में, सुप्रभात कार्यालय (लाहौरी

टोला) काशी, तथा पाणिनि महाविद्यालय मोतीझील बनारस, आर्यसमाज करौल बाग, तथा आर्यसमाज हनुमान् मार्ग देहली में पाणिनि महाविद्यालय की श्रेणियां चलती रहीं, जिनमें गत कई वर्षों से बहुत संख्या में आनेवाले प्रौढ़ पठनार्थियों को पढ़ाया गया। जिनमें एम०ए०, पीएच०डी०, साहित्याचार्य, बी० ए०, एफ० ए०, मैट्रिक, मिडिल पास तथा हिन्दी पढ़े थे। इन सबको पढ़ाने से अनुभव हो चुका है कि विना रटे संस्कृत सिखाने के लिये मूल अष्टाध्यायी परम सहायक है, पढ़ानेवाले चाहिएं। छः मास में संस्कृत से अनभिज्ञ को संस्कृत का आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान हो जाता है, जिसे देखकर काशी तथा अन्यत्र के बड़े-बड़े विद्वान् आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

संस्कृताध्ययन से लोग भाग क्यों जाते हैं

व्याकरण के विना संस्कृत-भाषा में प्रवेश या उस पर अधिकार नहीं होता, किन्तु लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी और सिद्धान्त-कौमुदी ग्रन्थ संस्कृत के पठन-पाठन और उसके प्रचार में दीवारसी खड़े हो गए हैं। जो कोई भी (चाहे वह २० वर्ष का हो, या ८० वर्ष का) संस्कृत पढ़ना आरम्भ करता है, उसको लघुकौमुदी के विना समझाए सूत्र ही नहीं, अपितु सूत्रों से चौगुने अर्थ भी रटने के लिए बाधित किया जाता है। बड़ी आयु में रटना हो नहीं पाता, इस बात पर आज का पण्डित-समुदाय रत्तीभर भी ध्यान नहीं देता। 'एक ही रस्सी से सब को फांसी' दे दी जाती है। परिणामतः अत्यन्त श्रद्धा से आया हुआ पठनार्थी भी कुछ दिनों में ही, या अधिक से अधिक १-२ सप्ताह में संस्कृत पढ़ने से भाग जाता है, और फिर आयुभर कभी संस्कृत पढ़ने का नाम नहीं लेता। स्कूल में भी रहकर जिसने संस्कृत पढ़ी होती है, वह अपने पुत्र-पुत्रियों को कहता है कि– बेटा! बेटी!! तुम संस्कृत मत पढ़ना, यह कठिन विद्या है, यह बहुत खराब है'। इस बेढ़ंगे ढग से पढ़ाने के कारण संस्कृत के प्रचार में महान् धक्का लग जाता है। इस सबका एक मात्र यही उपाय है कि इस प्रचलित कौमुदीक्रम को अब सर्वथा तिलाञ्जलि दी जावे। और इस अष्टाध्यायीक्रम से पढ़ानेवाले अध्यापक समस्त भारत में तैयार किये जावें। सो ५ वर्ष में समस्त भारत के लिये पर्याप्त हो सकते हैं, यदि अष्टाध्यायी कण्ठ किये प्रत्येक शास्त्री वा आचार्य को ६ मास में पढ़ाने का शिक्षण(ट्रेनिङ्ग) दिया जावे। बनारस-लखनऊ-देहली आदि बड़े-बड़े नगरों में यह ट्रेनिङ्ग श्रेणियां खोली जावें। अधिक संख्या में अध्यापक कैसे तैयार हो सकते हैं, इस पर हमने आगे विशेष विचार किया है।

अष्टाध्यायी-क्रम की विशेषता

इस क्रम में रहस्य या विशेषता क्या है, यह जिज्ञासा उत्पन्न होनी स्वाभाविक है, सो कुछ लिखते हैं—

(१) पढ़ानेवाले को मूल अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो, बस सब से मुख्य रहस्यमय बात यही है। किसी भी सूत्र का अर्थ करने के लिये अधिकार और अनुवृत्ति से आनेवाले पदों को उस सूत्र के आगे बिठाकर, पीछे उन्हीं शब्दों को एक अन्वित व्यवस्था से बिठा देने, और अन्त में '**भवति, स्यात् भवेत्, भविष्यति**' आदि में से किसी भी क्रियावाची पद के रख देने से सूत्र का अर्थ बिना किसी कठिनाई के बन जाता है। जैसे '**वर्त्तमाने लट्** (अ० ३।२।१२३) के आगे **प्रत्ययः परश्च** (अ० ३।१।१,२) तथा **धातोः** (अ० ३।१।९१) के आकर बैठने से **वर्त्तमाने लट्, प्रत्ययः परश्च धातोः**, ऐसा क्रम बन गया। आगे '**भवति, स्यात्, भवेत्**' में से कोई क्रिया लगा दें। सूत्र का अर्थ सूत्र से ही बन गया—'**धातोः वर्त्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च भवति।**' आरम्भ में ही लाल पैन्सिल से मुख्य-मुख्य १०-१२ अधिकार और अनुवृत्ति पर उलटा और सुलटा कामा (‘’)लगवा देना चाहिये। और वह अधिकार वा अनुवृत्ति कहां तक जाती है, यह बता देना चाहिये। इससे पठनार्थी झट समझ लेगा कि इस अंश का यहां तक अधिकार जायेगा।

(२) इधर लघु-मध्य-सिद्धान्तकौमुदीवाले को उसके सूत्र और उससे चौगुनी वृत्ति अर्थात् संस्कृत या भाषा के अर्थ को रटना ही पड़ेगा, और कोई उपाय है ही नहीं। क्योंकि जब तक उसकी बुद्धि में यह न बैठ जाये कि अर्थ बना कैसे, तब तक बुद्धि या स्मृति उस सूत्र के अर्थ को कदापि नहीं पकड़ सकती। क्योंकि वृत्ति के अनेक शब्द मूल सूत्रों में तो हैं नहीं, बिना समझे जबर्दस्ती (बलात्) से घोका (रटा) हुआ अर्थ एक दो दिन छोड़ देने से ही बुद्धि से उतर जायेगा। कौमुदी पढ़ा, बिना अष्टाध्यायी के यह नहीं बता सकता कि सूत्र का यह अर्थ बन कैसे गया ? यह बात अष्टाध्यायी पढ़नेवाला अष्टाध्यायी के सहारे से बता सकता है।

(३) अष्टाध्यायी जिसे सम्पूर्ण कण्ठस्थ है, हमारी अष्टाध्यायी की प्रक्रिया में सर्वतोमुख्य पढ़ने का पात्र वही है। वह ४-५ वर्ष में अष्टाध्यायी और सम्पूर्ण महाभाष्य पढ़कर व्याकरण का पूरा विद्वान् बन सकता है, जबकि कौमुदी की प्रक्रिया से १२ वर्ष में भी नहीं हो पाता। यह विद्वानों के स्वानुभव का गम्भीर विषय है।

(४) जो इतना समय नहीं लगा सकते, प्रतिदिन भी जिनके पास अधिक समय नहीं है, जो बड़ी आयु के हैं, रट नहीं सकते, क्या वे अब इस जन्म में संस्कृत सीख ही नहीं सकते ? ऐसे सज्जनों के लिये भी हम अपने अनुभव से कहते हैं कि इनके लिये भी अष्टाध्यायी-क्रम ही सरलतम उपाय है। वह इस प्रकार कि प्रौढ़ पठनार्थी अष्टाध्यायी के सूत्रों को बिना रटे पढ़ते समय ही बुद्धि में समझकर बिठा लेते हैं। उन सूत्रों के अर्थ पठनार्थियों की बुद्धि में सरलता से बैठ जाते हैं, इसलिये वह भूलते ही नहीं। अधिकार सूत्रों पर आरम्भ और समाप्ति में उलटे और सीधे लाल पैन्सिल से कामा, तथा समझे हुए सूत्रों के नीचे लाल पैन्सिल से चिह्न कर देने से वे सूत्र बार बार स्मृति में आते रहते हैं। और चिह्न लगा होने से अनायस सामने आते रहते हैं, और प्रौढ़ पठनार्थी का उत्साह बढ़ता रहता है कि मैंने इतने सूत्र समझ लिये।

(५) यह न समझना चाहिये कि अष्टाध्यायी में सब सूत्र अस्त-व्यस्त बिखरे हुए पड़े हैं, इनमें क्रमबद्धता नहीं है। इसके विपरीत अष्टाध्यायी में सब प्रकरण वैज्ञानिक ढंग से और परस्पर सुसंबद्ध हैं। अतः उन प्रकरणों के सूत्रों और उनके अर्थ का ज्ञान बहुत ही शीघ्र और अनायस हो जाता है। सर्वनाम-इत्संज्ञा-आत्मनेपद-परस्मैपद-कारक-विभक्ति-समास-द्विर्वचन-सन्धि-सेट्-अनिट् आदि प्रकरणों के सूत्रों के एक साथ होने के कारण सूत्रों का परस्पर सम्बन्ध और अर्थ तत्काल समझ में आ जाता है। इनमें व्यतिक्रम हो जाने के कारण सूत्रों का परस्पर सम्बन्ध और अर्थ कौमुदीवालों को निस्सन्दिग्ध वा स्पष्ट हो ही नहीं सकता। इन प्रकरणों से अतिरिक्त केवल सुबन्त और तिङन्त दो विषय बचते हैं, जिन्हें सामान्य बुद्धि से देखने पर प्रतीत होने लगता है कि ये दो प्रकरण अस्त-व्यस्त हैं। पर गहरी दृष्टि से देखने पर ये दोनों प्रकरण भी क्रमबद्ध ही हैं, यह समझ में आ जाता है। इस विषय का विवेचन हम यथासम्भव आगे करेंगे।

(६) **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** (अ० १।४।२); **'असिद्धवदत्राभात्'** (अ० ६।४।२२), तथा **'पूर्वत्रासिद्धम्'** (अ० ८।२।१) इन सूत्रों में पूर्वापर का विचार ही मुख्य विषय है। जिसे अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़नेवाला ही निःसन्देह समझ सकता है, कौमुदी पढ़नेवाला कदापि नहीं। क्योंकि उसमें इन नियमों के विषयभूत सब सूत्र क्रम से हैं ही नहीं।

इन कारणों से हम कहते हैं, और प्रायः सभी का अनुभव है कि कौमुदी-

क्रम से पढ़नेवाले छात्रों का विना पूर्वापर समझे रटा हुआ अर्थ (वृत्ति) कदापि स्मृति-पथ पर स्थायी नहीं रह सकता। कहना यह है कि सूत्रों का पूर्वापर सम्बन्ध स्मृति की स्थिरता में बहुत सीमा तक सहायक है।

(७) किस सूत्र की प्राप्ति में दूसरा सूत्र कहा गया, यह बात कौमुदी पढ़नेवाला नहीं समझ सकता, क्योंकि उसमें सूत्र पास-पास हैं नहीं, पता कैसे लगे ? अष्टाध्यायीवाले को तत्काल पता लग जायेगा। जैसे '**हलन्त्यम्** (अ० १।३।३) सूत्र से औट् के ट् हल् की इत्संज्ञा तो हो गई, किन्तु जब छात्र यह पूछता है कि जस् के स् की और अम् के म् की '**हलन्त्यम्**' सूत्र से इत्संज्ञा क्यों नहीं होती, उस समय कौमुदी पढ़नेवाला चुप हो जाता है, इसको मना करनेवाला न **विभक्तौ तुस्माः** (अ० १।३।४) सूत्र कौमुदी में बहुत दूरी पर है, अर्थात् हलन्त्यन् की सं० १ है और '**न विभक्तौ तुस्माः**' की संख्या १९०है। कौमुदी पढ़नेवाला 'दोनों सूत्रों के सम्बन्ध को प्रथम तो समझ ही नहीं सकता, यदि समझेगा तो बहुत परिश्रम और काल के पश्चात्। दूसरी ओर अष्टाध्यायी में '**हलन्त्यम्**' और '**न विभक्तौ तुस्माः**' ऊपर नीचे हैं, अतः अष्टाध्यायी पढ़नेवाला छात्र विना कुछ भी कठिनाई वा परिश्रम के तत्काल ही कह देगा कि जस् के स् और अम् के म् की इत्संज्ञा क्यों नहीं होती, और किस सूत्र से। हमें उस समय अत्यन्त आश्चर्य हुआ, जब हमने कई मध्यमा और शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण छात्रों से प्रेमपूर्वक कई व्यक्तियों के सामने पूछा कि जस् के स् और अम् के म् की इत्संज्ञा हलन्त्यम् से क्यों नहीं होती, इसका उत्तर वे लोग न दे सके। तब हमें प्रत्यक्ष हुआ कि अष्टाध्यायी-क्रम कितना महान् उपकारक है। हमें उन छात्रों पर बड़ी दया आई कि इन छात्रों का क्या दोष है ? १९० सूत्रों के पश्चात् आनेवाला सूत्र, जिसके क्रम को पढ़ानेवाला भी नहीं जानता, वह कैसे बतावे। यह सब कौमुदी के क्रम का महान् दोष है।

(८) कौमुदी पढ़नेवाला '**इको यणचि**' (अ० ६।१।७४) का विना समझे रटा हुआ उदाहरण '**सुद्ध्युपास्यः**', तथा '**आद् गुणः**' (अ० ६।१।८४) का '**दिनेश**' एक ही उदाहरण बोलेगा। हमारा छात्र '**दद्ध्यत्र सूर्योदय**' आदि अनेक उदाहरण तत्काल बनाकर भी बोल देगा। कौमुदी पढ़नेवाला रटन्त के आश्रय रहेगा, और अष्टाध्यायी पढ़नेवाला समझ के आश्रय पर। कौमुदी में शब्द-सिद्धि को इतनी प्रधानता दे दी गई है कि शास्त्र के व्यापक स्वरूप का दिग्दर्शन भी नहीं हो सकता। किसी सूत्र का उदाहरण पूछा जावे तो वह कुछ नहीं बता सकता, अमुक सूत्र किस प्रयोग में लगाया गया है, यह भले ही बता दे। इस प्रकार छात्र की बुद्धि उतने हो प्रयोगों तक

सीमित रह जाती है जिनको लक्ष्य रखकर सूत्र लगाए गए हैं। अष्टाध्यायी पढ़नेवाले का ज्ञान किन्हीं कतिपय प्रयोगों तक सीमित न रह कर व्यापक होता है, अर्थात् अष्टाध्यायीक्रम में सूत्रों की प्रधानता होती है प्रयोगों की नहीं। प्रयोगों की कल्पना वह सूत्रों के आधार पर स्वयं करता है। सैकड़ों प्रयोगों (उदाहरणों) की कल्पना वह त् तत् सूत्रों के आधार पर स्वयं कर सकता ह।

(९) **लेट् लकार** के रूप कौमुदीवाला नहीं बता सकेगा। अष्टाध्यायी-वाले से दो हजार धातुओं में से किसी भी धातु के लेट् लकार में रूप पूछ लो (हम लेट् लकार एक दिन में ही समझा देते हैं)।

इत्यादि बहुत से गुण व विशेषतायें अष्टाध्यायी-क्रम से पढ़ने में हैं। यहां अतिसंक्षेप से इतना ही लिखना पर्याप्त होगा॥

संस्कृत पढ़नेवालों की श्रेणियां

अब हम संस्कृत और उसका व्याकरण कैसे पढ़ना और पढ़ाना चाहिये, इस विषय में अति संक्षेप से लिखते हैं। सब से प्रथम हम संस्कृत पढ़नेवालों के भेद पर विचार करते हैं—

(१) **प्रथम श्रेणी**—सर्वप्रथम वा सब से मुख्य श्रेणी वह है, जो ८ वर्ष की आयु से १५ वर्ष की आयु तक के छात्रों की है। ये ८ से १५ वर्ष की आयुवाले छात्र मूल अष्टाध्यायी ६, ७ मास में कण्ठस्थ कर ४, ५ वर्ष में अष्टाध्यायी और सम्पूर्ण महाभाष्य पढ़ सकते हैं। हिन्दी की ५-६ श्रेणी की योग्यता पहले होनी चाहिये, चाहे वह जिस तरह से हो, तभी अष्टा-ध्यायी प्रारम्भ करनी चाहिये। हम इस श्रेणी को ४०-४५ वर्ष से अष्टा-ध्यायीक्रम से पढ़ाते आ रहे हैं। ५ वर्ष में इनका अष्टाध्यायी महाभाष्य सम्पूर्ण हो जाता है। इतना ध्यान रहे कि व्याकरण विषय के विशेषज्ञ बनने के लिये आगे पढ़ते हुए व्याकरण के अन्य सभी ग्रन्थों का तुलनात्मक अनुशीलन वा विचार करने में कोई हानि नहीं। विशेषज्ञ बननेवाले को तो सभी ग्रन्थों पर परिश्रम, चाहे स्वयं, चाहे दूसरों की सहायता से करना उचित ही है। सिद्धान्तकामुदीक्रम से पढ़नेवाले अष्टाध्यायी महाभाष्य की प्रक्रिया का अनुशीलन किये बिना व्याकरण विषय के विशेषज्ञ नहीं बन सकते।

संस्कृत पढ़नेवालों के भेद बहुत से हैं, जिनके विषय में हम अधिक प्रकाश आगे डालेंगे। यहां पर इतना ही कहना चाहते हैं कि प्रथम श्रेणी में

हम ८ से १५ वर्ष की आयु तक के बालक-बालिकाओं को ही समझते हैं, जिन्हें हम अष्टाध्यायी धातुपाठ-निघण्टु मूल दर्शन तथा वेद आदि कण्ठस्थ (वह भी ऐसे ढंग से जिससे कि उनके स्वास्थ्य,बुद्धि,स्मृति,शक्ति आदि पर बुरा प्रभाव न पड़े, हंसते हंसते खेल-कूद में उन्हें कण्ठस्थ कराते चलें)कराते हुए वेद-वेदाङ्ग उपाङ्ग आदि के विद्वान् बनाते हैं, जो भारतीय संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के प्राणरूप हैं। इन्हीं की अधिकता होने से भारत देश सच्चा भारत बन सकेगा। इसके विषय में हम आगे लिखेंगे। अब यहां पर पहले प्रौढ़ पठनार्थियों की श्रेणी के पाठ्यक्रम पर विचार प्रस्तुत करेंगे।

(२) **दूसरी श्रेणी**—प्रौढ़ों (=बड़ी आयुवालों) की है, जो १६ वर्ष से ऊपर २५, ४०, ६०, ८० तक किसी भी आयु के हों, जिन्हें हिन्दी का ज्ञान है, और मिडिल-मैट्रिक-रत्न-भूषण-प्रभाकर, एफ०ए०, बी० ए०, एम०ए०, वकील-डाक्टर-क्लर्क-व्यापारी-अध्यापक-प्रोफेसर आदि हैं, जो किन्हीं भी कारणों से संस्कृत नहीं पढ़ सके हैं, अब पढ़ने की प्रबल इच्छा है, रट नहीं सकते, विना रटे संस्कृत पढ़ना चाहते हैं, जो स्कूल में पढ़ाते हुए या अन्य लौकिक व्यवसाय वा नौकरी करते हुए, प्रातः सायं स्वल्प समय निकालकर संस्कृत का आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान करना चाहते हैं। इन्हें हम दूसरी (प्रौढ़) श्रेणी में गिनते हैं।

(३) **तीसरी श्रेणी**—प्रसंगतः हम तीसरी श्रेणी के विषय में (जो स्कूल में संस्कृत पढ़ते हैं) कुछ लिखकर अपना अनुभव दर्शाते हैं। आगे पुनः प्रौढ़ श्रेणी के विषय में ही लिखेंगे।

स्कूलों में अष्टाध्यायी-पद्धति का स्वानुभव

स्कूलों में पढ़नेवाले बालक-बालिकाओं को अन्य विषयों के साथ संस्कृत का विषय पढ़ाया जाता है। किन्हीं-किन्हीं प्रान्तों में संस्कृत अनिवार्य भी कर दी गई है। हम अपने स्कूल-समय के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कह सकते हैं कि स्कूलों में भी बुरी तरह रटाया जाता है, फिर भी स्कूलों का रटना कौमुदीवालों की रटन्त-पद्धति से सरल कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें कुछ समझाया तो जाता है। हमारा विचार है कि बाल्य अवस्था में अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति तो भारत के प्रत्येक बालक-बालिका को अवश्य पढ़ाई जानी चाहिये। जो मिडिल वा मैट्रिक तथा अन्य विषयों के साथ-साथ बहुत उत्तम रीति से हो सकती है। आरम्भ काल में तो यहां तक होता रहा कि डी० ए० वी० हाई स्कूल लाहौर में स्व० महात्मा हंसराजजी की प्रेरणा से अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति पढ़ाई जाती रही। अब पाश्चात्य

प्रभाव तथा जीविका की प्रधानता हो जाने के कारण बहुत शैथिल्य आ चुका है। सुलतानपुर (अवध) में हमारे एक शिष्य अष्टाध्यायी-महाभाष्य-निरुक्तादि के विद्वान् पं० देवप्रकाश पातञ्जल व्याकरण-निरुक्ताचार्य एम.ए. द्वारा हमारे निरीक्षण में एक हाईस्कूल खोला गया, जिसमें छात्रों को दो वर्ष में ९-१० श्रेणी की पढ़ाई के साथ-साथ अष्टाध्यायी-पद्धति से संस्कृत का अध्ययन कराया गया। उधर उतने ही काल में ६-७-८ श्रेणी में भी अष्टाध्यायी-पद्धति से ही संस्कृत पढ़ाई गई। १९५४ की परीक्षा में २४ में से १८ अर्थात् ७५ प्रतिशत परिणाम रहा, जो सुलतानपुर के किसी स्कूल में नहीं रहा। उक्त छात्रों में से ५ छात्रों ने संस्कृत में विशेष योग्यता के अङ्क प्राप्त किये।[1] कुछ छात्रों ने उसी समय में पढ़कर काशी की पूर्वमध्यमा की परीक्षा (३ वर्ष की पढ़ाई) दी। आर्थिक कठिनाई के कारण, तथा आचार्य द्वारा पढ़ाई भी पूरी न हो सकने के कारण (विवशता से अन्य कार्यों में समय लगाने के कारण) ये छात्र उतीर्ण नहीं हो पाए, जो अच्छी तरह उत्तीर्ण हो सकते थे। यहां इतना तो अनुभव हो गया कि यदि आर्थिक प्रबन्ध ५ वर्ष के लिये निश्चिन्तता से हो सके, तो मिडिल तथा हाईस्कूल की श्रेणियों के साथ-साथ अष्टाध्यायी-पद्धति म संस्कृत-व्याकरण का आवश्यक ज्ञान भी पूरा और सन्तोषजनक हो सकता है। इतने काल में अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति अच्छी तरह हो सकतो है, जिसे हम सम्पूर्ण व्याकरण का आधा भाग समझते हैं। दो या ढाई वर्ष और लगा लेने पर व्याकरण का पूरा विद्वान् बन सकता है, अर्थात् महाभाष्य पर्यन्त बहुत अच्छी तरह से पढ़ सकता है। भारत के सब स्कूल और कालिजों के लिये यह आदर्श पाठ्यक्रम बन सकता है। हम सुलतानपुर के पाठ्यक्रम को ८० प्रतिशत सफल समझते हैं। जो २० प्रतिशत असफलता रही, वह भी केवल आर्थिक कठिनाई के कारण रही। यदि इसकी आर्थिक व्यवस्था बन गई

१, इसमें कई मुसलमान लड़के भी अष्टाध्यायी से संस्कृत पढ़ते रहे—इनमें एक मुसलमान बालक मीर आसफअली भी था। इसने देहली में अखिल भारतवर्षीय संस्कृत साहित्य महासम्मेलन के अवसर पर भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अनेक विद्वानों के सामने 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्र के सब उदाहरणों की सिद्धि के सूत्र, प्रकरण और अर्थसहित बताए। और अल्विधि में ४ प्रकार का समास बताते हुए, स्थानिवत् की कैसे प्राप्ति हुई, और फिर अल्विधि से कैसे स्थानिवत् नहीं हुआ आदि बताया। जब १२ वर्ष के इस बालक मीर आसफअली ने यह सब बतलाया, तो उस सम्मेलन में पधारे हुए माननीय विद्वान् आश्चर्यचकित और अवाक् रह गए। विशेषकर जब वह सिद्धि में लगनेवाले सब सूत्रों के अर्थ अनुवृत्ति और अधिकार के आधार पर बतलाता था, तो एक अद्भुत दृश्य विद्वानों के समक्ष उपस्थित हो जाता था।

होती, तो हम उसे भी अवश्य सफलरूप में उपस्थित कर सकते थे, ऐसी हमें पूर्ण आशा है। नहीं तो जीते का लाख मरे का सवा लाख। सो ऐसा ही हुआ, इसमें हमारा दोष नहीं, राज्य का दोष है। जिसने इस अद्भुत शैली का संरक्षण न किया। हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और होते हैं। इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा।

(४) **चतुर्थ श्रेणी**—हम उनको समझते हैं, जो कालिजों में एफ० ए०, बी० ए० वा एम० ए० में संस्कृत पढ़ते हैं। विशेषकर एम० ए० वाले इस श्रेणी में आते हैं। जो पास हो जाने पर संस्कृत-विषय में प्रमाण माने जा रहे हैं, और प्रौढ़ ज्ञान न होने के कारण जिनसे संस्कृत को हानि पहुंच रही है। इस पर हम अलग अपने विचार उपस्थित करेंगे।

प्रौढ़ों के लिये विना रटे संस्कृत पढ़ने का सरल पाठ्यक्रम

अब हम दूसरी श्रेणी अर्थात् प्रौढ़ों के विषय में ही लिखेंगे। संस्कृत और उसके व्याकरण के अध्ययन की एक बहुत भारी समस्या यह है कि जो बड़ी आयु के हैं, जिन्हें संस्कृत और उसका व्याकरण पढ़ना है, उनके लिये अष्टाध्यायी कुछ मार्गदर्शन कर सकती है या नहीं? या उनको लघुकौमुदी की शरण में ही जाना होगा और कोई मार्ग नहीं? इस पर हमें विचार करना है। इस लघुकौमुदी के क्रम में यह कठिनाई है कि २० से ८० वर्ष तक चाहे किसी भी आयु के व्यक्ति, जब किसी संस्कृत शास्त्री वा आचार्य के पास जाते हैं, तो उन्हें सब से पहले लघुकौमुदी के ११८८ सूत्र और उनकी चार गुनी संस्कृतवृत्ति=अर्थ ११८८ गुणा ४=४७५२ कुल ५९४० अर्थात् लगभग ६ हजार पङ्क्तियों को पहलें रटकर सुनाने पर बाधित किया जाता है, तब शास्त्री लोग अर्थसहित पढ़ाना आरम्भ करते है। जिसका परिणाम यह होता हैं कि पठनार्थी २, ३ दिन में ही, यदि संस्कृतविद्या और अपने शास्त्रों का अधिक श्रद्धालु हुआ तो ८-१० दिन में, संस्कृत पढ़ने से ही ऐसा भाग खड़ा होता है, कि फिर जीवनभर संस्कृत पढ़ने का कभी नाम नहीं लेता। इतना ही नहीं, अपने पुत्र-पुत्रियों को भी—"संस्कृत रट्टू विद्या है अति कठिन है" यह कहकर संस्कृत पढ़ने से रोक देता है।

इसका क्या उपाय हो, यह बात मेरे मन में सन् १९३९ में तीव्रता से उठी। उस समय मैं तो सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही पूर्वोक्त रीति से लगभग १८, १९ वर्ष से व्याकरण पढ़ाता चला आ रहा था। विना रटे प्रौढ़ों के लिये अष्टाध्यायी द्वारा पठन-पाठन कैसे चले, बस बुद्धि

पर यह भार पड़ा, तो इसका रास्ता सूझा, जो अन्त में सफल भी हुआ। जिसका परिणाम प्रौढ़ श्रेणियों को चलाना है, और यह वर्त्तमान लेख भी इसी का परिणाम है। अतः अब हम पहिले प्रौढ़ों के लिये संस्कृत और उसके व्याकरण के पाठ्यक्रम सम्बन्धी निर्देश सक्षेप से लिखेंगे, तत्पश्चात् पाठ्यक्रम लिखेंगे। यह निर्देशन प्रौढ़ पठनार्थियों के सम्बन्ध में ही समझने चाहियें।

प्रौढ़ श्रेणी में पठनार्थी की योग्यता

हिन्दी की योग्यता—व्यवहारभानु-सत्यार्थप्रकाश पढ़ लिख सकता हो। कलम-कल्म—क्लम-क्लम् इनको तथा अन्य संयुक्त अक्षरों को बोलने पर शुद्ध लिख सके। अष्टाध्यायी के सूत्रों को बोलने पर शुद्ध लिख सके। अध्यापक जो पढ़ावें, उसे कापी पर शुद्ध नोट करने में समर्थ हो सके। जिसमें हिन्दी की कमी हो उसे पहिले पूरा करके ही संस्कृत तथा अष्टाध्यायी आरम्भ करनी चाहिये।

जिन्होंने मैट्रिक या उससे अधिक भी संस्कृत पढ़ी हो, उनकी भी उपर्युक्त हिन्दी की योग्यता में परीक्षा लेकर वा तैयार करके या करवाके ही संस्कृत तथा उसका व्याकरण आरम्भ करना चाहिये।

प्रौढ़ों में संस्कृत पढ़नेवालों के भेद

(१) संस्कृत से अनभिज्ञ, साधारण हिन्दी जाननेवाले स्वाध्यायशील धार्मिक प्राचीन संस्कृति में श्रद्धावान् गीता-मनुस्मृति आदि पढ़ने की इच्छा वाले प्रौढ़ व्यक्ति। इनमें वे रिटायर्ड (सेवानिवृत्त) जिनके पास १६ घण्टे बचते हैं, जो सोच नहीं पाते कि क्या करें, तथा गृह-कार्यों को करनेवाले हैं, आते हैं। भोजनादि के ३-४ घण्टे के गृहकार्यों से निवृत्त देवियां भी इसी कोटि में हैं। इस कोटिवालों को यदि हिन्दी का अच्छा ज्ञान नहीं है, तो पहले हिन्दी की योग्यता में लगाना चाहिये, तब संस्कृत आरम्भ करनी चाहिये।

(२) दूसरे वे हैं जो संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ मिडिल-मैट्रिक-बी० ए०-एम ए० तक पढ़ चुके हैं। ये लोग क्लर्क-आफीसर-अध्यापक-प्रोफेसर-दुकानदार-श्रमजीवी स्वतन्त्र जीविका करनेवाले होते हैं। जिन्हें स्वतन्त्र भारत में अब संस्कृत के लिये कुछ रुचि वा श्रद्धा उत्पन्न हो रही है।

(३) तीसरे वे हैं जिन्होंने मैट्रिक से एम० ए० तक किसी श्रेणी में भी संस्कृत लेकर रटकर पास किया हुआ होता है। इसलिये ये प्रायः सब

भूल चुके होते हैं। संस्कृत की पुस्तक पढ़ने का कुछ ज्ञान होता है। कुछ व्यक्तियों को छोड़कर सामान्यतया इन्हें संस्कृत का बहुत साधारण ज्ञान होता है।

(४) चौथे वे हैं, जो प्रथमा-मध्यमा-शास्त्री-आचार्य (काशी) या पंजाब की विशारद या शास्त्री की परीक्षा देने के लिये अष्टाध्यायी-क्रम से पढ़ना चाहते हैं। इनको अष्टाध्यायी के कम-से-कम १-३, ७,८ अध्याय तथा ६ अ० का डेढ पाद (प्रथम पाद आधा, चौथा सम्पूर्ण) कण्ठस्थ किये विना ठीक-ठीक बोध नहीं हो पाता। या जो गुरुकुलों मे पढ़ाया जानेवाला साधारण व्याकरण पढ़े होते हैं, और व्याकरण की अच्छी योग्यता प्राप्त करना चाहते हैं।

(५) पांचवें वे सज्जन होते हैं, जो स्कूल कालिज में संस्कृत हिन्दी के अध्यापक होते हैं। जिन्होंने बाल्यकाल में लघुकौमुदी-सिद्धान्तकौमुदी आदि पढ़कर विशारद आदि वा मध्यमा शास्त्री आचार्य पास किया होता है, संस्कृतव्याकरण भूल चुके होते हैं। ऐसे सज्जन जो अपने व्याकरण विषय को सुदृढ़ बनाना चाहते हैं।

(६) छठे वे है, जो नियमपूर्वक अष्टाध्यायी-महाभाष्य तथा वेदाङ्ग उपाङ्गादि आर्ष ग्रन्थ आर्ष पद्धति से पढ़ना चाहते हैं।

संस्कृत पढ़ानेवाले अध्यापकों के भेद

प्रौढ़ों को प्रथमावृत्ति के ढंग से पढ़ाने के लिये इस समय निम्न प्रकार के अध्यापक उपलब्ध हैं, इन पर कुछ विचार प्रेमपूर्वक करते हैं—

(१) संस्कृत-विद्यालयों में पढ़ाकर परीक्षा दिलानेवाले मध्यमा-विशारद-शास्त्री आचार्य परीक्षोत्तीर्ण अध्यापक, जिन्होंने लघु वा सिद्धान्त-कौमुदी की प्रक्रिया से पढ़ा होता है। यतः इनको अष्टाध्यायी कण्ठस्थ नहीं होती, अतः वे अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति (पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण सिद्धि सहित) नहीं पढ़ा सकते। इसके साथ ही प्राचीन व्याकरण पास (जिन्होंने अष्टाध्यायी कण्ठस्थ नहीं की) वे भी प्रथमावृत्ति नहीं पढ़ा सकते। सिद्धि कुछ भले ही करा दें, वह भी ठीक ढंग से नहीं। क्योंकि सिद्धि में जो-जो सूत्र लगता जायेगा, उसका अर्थ यदि छात्र पूछेगा, तो वे न बता सकेंगे। मूल अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किया हुआ व्यक्ति अनुवृत्ति तथा अधिकार को स्वयं समझे हुए होगा। अतः वह तत्काल मूल में से सूत्र निकलवा कर छात्र को अनुवृत्ति द्वारा अर्थ सहज में समझा सकेगा। अतः इनमें जिनको अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होगी, और सिद्धि के सूत्रों

में ऊपर से किन-किन पदों की अनुवृत्ति आती है, यह बात छात्र को पुस्तक पर से वा विना पुस्तक के बता सकता हो, वह अष्टाध्यायी-क्रम से पढ़ा सकता है।

(२) स्कूलों-कालिजों में मैट्रिक, एफ० ए०, बी० ए० को पढ़ानेवाले मध्यमा-शास्त्री-आचार्यों को तो व्याकरण अनभ्यास के कारण लगभग सब भूला हुआ होता है, ये भी अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ा नहीं सकते।

(३) संस्कृत में केवल एम०ए० परीक्षा पास करके एफ०ए०, बी०ए० या एम० ए० श्रेणियों को संस्कृत पढ़ानेवाले हमारी अष्टाध्यायी-प्रक्रिया से नहीं पढ़ा सकते। कारण यह है कि सूत्र-क्रम से स्वयं न पढ़े होने के कारण आधारभूत ज्ञान की इनमें बहुत न्यूनता होती है। अनेक विषयों के ज्ञाता होने के कारण किसी विषय को पल्लवित और प्रतिपादन करना तो जानते हैं, परन्तु गहरा ज्ञान न होने से उस विषय को खोल नहीं सकते, इस कारण विद्यार्थी अन्धकार में रह जाते हैं। इनकी व्याकरण-साहित्य-दर्शनादि में गति बहुत निर्बल होती है। उधर केवल कौमुदी-क्रम से पढ़े संस्कृतज्ञों को बहुत से विषयों का ज्ञान न होने, तथा प्रतिपादन-शैली का प्रायः ज्ञान न रहने की कमी रहती है। वे अंग्रेजीवाले छात्रों को अधिक ज्ञान रहने पर भी पूरा सन्तुष्ट नहीं कर सकते। यह एक भारी समस्या संस्कृत को व्यापक बनाने में है, जिसको हल करना ही होगा। अब जब शिक्षा-माध्यम भी हिन्दी हो गया है, ऐसी अवस्था में एम० ए० आदि में संस्कृत पढ़ाने के लिये पढ़ाने के ढंग सिखाने की व्यवस्था करके संस्कृतज्ञों को विशेषता देनी चाहिये। तथा एम० ए० में वही पढ़ावे, जिसने शास्त्री आचार्यादि पास किया हो, और योग्यतापूर्वक पढ़ा सकता हो।

संस्कृत-पण्डितों की अपेक्षा ये संस्कृत के एम० ए० पास ६ मास हमारी अष्टाध्यायी-पद्धति से पढ़कर आगे अच्छी तरह पढ़ा सकेंगे, ऐसा हमें विश्वास है। विदेशियों को संस्कृत पढ़ाने में इनसे बहुत सहायता मिल सकती है।

(४) हमारे गुरुकुलों के स्नातक (जिन्हें आरम्भ में अष्टाध्यायी परिश्रम से पढ़ाई जाती थी, उनको छोड़कर) अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति वा प्रौढ़ों को इस अष्टाध्यायी-पद्धति से नहीं पढ़ा सकते। इनकी योग्यता संस्कृत साहित्य-दर्शन-वेदादि में शास्त्री-आचार्य तथा एम० ए० वालों से प्रायः अधिक होती है, केवल व्याकरण से ये भयभीत किये गये होते हैं। इसमें आर्ष प्रणाली को न जाननेवाले अध्यापकों द्वारा अनार्ष पद्धति से

पढ़ाया जाना ही कारण है, उनकी शक्ति में कमी नहीं। आचार्य शास्त्री जैसा इनका शास्त्रानुशीलन नहीं हो पाता, यह भी ठीक है। यदि यह कमी पूरी हो जावे, तो गुरुकुलों के स्नातक कालेजों में पढ़ाने के लिये परमोपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

ये महानुभाव यदि एक मास अष्टाध्यायी-पद्धति को प्रत्यक्ष देखें, और पढ़ाने की प्रक्रिया जान लें, साथ ही अष्टाध्यायी मूल इन्हें उपस्थित हो, तो ये बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। क्योंकि इनके मस्तिष्क खुले-उदार वातावरण में उन्नत हुए होते हैं। यह निश्चय है कि विना व्याकरण-ज्ञान के वेदशास्त्रों में गहरी योग्यता नहीं हो सकती। गुरुकुलों में अष्टाध्यायी की दुर्गति इस प्रकार हो जाती है कि एक श्रेणी में दो अध्याय अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करा दी, अगले वर्ष में आगे के दो अध्याय, पिछली सर्वथा समाप्त। आगे फिर कौमुदी के आश्रय वा उसके क्रम से अर्थोदाहरणादि पढ़ाना आरम्भ होता है। छात्रों की कई वर्ष में कण्ठस्थ की हुई अष्टाध्यायी का कुछ भी उपयोग उनको नहीं होता। अपितु अष्टाध्यायी भाररूप होकर रह जाती है। क्योंकि अध्यापक को अष्टाध्यायी-क्रम पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि की (आगे-पीछे के सब सूत्रों सहित) यह प्रक्रिया विदित नहीं होती, तथा स्वयं सिद्धान्तकौमुदी की प्रक्रिया से अध्यापकों ने पढ़ा होता है। अतः एव कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर अष्टाध्यायी-पद्धति से ये स्नातक महानुभाव चाहते हुए भी नहीं पढ़ा सकते।

'अष्टाध्यायी से व्याकरण नहीं आता' यह प्रवाद गुरुकुलों में पढ़ाने-वाले पौराणिक अध्यापकों से चलाया गया, और उन अध्यापकों के शिष्य स्नातकों द्वारा भयंकर रूप में फैलाया गया। इसे अब अष्टाध्यायी-पद्धति से व्याकरण पढ़ाने की व्यवस्था करके दूर करना चाहिये।

दुःख से ही कहना पड़ता है कि कन्या-गुरुकुलों में तो व्याकरण की पढ़ाई का अभी उपक्रम भी नहीं हुआ। उनके विषय में क्या लिखें। गुरुकुल भारत में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, यदि इनमें पाठ्यक्रम कुछ ढंग का बना लिया जावे, जो थोड़े से परिश्रम से बन सकता है। संचालकों के स्वयं अनभिज्ञ होने के कारण भी इसमें बाधा है।

हमारी हृदय से यह इच्छा है कि गुरुकुलों के द्वारा 'संस्कृत बहुत कठिन है' यह हौवा दूर होना चाहिए। इसी भाव से हमने प्रेमपूर्वक उपर्युक्त विचार उपस्थित किये हैं।

(५) अब वे लोग हैं जिन्होंने अष्टाध्यायी कण्ठस्थ की है, जिन्होंने

अष्टाध्यायी-पद्धति से प्रथमावृत्ति द्वितीयावृत्ति नियमानुसार पढ़ो है । ये ही लोग अष्टाध्यायी-पद्धति से प्रामाणिक रूप से पढ़ा सकते हैं। इनमें भी जिन्होंने नियमानुसार परीक्षा देकर पढ़ाने का प्रमाण-पत्र[1] प्राप्त किया हो।

इस विषय में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जहां ये उपर्युक्त लोग अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये छात्र को एक सिरे से आरम्भ करके सम्पूर्ण अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति के ढंग पर पढ़ा सकते हैं, वहां अष्टाध्यायी के लगभग ४००० सूत्रों में से ६०० वा १००० आवश्यक छांटे हुए सूत्र पढ़ाकर ६ मास में सस्कृत का व्यावहारिक ज्ञान सूत्रों द्वारा हर कोई नहीं करा सकता। हां, ६ मास की हमारी पद्धति के अनुसार पढ़ाने के लिए एक मास ट्रेनिंग (शिक्षण) लेकर पढ़ा सकता है।

सब से बड़ी बात यह है कि कठिन परिश्रम-धैर्य्य-श्रद्धा-भावना से साध्य यह क्रम है। इसमें अध्यापक को बहुत ही योग्य, सहृदय, इस क्रम में हृदय से निष्ठावान्, सहिष्णु और परिश्रमी होना अनिवार्य है। इसमें हमारे द्वारा पढ़ाये कुछ योग्य व्यक्ति तैयार हुए हैं। भगवान् की कृपा से आगे भी तैयार हो रहे हैं।

कोई भी व्यक्ति कुछ मास मेरे सामने पढ़ाकर प्रमाणित हुये विना प्रौढ़ (बड़ी आयुवाले) पठनार्थी को पढ़ाने के लिये मेरे द्वारा अध्यापक नियुक्त नहीं हो सकता। यतः यह पद्धति बहुत काल के पश्चात् पुनः चालू हो रही है, अतः इसमें कुछ काल तक तो निरीक्षण रखना आवश्यक है।

अध्यापक अधिक संख्या में कैसे तैय्यार हो सकते हैं ?

इस विषय में हमारा यह विचार है कि संस्कृत का पठन-पाठन व्यापक बनाने के लिए अध्यापकों की आवश्यकता बहुत अधिक पड़ेगी। इसके लिए कोई योजना बनानी पड़ेगी। उसके लिए २००-४०० अध्यापक ६ मास में तैय्यार हो सकते हैं। लघुकौमुदी वा सिद्धान्तकौमुदी से पढ़ो को अष्टाध्यायी का एक अध्याय कण्ठस्थ सुना देने पर ५०) पचास रुपये दिये जावें, और एक साथ आठों अध्याय सुना देने पर ५००) पांच सौ रुपया दिया जावे। और ६ मास का भोजनादि व्यय १००) मासिक देकर उन्हें पढ़ाने के लिए इस पद्धति से तैयार किया जावे, तो दो वर्ष में १००० एक हजार अध्यापक संस्कृत-शिक्षण की इस अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ानेवाले तैयार हो

---

१. यहां किसी संस्था वा विश्वविद्यालय के प्रमाणपत्र से अभिप्राय नहीं है। अपितु गुरु द्वारा प्रदत्त अध्यापन-योग्यता का प्रमाण-पत्र यहां अभिप्रेत है।

सकते हैं। उनको अंग्रेजी जाननेवाले प्रौढ़ पठनार्थियों को ६ मास इस पद्धति से पढ़ाने में लगाया जाये, तो ५ वर्ष में संस्कृत का व्यापक प्रचार भारत में हो सकता है।

संस्कृत और उसका व्याकरण पढ़ानेवालों के भेद वर्त्तमान में क्या हैं, इसका प्रतिपादन हमने ऊपर अपने ढंग से किया। अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि अष्टाध्यायी-पद्धति से पढ़ानेवाले अध्यापक में किस-किस प्रकार की योग्यता वा जानकारी होना आवश्यक है।

अध्यापक की अपेक्षित योग्यता

अष्टाध्यायी-पद्धति से व्याकरण पढ़ानेवाले अध्यापक निम्न बातों को प्रमाणित करने पर ही इस पद्धति से पढ़ाने के लिए नियत किये जा सकते हैं—

(१) अष्टाध्यायी विना कण्ठस्थ किये, केवल लघु-मध्य-सिद्धान्त-कौमुदी की प्रक्रिया से पढ़ा हुआ इस अष्टाध्यायी-पद्धति (चाहे बालकों की श्रेणी हो या प्रौढ़ों की) से कदापि नहीं पढ़ा सकता, यह हम पहिले लिख चुके हैं। अतः अष्टाध्यायी उसे कण्ठस्थ हो, और पढ़ाते समय जहां-तहां से लगनेवाले सूत्रों में आनेवाले अधिकार तथा अनुवृत्तियों को भी वह तत्काल छात्र को विना पुस्तक देखे बता सकते हो, या पुस्तक पर से भी जिन पर चिह्न किए हों उससे बता दे (गुरुकुल वृन्दावन से प्रकाशित मूल अष्टाध्यायी[1] अथवा लेखक के अष्टाध्यायी-भाष्य से सहायता ली जा सकती है), तो भी काम चल सकता है। हमारे इस क्रम से पढ़ानेवाले को अधिक परिश्रम करना होता है, पढ़नेवाले को कम।

(२) जिन अध्यापकों की अष्टाध्यायी में भक्ति हो, उसे हृदय से ठीक समझते हों, ऐसे मध्यमा-शास्त्री-आचार्य पास महानुभावों को पढ़ाने की प्रक्रिया जानने के लिए कम से कम एक मास का समय हमारे पास (काशी वा जहां हो) अवश्य लगाना चाहिए। यदि उन्हें १-२, ७-८ ये चार अध्याय मूल अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जावेगी, तो वे इस प्रक्रिया को पढ़ाने में अवश्य सफल हो सकेंगे। उनकी श्रद्धा इसमें बहुत सहायक हो सकती है।

(३) प्राचीन व्याकरणाचार्य को अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लेना, तथा उसे और व्याकरणोपाध्याय आदि को भी एक मास हमारे पास रहकर पढ़ाने की विधि का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

१. यह बहुत वर्षों से उपलब्ध नहीं है।

(४) प्रौढ़ पठनार्थियों को पढ़ाने से पहिले यह जान लेना विशेषकर अनिवार्य है कि "कितने सूत्र बताने हैं, और किस समय कौन सूत्र बताना है, और कैसे बताना है" अर्थात् पढ़नेवाले का पूर्व ज्ञान कितना है, और बुद्धि, धारणशक्ति और स्मृति कैसी है, तथा तदनुकूल कौनसा ढंग पढ़ाने का रखना आवश्यक होगा। इसमें विषयभेद से कुछ न्यूनाधिकता भी करनी होगी। अध्यापक को इस बात का निर्णय प्रतिदिन पढ़ाने से पूर्व ही मन में निश्चित करना होगा।

अध्यापकों के लिये कुछ आवश्यक निर्देश

उपर्युक्त योग्यता सम्पन्न अध्यापकों को इस अष्टाध्यायी-पद्धति से पढ़ाने में प्रमाणपत्र प्राप्त होने पर भी कुछ बातें समझ लेनी आवश्यक हैं, जिन पर अध्यापकों को प्रारम्भ से ही ध्यान देना होगा। सो इस विषय के कुछ सामान्य निर्देश हम उपस्थित करते हैं—

(१) प्रौढ़ छात्रों को सारे सूत्र नहीं, अपितु ६०० सूत्र ही ६ मास में पढ़ाने हैं। पढ़ाने से पूर्व उन पर चिह्न तथा संख्या इस क्रम से लगा लें कि क्रमवार प्रतिदिन पढ़ाये जानेवाले सूत्रों को संख्या देखकर पढ़ाया जाये। एक मास तक के पाठों को स्वयं नोट कर लेना होगा। आगे प्रकरणवार चल पड़ेंगे।

(२) अध्यापक और पठनार्थी का अधिकरण परस्पर मिलना चाहिये। छात्र को अध्यापक पर पूरा विश्वास और श्रद्धा हो कि इनसे मेरा हित-साधन होगा। उधर अध्यापक को भी विश्वास हो कि इसको पढ़ाने से मेरा परिश्रम व्यर्थ नही जायेगा। वह पहिले पठनार्थी का विचार करे कि इसकी हिन्दी तथा संस्कृत में योग्यता कहां तक है। क्या-क्या पढ़ा हुआ है, और क्या-क्या पढ़ना चाहता है। यह संस्कृत क्यों पढ़ रहा है, लक्ष्य क्या है। इसकी समझने की शक्ति, स्मरणशक्ति तथा धारणाशक्ति और वर्णनशक्ति कैसी हैं? पाठ पढ़ने के अतिरिक्त घर पर यह कितना समय पाठ के मनन करने में दे सकता है।

(३) धन-प्राप्ति की बात वा आशा परस्पर सर्वथा न रहनी चाहिये। यदि विवशतः करना अनिवार्य हो, तो भी पठनार्थी का कर्तव्य है कि वह अध्यापक का पूरा सम्मान करे। और अध्यापक भी कम-से-कम तीन मास तक तो चाहे कुछ भी प्राप्त हो या न हो, पढ़ाना कदापि बन्द न करें।

(४) कम से कम समय और परिश्रम द्वारा, सुगम से सुगम ढंग से

अधिक से अधिक लाभ मुझे पठनार्थी को पहुंचा देना है, यह अध्यापक का चरम लक्ष्य होना चाहिये।

(५) कठिन से कठिन बात पठनार्थी के समझ में न आने पर अध्यापक को किञ्चित् भी क्षोभ वा घबराहट न होनी चाहिये। वह छात्र को अनेक उपायों से (लौकिक दृष्टान्त द्वारा भी) इस बात को सरल से सरल ढंग से समझाने का प्रयत्न करे, चाहे कितनी बार बताना पड़े। निर्बल से निर्बल छात्र भी विना भय वा संकोच के जब तक न कह दे कि समझ में आ गया, तब तक पाठ आगे न चले। छात्र के समझने में क्या कठिनाई है और क्यों हो रही है, इसको समझना और दूर करना अध्यापक का परम कर्त्तव्य है। आरम्भ के एक मास में दो तीन बार आगे नया पाठ न पढ़ाकर पढ़े हुए पाठ की पुनरावृत्ति करा वा करवा देनी चाहिये।

(६) १५ दिन पढ़ाई चल चुकने पर जो छात्र वितण्डावादी हो, समझने की अपेक्षा व्यर्थ प्रश्न करता रहे, अविनीत हो, विश्वास न करता हो, निरन्तर देर से आवे, बोलने पर नोट न कर सकता हो, उसे हटा देना चाहिये।

(७) असमर्थ (अविनीत नहीं) छात्रों की एक अलग श्रेणी बना दी जावे। उसका भार इन पढ़नेवालों पर ही रहेगा। इसमें भी यदि कोई पढ़ने में बहुत असमर्थ हो, पर श्रद्धावान् हो उसकी शनैः शनैः तथा शीघ्र चलनेवाली श्रेणी भी अलग-अलग चलाई जा सकती है।

(८) अध्यापक पूछनेवाले छात्र पर कभी भी रुष्ट वा क्रुद्ध न हो। पढ़नेवाले छात्र को विना समझ में आये कभी भी 'हां' नहीं करनी चाहिये। पठनार्थी का ध्यान इधर-उधर नहीं होने देना चाहिए। यदि छात्र व्यर्थ की बात या पाठ से बाहर की बात पूछे, वा पाठ-सम्बन्धी कोई सूक्ष्म शंका तत्काल पूछना चाहे, तो उसे उसी समय रोक देना चाहिये। हां, श्रेणी के पाठ के अन्त में समय होने पर उसका यथोचित समाधान किया जा सकता है।

(९) अध्यापक को चाहिये कि ऐसा यत्न करे कि छात्रों को पढ़ते समय ही विषय उपस्थित हो जावे हृदय में बैठ जावे। पहले दिन के पाठ में से कुछ पूछना हो तो पूछो, ऐसा अध्यापक कहे। तथा पूर्व दिन वा पूर्व के पढ़े में से कुछ थोड़ा प्रतिदिन पूछता भी रहे।

(१०) अध्यापक पढ़ाये जानेवाले विषय का क्रम पढ़ाने से १० मिनट पूर्व मन में अवश्य निर्धारित करलें। अध्यापक को स्मरण रहना चाहिए कि

मैं छात्र को कौन-कौन सूत्र तथा कौन-कौन प्रकरण पढ़ा चुका हूं। जिससे कि पूर्व ज्ञान के आधार पर अगला अज्ञात विषय छात्रों की बुद्धि में सुगमता से बैठता चला जाय। अष्टाध्यायी-क्रम में तो पहले समझकर पढ़े हुए सूत्रों की स्मृति दृढ़ होती जाती है, जैसे दीवार बनने में ईंट के पहिले रद्दे के ऊपर दूसरा रद्दा ठीक बैठता चला जाता है।

(११) बहुत योग्य-विनीत और आर्ष ग्रन्थों में श्रद्धावान् छात्र को छः मासवाली श्रेणी में पढ़ाते हुए भी एक मास के पश्चात् ३-४ वर्षवाले पाठ्य-क्रम के ढंग पर डाल दे। अर्थात् व्याकरण का पूर्ण ज्ञान साहित्य-दर्शन तथा वेदविषय में विशेष प्रयत्न करने की इच्छावाले छात्र के लिए अलग पढ़ाने की पृथक् व्यवस्था करे। वा उसको ऐसे स्थान पर जाने की व्यवस्था कर दे, जहां उसकी पढ़ाई आदि का प्रबन्ध सन्तोषजनक हो सकता हो।

पठन-पाठन-सम्बन्धी सामान्य निर्देश

(१) मूल अष्टाध्यायी रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ की छपी (वेद-वाणी कार्यालय बहालगढ़, सोनीपत के पते से प्राप्त) अर्थात् एक ही प्रकार की सब छात्रों और अध्यापक के पास रहनी चाहिए। अनेक स्थानों की छपी हुई कदापि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उनमें सूत्र-संख्या में अन्तर होता है।

(२) लाल और काली पेंसिल हर एक पठनार्थी के पास पढ़ते समय अवश्य रहनी चाहिए, तथा नोट करने के लिए एक कापी। इसके लाये विना श्रेणी में नहीं बैठ सकता।

(३) अधिकारसूत्र पर **प्रत्ययः**, **परश्च** (अ० ३।१।१।२) से **निष्प्रवाणिश्च** (अ० ५।४।१६०) तक, जहां से अधिकार आरम्भ होता है वहां उलटा (‘) कामा, तथा जहां तक उसका अधिकार जाता है उसके अन्त में ऊपर की ओर सीधा (’) कामा लाल पेंसिल से ऐसा स्पष्ट लगाना चाहिए, जो पन्ने उलटने पर लाल झण्डी की तरह दूर से ही दिखाई दे। जिस सूत्र का अर्थ समझ लिया हो, उसके नीचे लाल पंसिल की रेखा लगा दें, जो दूर से हो दीख जावे। विना समझे लाल रेखा कदापि न लगानो चाहिए। प्रतिदिन ऐसा ही करते जावें। लाल चिह्नवाले सूत्रों की पुनरावृत्ति पुस्तक पर से ही करते रहना चाहिये।

(४) काली पेंसिल (या फौन्टेनपेन) का प्रयोग—

समझाये जा रहे प्रत्येक सूत्र में सब से पहले पदच्छेद (पदों का अलग-अलग करना) करो। कठिन हो तो कापी पर, नहीं तो अष्टाध्यायी पर ही चिह्न देकर अलग-अलग पद कर लो, फिर विभक्ति वचन लिख लो। जैसे—

७।१ १।१ १।१ १।१
अ० १।३।२ में उपदेशे । अच् । अनुनासिकः । इत् । इस प्रकार उन-उन पदों पर विभक्ति लिख लो । और यह भो समझ लो कि किस शब्द के समान इसके रूप चलेंगे । ७।१ का अर्थ है—सप्तमी विभक्ति का एकवचन । १।१ का अर्थ है—प्रथमा विभक्ति का एकवचन । ऐसा ही सब सूत्रों में समझना । जहां तक हो सके, यह ७।१ आदि काली पैन्सिल से लिख लेना चाहिए, जिससे आगे रबर से मिटा भी सकें, लाल पैन्सिल से नहीं । ताकि परस्पर भ्रम कदापि उत्पन्न न हो ।

(५) अधिकार और अनुवृत्ति पर चिह्न लगाकर समझने से सूत्र का अर्थ तत्काल समझ में ठीक बैठ जाता है । संस्कृत से अनभिज्ञ छात्र पहिले विना रटे संस्कृत में अर्थ करेगा, पीछे हिन्दी में अनुवाद कर देगा । यह इस क्रम की बहुत भारी विशेषता है ।

(६) तीन से अधिक छात्र होने पर अध्यापक कृष्ण काष्ठपटल (ब्लैक बोर्ड) तथा चाक का प्रयोग अवश्य करें । इससे छात्रों को बहुत सुगमता रहती है । देखकर लिखने में, उन्हें बहुत सुगमता होती है । इससे निर्बल छात्र भी चल पड़ता है ।

(७) आर्ष पाठविधि में अत्यन्त श्रद्धावान् तथा अष्टाध्यायी-पद्धति से पढ़ानेवाले विना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ अध्यापक को चाहिये कि पहिले वह प्रारम्भ में एक मास की पढ़ाई के क्रम को सूत्रों सहित अपने पास संग्रह कर लें । फिर जिसको पढ़ाना हो, उसे सूत्रों की मुद्रित सूची की सहायता से हमारे अष्टाध्यायी-भाष्य में निकालकर समझ ले । आर अधिकार अनुवृत्ति के लिए हमारे अष्टाध्यायी-भाष्य से सहायता ले ले । श्रद्धा के कारण विशेष यत्न करने पर वह अवश्य सफल हो सकता है ।

व्याकरण पढ़ना क्यों आवश्यक है ?

बहुत से सज्जनों को यह विचार बड़ी प्रबलता से उत्पन्न होता है कि संस्कृतज्ञान के लिये व्याकरण की आवश्यक्ता ही क्या है ? अङ्ग्रेजी ढंग से पढ़े हुए बहुत से डी० लिट् आदि स्वयं पढ़े न होने के कारण ऐसा कहते हैं कि व्याकरण की आवश्यकता ही नहीं । हम अपने पठनार्थियों के हृदय में में यह बात अङ्कित कर देना चाहते हैं कि **संस्कृत के ज्ञानार्थ व्याकरण पढ़ना परमावश्यक है,** और उसके लिए पाणिनि की सूत्रशैली ही परम उत्कृष्ट एवं सर्वाधिक सुगम पद्धति है ।

देखिये संस्कृत में चार प्रकार के शब्द होते हैं—**नाम-आख्यात-उपसर्ग**

और निपात। इनमें उपसर्ग प्रादयः (१।४।५८) में २२ ही हैं। निपात (१।४।५६-६७)तक लगभग ३०० हैं। उपसर्ग और निपात दोनों का ज्ञान कुछ घण्टों में ही हो सकता है। इन दोनों के तो अर्थ ही समझ लेने होते हैं। इनके रूप तो (अव्यय होने से) चलते ही नहीं।

शेष रहे नाम और आख्यात। इनका ज्ञान करने की विधि बताना है। इनका ज्ञान ही व्याकरण का मुख्य ज्ञान है। इन नाम और आख्यात के ज्ञान के दो मार्ग हैं। प्रथम तो यह है कि नामवाची सब शब्दों के सब विभक्तियों के रूप रटकर याद कर लिये जावें, जैसा कि अङ्गरेजी आदि भाषाओं में होता है। अथवा जैसा कि अङ्गरेजी ढंग से पढ़ानेवाले स्कूलों वा कालेजों के छात्र करते हैं। उन्हें १०० शब्द भी याद नहीं हो पाते। दूसरा मार्ग यह है कि नियम (सूत्र) वा फारमूले बनाकर इन्हें समझाया जावे। रटकर याद करना तो असम्भव है। क्योंकि ये नाम शब्द इतने हैं कि इनकी गिनती नहीं हो सकती, याद करना तो दूर रहा। इस विषय में महाभाष्यकार महामुनि पतञ्जलि कहते हैं कि—**"बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, न चान्तं जगाम"** अर्थात् बृहस्पति जैसा आचार्य तो पढ़ानेवाला, इन्द्र जैसा पढ़नेवाला और दिव्य सहस्र वर्ष (सृष्टि और प्रलय दोनों दिव्य दिन रात्रि कहाते हैं) समय तक पढ़ाया, फिर भी एक-एक पद (नाम तथा आख्यातवाची शब्दों के) बताने पर शब्द समाप्त न हो पाये।

यह बात अर्थवादरूप से कही गई है। अभिप्राय इसका यही है कि एक-एक करके शब्दों का अन्त कोई नहीं पा सकता, याद करना तो असम्भव है। इसके लिये महर्षियों को दूसरा मार्ग अर्थात् व्याकरण की रचना करनी पड़ी। पाणिनि आदि ऋषियों ने वर्गीकरण तथा उनमें फार-मूले (नियम) बनाकर शब्द-सागर को छोटे कूजे में बन्द कर दिया।

नाम शब्दों में एक शब्द की तरह सैकड़ों हजारों के रूप चलते हैं, उनके भिन्न-भिन्न वर्ग बन जाते हैं। राम के समान, अग्नि के समान, भानु के समान इत्यादि। सब को एक सूत्र (फारमूला) से बनाया है, यह अद्भुत बात है। वर्गीकरण ही व्याकरण है। जो सूत्रों से शीघ्र और थोड़े परिश्रम से समझ में आ जाता है। जैसे नामों में वर्गीकरण है, वैसे ही आख्यातों में भी वर्गीकरण है। १६६७ धातुओं के दस गण हैं। एक में एक ही प्रकार से रूप-चलते हैं। एक धातु का ज्ञान हो जाने से सैकड़ों धातु उसी प्रकार विदित हो जाते हैं। गणों के पश्चात् दस लकार (विभिन्न प्रक्रियाओं में)

सब धातुओं से चलते हैं। उत्सर्ग (=सामान्य) अपवाद (=विशेष) नियमों द्वारा पाणिनि ने सब का निरूपण वर्गीकरण और फारमूलों (=सूत्रों) द्वारा किया है। इसलिये व्याकरण ही शब्दज्ञान का सरल उपाय है। यह बात पठनार्थी के अच्छी तरह समझ में बैठ जानी चाहिये। अध्यापक इस बात को पढ़नेवाले के हृदय में अङ्कित कर दें। पठनार्थी को सूत्र-पद्धति का मर्म समझ में आजावे, तो उसे स्वयं अनुभव होने लगेगा कि व्याकरण महान् सरल उपकारक साधन है। और सूत्रों द्वारा सुगम तथा सुदृढ़ बोध होता है।

प्रारम्भिक ४४ दिन का पाठ्यक्रम

अब हम प्रौढ़ों के लिये अष्टाध्यायी-पद्धति से संस्कृत और उसके व्याकरण पढ़ाने के अपने क्रम को अतिसंक्षेप से लिखते हैं। ६ मास का पाठ्य-क्रम अन्त में संक्षेप से लिखेंगे। यह विदित रहे कि हमने पढ़नेवालों को अष्टाध्यायी कण्ठस्थ न होने के कारण, तथा उनके पास दो मास का समय होने के कारण, और वह भी प्रतिदिन केवल दो घंटे ही होने से अष्टाध्यायी के ४००० चार सहस्र पूरे सूत्र तो पढ़ाने नहीं हैं। हमने तो ६ मास में केवल लगभग ९००-१००० सूत्र पढ़ाने हैं। सो भी वे ही, जो बहुत काम में आनेवाले हैं या अनिवार्य हैं। इसलिये पढ़ानेवाला अध्यापक ही यह निश्चय करेगा कि मैंने प्रारम्भ में क्रमशः ४४ (वा इससे कम वा अधिक) दिन तक कौन-कौनसे सूत्र पढ़ाने हैं, और किस क्रम से। अर्थात् पहिले दिन कौन-कौन सूत्र, दूसरे दिन कौन-कौन, तीसरे दिन कौन-कौन। इसी प्रकार ४४ दिन तक।

४४ दिन के पश्चात् तो हमें छात्रों को एक-एक प्रकरण लेकर पढ़ाते चलना है। जिसमें सुबन्त 'नामिक' के आधार पर, और तिङन्त 'आख्यातिक' के आधार पर। इनमें भी हम हर एक सूत्र को नामिक वा आख्यातिक में नहीं पढ़ावेंगे, अपितु प्रत्येक सूत्र हम मूल अष्टाध्यायी में ही पढ़ाकर समझा देंगे। छात्र पीछे आवश्यकता हो तो नामिक वा आख्यातिक में देख लें, यह बात बड़े रहस्य की है। शेष सब प्रकरण अष्टाध्यायी में एक-एक स्थान पर ही हैं। उनके अष्टाध्यायी पर से पढ़ाने में कोई बाधा नहीं। हम ६ मास की श्रेणी की दृष्टि से उनमें आवश्यक सूत्रों पर ही पठनार्थी के लिए चिह्न लगवा देंगे। और बहुत काम में आनेवाले सूत्र ही पढ़ावेंगे।

अब हम आगे क्रमशः ४४ दिनों के पाठ लिखेंगे।

प्रथम[1] दिन का पाठ

शब्दों के भेद—कारक का स्वरूप

कलम-कलम्-कल्म-क्लम-क्लम् इनको आगे-पीछे बोलकर छात्रों को लिखायें। छात्र इस प्रकार के उच्चारण-भेदों वा संयुक्त अक्षरों को शुद्धरूप में लिखने में समर्थ है या नहीं,यह देखें। ठीक लिख देने पर ही अष्टाध्यायी हाथ में दी जावे। चाहे कोई कितना भी पढ़ा हो, शुद्ध लेखन में उत्तीर्ण होना परमावश्यक है। जब तक शुद्ध लेखन में समर्थ न हो, शुद्ध लेखन का अभ्यास करावें। जब शुद्ध लेखन वा उच्चारण में समर्थ हो जाये, तब संस्कृत पढ़ाना आरम्भ करें।

इस संस्कृत-भाषा में चार प्रकार के शब्द होते हैं—(१) नाम (२) आख्यात (३) उपसर्ग (४) और निपात।

(१) **नाम**—किसी व्यक्ति, स्थान वा वस्तु को कहनेवाले शब्द नाम होते हैं। जैसे—राम, कृष्ण, बलदेव, काशी, अमृतसर, उज्जैन, वृक्ष, जल, कूपादि।[2]

(२) **आख्यात**—क्रियावाची पदों (शब्दों) को कहते हैं। जैसे—पठति, गच्छति, चलति।

(३) **उपसर्ग**—जो क्रियावाची पद से पहिले आते हैं, और उनके अर्थों

---

१. 'प्रथम दिन का पाठ' इसका अभिप्राय इतना ही है कि प्रथम दिन यह पाठ पढ़ाना चाहिये। यदि किसी को इतना पाठ भी कठिन पड़े, सम्पूर्ण पाठ समझ में न आ सके, तो एक दिन या दो दिन में कर लेवें। आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए। कोई दो दिन के पाठ को एक दिन में समझे, तो कोई बाधा नहीं। ये पाठ लिखित क्रम से समझ में आ जाने चाहियें, इतना ही इन का तात्पर्य है। समय का प्रतिबन्ध इनमें कुछ नहीं।

२. यह सामान्य व्यवस्था है, इस विषय में एक प्राचीन श्लोक है—

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः॥

को प्राय: बदल देते हैं। जैसे—गच्छति (जाता है), आगच्छति (आता है), स्थान (ठहरना), प्रस्थान (चलना), आचार, विचार, प्रचार, संचार, अत्याचार आदि में उपसर्गभेद से अर्थभेद हो जाता है। उपसर्ग अव्यय होते हैं।

(४) **निपात**—जिनके रूप नहीं चलते। जैसे—यदि, अपि, च, वा, ननु आदि। निपात भी अव्यय होते हैं।

नाम के तीन भेद—लिङ्ग के भेद से नाम के तीन भेद होते हैं—**पुंल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग-नपुंसकलिङ्ग**। आगे इनके **एकवचन**, **द्विवचन**, **और बहुवचन** भेद हैं। इनकी ८ विभक्ति और ६ कारक होते हैं। सम्बन्ध और सम्बोधन कारक नहीं होते। पुरुष या राम (अकारान्त पुंल्लिङ्ग) शब्द के रूप आठों विभक्तियों में कापी या बोर्ड पर लिखकर अभ्यास करा दें। **पुरुषस्य पुरुषेभ्यः पुरुषाय** आदि शब्दों का अर्थ भी वहीं बैठे-बैठे अभ्यास करा दें। आध घण्टे में अभ्यास हो जाने पर मूल ऋग्वेद, वाल्मीकीय रामायण आदि से छात्र द्वारा किसी पृष्ठ की किसी पंक्ति पर हाथ रखवायें। उस मन्त्र वा श्लोक में अकारान्त पुंल्लिङ्ग या राम की तरह के पदों का अर्थ छात्र से करावें। जैसे ऋग्वेद १।१।१ में **पुरोहितं** (=पुरोहित को), **पुरुषं** (=पुरुष को)। **यज्ञस्य** (=यज्ञ का), **पुरुषस्य** (=पुरुष का), **देवं** (=देव को) **रत्नधातमं** (=रत्नधातम को) ऐसे समझा दें। ऋग्वेद के प्रत्येक पृष्ठ में प्रायः १५ मन्त्र हैं। यदि एक मन्त्र में ३ हों, तो एक पृष्ठ में १५ × ३ = ४५ शब्द पुरुष या राम की तरह के आ गए। तो १००० पृष्ठों में ४५ सहस्र शब्दों के विभक्त्यर्थ का ज्ञान छात्र को हो जायेगा। उन शब्दों के अर्थ पीछे समझ लेगा। इसकी अभी चिन्ता नहीं। क्रिया के बनानेवाले को **कारक** कहते हैं। **सम्बन्ध और सम्बोधन किसी क्रिया को नहीं बनाते, अतः ये दोनों कारक नहीं कहलाते**। पुरुष और वाच् शब्दों के रूप कापी[1] पर लिखकर अर्थसहित समझा देने चाहियें।

---

१. इस कार्य में ट्रस्ट से प्रकाशित 'शब्दरूपावली' सहायक हो सकती है।

द्वितीय दिन का पाठ

सूत्र तथा आख्यात के भेद

'सूत्र' उसे कहते हैं जो बहुतसी बात को थोड़े (=संक्षेप) में कह दे। वर्णों के संक्षेप को **प्रत्याहार** कहते हैं, जो आदि और अन्त का अक्षर लेकर बनाये जाते हैं। जैसे **'अच्'** कहने मे **'अइउण् ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्'** सब स्वर आ गये।[1] **'हल्'** कहने से सब व्यञ्जन आ जाते हैं।[1] अल्, अट्, झल्, सुप्, तिङ् आदि प्रत्याहारों का परिचय भी करादें। प्रत्याहार सैकड़ों बन सकते हैं, पर पाणिनि मुनि ने ४१ प्रत्याहारों (संक्षेप) से ही सारी अष्टाध्यायी में काम लिया है। छात्रों को प्रत्याहार-सूत्रों का अभ्यास करा देना चाहिये।

सूत्रों के प्रकार

सूत्र ७ प्रकार के होते हैं—(१) **अधिकार सूत्र**, (२) **संज्ञा सूत्र** (नाम रखनेवाले), (३) **परिभाषा** (निर्णय करनेवाले), (४) **विधि** (कार्य करनेवाले), (५) **निषेध** (मना करनेवाले), (६) **नियम सूत्र**, (७) **अतिदेश सूत्र**, (समानता का अधिकार प्राप्त करानेवाले)।

आख्यात के भेद

नाम के भेद कह चुके। आज आख्यात=क्रियावाची शब्दों को बताते हैं। आख्यात के तीन पुरुष होते हैं—**प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष**। जिसके विषय में बात करें वह प्रथम पुरुष, जिससे बात करें वह मध्यम पुरुष, जो बात करे वह उत्तम पुरुष। इसके आगे इन तीनों के एकवचन द्विवचन और बहुवचन जानें। जैसे—**पठति पठतः पठन्ति - प्रथम पुरुष**। **पठसि पठथः पठथ—मध्यम पुरुष,और पठामि पठावः पठामः—उत्तमपुरुष**।

---

१. सो इनका ग्रहण कैसे होता है—'आदिरन्त्येन सहेता' (१।१।७०) आदि (पहला) वर्ण अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ मिल कर अपने को तथा बीचवालों को बताता है; उपस्थित करता है। 'अण' कहने से अ इ उ का ग्रहण हुआ, और 'अच्' कहने से अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ का ग्रहण होता है। बीच के ण् क् ङ् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है (देखो—पाठ ८)।

इनके अर्थ भी समझ लें। इसके लिए मूल धातुपाठ की पुस्तक (रामलाल कपूर ट्रस्ट मुद्रित) हाथ में देकर छात्रों को बताना चाहिये कि ये १९६७[1] धातु कहलाते हैं। इनके आदि में भू होने से **भूवादयो धातवः** (१।३।१) सूत्र इनकी धातु संज्ञा (नाम) कर देता है। जो इनमें नहीं पढ़ा, उसकी धातु संज्ञा नहीं होगी। इन धातुओं के **दस गण** (=समूह) हैं। एक समूह में आये हुए धातुओं के रूप एक जैसे चलते हैं। इसीलिए वे एक विभाग या गण में पढ़े हुए हैं। इनमें (१) **भ्वादि गणवाले** धातु वे हैं, जिनका पहिला (=आदि) धातु 'भू' है। (२) **अदादि**—जिनमें 'अद्' पहिला धातु है। (३) **जुहोत्यादि** (जुहोति) (४) **दिवादि** (५) **स्वादि** (६) **तुदादि** (७) **रुधादि** (८) **तनादि** (९) **क्र्यादि** (१०) **चुरादि** भी पूर्ववत् समझना। आदि में होनेवाले धातु के नाम से इन गणों के भ्वादि ('भू' है आदि में जिनके) इत्यादि १० नाम रक्खे गए हैं।

सभी गणों के सभी धातुओं के १० लकार होते हैं। जैसे—(१) **लट्** (२) **लिट्** (३) **लुट्** (४) **लृट्** (५) **लेट्** (६) **लोट्** (७) **लङ्** (८) **लिङ** (विधिलिङ् आशीर्लिङ्) (९) **लुङ्** (१०) **लृङ्**—ये दस लकार होते हैं। इनको बिना रटे जानने के लिए 'ल ट्' इन दो अक्षरों के बीच में अ-इ-उ-ऋ-ए-ओ क्रम से लगा दें, तो 'लट्-लिट्-लुट्-लृट्-लेट्-लोट् ये छः लकार बन जाते हैं। आगे 'ल्-ङ्' इन दोनों के बीच में भी अ-इ-उ-ऋ लगा दें तो लङ्-लिङ्-लुङ्-लृङ् बन जायेंगे। सो दस लकार बन गए। रटने का कोई काम नहीं। अब ये दस लकार किस काल में होते हैं, यह हिन्दी जाननेवालों को सहज में समझ में आ जायेगा।

(१) **लट्**—वर्तमान काल में होता है। जैसे—**देवदत्तः गच्छति**—देवदत्त जाता है।

(२) **लिट्**—अनद्यतन परोक्षभूत काल में, जिसे हमने नहीं देखा। जैसे—**रामः जघान रावणम्**—राम ने रावण को मारा।

(३) **लुट्**—अनद्यतन भविष्यत् काल में। अद्य कहते हैं आज को, अद्यतन कहते है आज का, अनद्यतन—जो आज का न हो। जैसे—**देवदत्तः श्वः गन्ता**—देवदत्त कल जायेगा।

(४) **लृट्**—सामान्य भविष्यत् काल में। जैसे—**देवः गमिष्यति**—देव जायेगा।

---

१. कण्ड्वादि को मिलाकर २०१४ धातु होते हैं।

(५) लेट्—[लिङ् के अर्थ में] वेद में ही प्रयुक्त होता है।

(६) लोट्—विधि आदि अर्थों में होता है। जैसे—**देव गच्छ**—देव जा।

(७) लङ्—अनद्यतन (आज से भिन्न) भूतकाल में। जैसे—**देवः अगच्छत्**—देव (आज को छोड़कर किसी दिन) गया।

(८) लिङ्—लिङ् दो प्रकार का होता है—(१) **विधि लिङ्**—आज्ञा आदि ६ अर्थों में होता है। जैसे—**देवः गच्छेत्**—देव जावे। (२) **आशिषि लिङ्**—आशीर्वाद अर्थ में होता है। जैसे—**देवः चिरं जीव्यात्**—परमात्मा करे देव चिरंजीव हो।

(९) लुङ्—सामान्य भूतकाल में। जैसे—**देवः अगमत्**—देव गया।

(१०) लृङ्—क्रिया की अतिपत्ति (=उल्लंघन अथवा अनिष्पत्ति=न बनना) में। जैसे—**देवः अपठिष्यत् तर्हि विद्वान् अभविष्यत्**—देव पढ़ता तो विद्वान् बनता। अर्थात् देव पढ़ा नहीं, इस कारण विद्वान् भी नहीं बना।

इस प्रकार १० गणों में सब धातुओं के १०-१० लकार होते हैं, यह समझना चाहिये। इन लकारों के २०सूत्र अष्टाध्यायी में सामान्यतया बता देने चाहियें। अधिकार और अनुवृत्ति के आधार पर इनके अर्थ ६ छठे दिन के पाठ में बताये जायेंगे।

तृतीय दिन का पाठ

अब पूर्वोक्त ७ प्रकार (द्र०–पृ० २८) के सूत्रों का स्वरूप दर्शाते हैं—

(१) **अधिकार सूत्र**—वे होते हैं, जिन्हें निश्चित अवधि तक के सूत्रों में जाकर बैठने का अधिकार (परमिट—आज्ञापत्र) मिल जाता है, जहां से जहां तक कि उनका अधिकार होता है। जैसे बिजली घर से बिजली ठीक करनेवाले भृत्य अपने अधिकारियों का लिखित आज्ञापत्र दिखाकर हर घर के भीतर घुसकर बिजली ठीक कर सकते हैं, ऐसे ही अधिकार सूत्र अपने आगे आनेवाले अष्टाध्यायी के सब सूत्रों में (जहां तक कि उसका अधिकार है) जाकर बैठ जायेगा, उसको कोई रोक नहीं सकता। सो अब हमें मोटे-मोटे अधिकार सूत्रों पर चिह्न मूल अष्टाध्यायी में ही लाल पेन्सिल से लगवा देने चाहियें। और आरम्भ में सूत्रों के आगे, जैसे **प्रत्ययः ५।४ तक, परश्च ५।४ तक** ऐसा काली पेन्सिल से लिखवा[1] देना चाहिये, लाल पेन्सिल या गेरू से उलटा कामा लगवाना चाहिये। आगे '५।४ तक' ऐसा काली पेंसिल से लिख देना चाहिये (इतना लाल पेन्सिल से कदापि न लिखना चाहिये)। आरम्भ में मुख्य-मुख्य अधिकार ही बताने चाहियें, अधिक नहीं (इसमें विशेष रहस्य है) ताकि छात्रों के मन में स्थिर बैठ जावें। यथा—

(१) 'प्रत्ययः ३।१।१ से ·—··················——···५।४।१६० निष्प्रवाणिश्च तक।'

(२) 'परश्च ३।१।२ से.. ...५।४।१६० निष्प्रवाणिश्च तक पूर्ववत्।'

(३) 'धातोः ३।१।९१ से ३।४।११७ तक'।

(४) 'भूते ३।२।८४ से ३।२।१२२ तक।'

(५) 'ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१ से ५।४।१६० तक'।

(६) 'तद्धिताः ४।१।७६ से ५।४।१६० तक' [यह संज्ञा भी है]।

---

१. 'लिखवा देना' हम इस लिए कहते हैं कि यद्यपि कुछ पठनार्थी विना किसी की सहायता के भी स्वयं पढ़कर ही समझ लेते हैं, जिस की सूचना हमें समय-समय पर मिलती रहती है। तथापि हमारा यह विचार है कि अधिक संख्या में पठनार्थी ऐसे होते हैं, जिन्हें किसी न किसी पढ़ानेवाले की सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसे पढ़नेवाले व्यक्ति का प्रबन्ध न होने पर पठनार्थी स्वयं ही डट जावे। १०-१५ दिन यदि हमारे समीप में रहकर ढंग समझ ले, तब भी बहुत कुछ लाभ हो सकता है। स्वयं हो नहीं सकता, यह हमारा मत नहीं है। परिश्रमसाध्य वा काष्टसाध्य है। जो भी परिश्रम कर सके वा कष्ट उठा ले, वह अवश्य कर सकता है।

(७) 'संहितायाम्' ६।१।७० से ६।१।१५१ तक'।
(८) 'अङ्गस्य ६।४।१ से ई च गणः ७ ४।९७ तक'।
(९) 'पदस्य ८।१।१६ से ८।३।५४ तक'।
(१०) 'पदात् ८।१।१७ से ८।१।६९ तक'।
(११) 'संहितायाम् ८।२।१०८ से ८।४।६७ तक'।
(१२) 'कारके १।४।२३ से १।४।५५ तक'।
(१३) 'समासः २।१।३ से २।२।३८ तक'।
(१४) 'कृत् ३।१।९३ से ३।४।११७ तक' [यह संज्ञा भी है]।
(१५) 'कृत्याः ३।१।९५ से ३।१।१३२ तक'। यह भी संज्ञा और अधिकार दोनों है।

इन १५ अधिकार सूत्रों को मूल अष्टाध्यायी पर ही लाल पेन्सिल से आदि में उलटा अन्त में सुलटा मोटा कामा लगाकर काली पेन्सिल से जहां तक अधिकार जाता है, उस सूत्र की संख्या भी लिखें। ऐसे ही और अधिकार सूत्र बहुत हैं, शनैः शनैः समझते हुए आते रहेंगे।

अधिकार और अनुवृत्ति में भेद—जहां सारा सूत्र अर्थात् सूत्र के सब पद आगे आनेवाले सूत्रों में बैठते हैं, उसे हम **अधिकार सूत्र** कहते हैं। जहां सूत्र के १-२ शब्द आगे आनेवाले सूत्रों में जाकर बैठते हैं, उसे हम **अनुवृत्ति** या छोटा अधिकार कहते हैं। वास्तव में अधिकार और अनुवृत्ति में विशेष भेद नहीं है। **जैसे—प्रत्ययः, परश्च, धातोः** इत्यादि अधिकार सूत्र हैं, तथा **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** १।३।२ में **'उपदेशे'** और **इत्** पदों की अनुवृत्ति है। ये दोनों **तस्य लोपः** १।३।९तक जाते हैं। अर्थात् इन दोनों की अनुवृत्ति ९वें सूत्र तक जाती है, ऐसा कहा जाएगा। अधिकार और अनुवृत्ति उपर्युक्त वृन्दावनवाली अष्टाध्यायी से सहज में जानी जा सकती है। इन अधिकारों को रटने का कुछ काम नहीं। क्योंकि लाल झण्डो के समान चिह्न लगे होने से पत्रा पलटते ही स्वयं दिखाई पड़ते हैं। बार-बार काम में आने से अभ्यास स्वयं हो जाता है।

---

१. इस सरलतम-पद्धति में अष्टाध्यायी के सूत्रों की संख्या हमारे द्वारा प्रकाशित रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत) के संस्करणानुसार समझनी चाहिये। इसलिये इस पुस्तक को पढ़ते हुए रा० क० ट्रस्ट की अष्टाध्यायी ही अपने पास रखनी चाहिये। यदि विवशतः कोई दूसरा संस्करण ही हो, तो संख्या निकाल कर देखो ५-७ संख्या आगे-पीछे सूत्र अवश्य मिलेगा। अन्यत्र छपी अष्टाध्यायी की सूत्र-संख्या काशिकानुसारी है। काशिका में बहुत से वार्त्तिकों को सूत्र मान लिया गया है, जो महाभाष्य के विरुद्ध है। इसलिये संख्या में भेद हो जाता है।

चतुर्थ दिन का पाठ

संज्ञाओं के नाम और परिचय

आज हमें शेष ६ प्रकार के सूत्रों का स्वरूप समझ लेना है, जिनमें अधिकार के आगे—

(२) संज्ञा सूत्र—वह है जो नाम रख देता है। **धातु-प्रातिपदिक-इत्-लोप** आदि। ये हर समय काम आनेवाली संज्ञाएं हैं। **वृद्धि-गुण-संयोग-अनुनासिक--सवर्ण--प्रगृह्य-घु-सङ्ख्या-षट्--निष्ठा-सर्वनाम-अव्यय-सर्वनामस्थान-विभाषा-सम्प्रसारण-लोप-लुक्-श्लु-लुप्-टि-उपधा-वृद्ध** ये संज्ञाएं प्रथमाध्याय प्रथम पाद में ही क्रमशः सूत्रों द्वारा कही गई हैं। समझ लेने पर[1] इन संज्ञाओं के नीचे लाल पेन्सिल से चिह्न कर दें, सारे सूत्र पर नहीं, क्योंकि अभी सारा सूत्र तो समझा नहीं। **सारे सूत्र पर तभी लाल चिह्न करना चाहिये, जब वह सूत्र सारा समझ में आजाये। विना समझे किसी भी सूत्र पर लाल चिह्न कदापि न लगाना चाहिये।**

अब आगे प्रातिपदिक संज्ञा करनेवाला सूत्र **"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'** (१।२।४५), तथा **"कृत्तद्धितसमासाश्च"** (१।२।४६) है। पहले का पदच्छेद "अर्थवत्" "अधातुः" "अप्रत्ययः" "प्रातिपदिकम्" होता है। अर्थ यह हुआ कि–**अर्थवत्**=जो अर्थवाला (शब्द) है, वह **प्रातिपदिकम्**=प्रातिपदिक संज्ञा (नाम) वाला है, **अधातुः अप्रत्ययः** धातु और प्रत्यय को छोड़कर। बस यही सूत्र का अर्थ है। अगले सूत्र **'कृत्तद्धितसमासाश्च'** ने कहा कि—प्रत्ययों में कृत् और तद्धित जिनके अन्त में हों उनकी, और समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा (नाम) हो जावे।[2]

---

१. यदि छात्र कठिनाई न समझे, तो यह भी समझ ले कि संज्ञायें किन-किन की हैं। सूत्र की पूरी व्याख्या छोड़ दें।

२. आगे अपृक्त-उपसर्जन-इत्-नदी-घि-ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-लघु-गुरु-अङ्ग-पद-भ-निपात-उपसर्ग-संहिता-अभ्यास-अभ्यस्त आदि संज्ञायें हैं, जो धीरे-धीरे समझ में आती रहेंगी। ये संज्ञायें हैं, अभी इतना ही समझ लेना अपेक्षित है, रटने का कोई काम नहीं।

(३) **परिभाषा सूत्र**— जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण शास्त्र में आगे-पीछे सर्वत्र हो। यह निर्णय करनेवाला होता है। जैसे—**इको गुणवृद्धी** (१।१।३)।

(४) **विधिसूत्र**—कार्य करनेवाला। जैसे—**वर्तमाने लट्** (३।२।१२३)।

(५) **निषेधसूत्र**— मना करनेवाला। जैसे—**न विभक्तौ तुस्माः** (१।३।४)।

(६) **नियमसूत्र**—नियम करनेवाला। जैसे— **लङः शाकटायनस्यैव** (३।४।१११)।

(७) **अतिदेशसूत्र**— समानता का अधिकार प्राप्त करानेवाला सूत्र। जैसे—**स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (१।१।५५)।

इनके उदाहरण आगे धीरे-धीरे आते रहेंगे।

पांचवां पाठ

वर्णों के स्थान और प्रयत्न

जिन वर्णों का स्थान और प्रयत्न तुल्य हो, उनकी **सवर्णसंज्ञा** (१।१।९) होती है। सवर्णसंज्ञा के लिये स्थान और प्रयत्न का ज्ञान आवश्यक है। इसलिये यह प्रकरण जान लेना चाहिये।

वर्णोच्चारणशिक्षा[1] के नाम से प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा में से इतनी बातें आज के पाठ में बता देनी चाहियें—

(१) **प्रश्न**—शब्द की उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर—आत्मा बुद्धि से अर्थों को मन में इकठ्ठा करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता (लगाता) है। मन शरीर की अग्नि जाठराग्नि को धक्का देता है, और वह वायु को प्रेरित करता है।

(२) वह वायु आकाश से संयुक्त होता (मिलता) है, आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होकर, शरीर के ऊपर उठता हुआ जो मुख में प्राप्त होता है, उसे 'नाद' कहते हैं। वह भिन्न-भिन्न स्थानों (कण्ठ, तालु, दन्त, मूर्धा और ओष्ठ आदि) में विभक्त होकर वर्णभाव को प्राप्त होता है, उसे '**शब्द**' कहते हैं। पाणिनीय शिक्षा के आरम्भ के २, ३ सूत्रों के अर्थ हमने लिखे हैं।

६३ अक्षर कैसे हैं, यह बताना चाहिये। आगे स्वर तथा व्यञ्जनों के उच्चारण में गुण-दोष, जो वर्णोच्चारणशिक्षा में स्पष्ट लिखे हैं, समझ लेने चाहियें।

वर्णों के स्थान

अब स्थान-सम्बन्धी मुख्य सूत्र ये हैं—

(१) **अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः**=[2]अ आ आ३, कु=कवर्ग (क ख

---

१. यह रामलाल कपूर ट्रस्ट से भी छपी है। वर्णोच्चारण-शिक्षा में पाणिनीय-शिक्षा का पाठ खण्डित है। एक नये कोश के आधार पर उसका पूरा पाठ रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्राप्य '**शिक्षा-सूत्राणि**' में छापा गया है। इसमें आपिशलि पाणिनि और चन्द्रगोमी के शिक्षा सूत्रों का संग्रह है।

२. स्वर ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से तीन प्रकार के होते हैं। ऌवर्ण का दीर्घ नहीं होता, ए ऐ ओ औ के ह्रस्व भेद नहीं होते।

ग घ ङ), ह और विसर्जनीय का कण्ठ स्थान है। क्योंकि ये कण्ठ से बोले जाते हैं, अतः ये **कण्ठ्य** कहाते हैं।

(२) **इचुयशास्तालव्याः**=इ ई ई ३, चु=चवर्ग (च छ ज झ ञ), य और श ये तालव्य हैं। अर्थात् ये तालु से बोले जाते हैं, अतः ये **तालव्य** कहाते हैं।

(३) **ऋटुरषा मूर्द्धन्याः**=ऋ ॠ ॠ ३, टु=टवर्ग (ट ठ ड ढ ण), र और ष इन का उच्चारण मूर्द्धा स्थान से किया जाता है, अतः ये **मूर्द्धन्य** कहाते हैं।

(४) **उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः**=उ ऊ ऊ ३, पु=पवर्ग (प फ ब भ म), और उपध्मानीय ओष्ठ से बोले जाते हैं, अतः ये **ओष्ठ्य** कहलाते हैं।

(५) **लृतुलसा दन्त्याः**=लृ लृ ३, तु=तवर्ग (त थ द ध न), ल और स का दन्त स्थान है, अतः ये **दन्त्य** कहाते हैं।

(६) **वकारो दन्त्यौष्ठ्यः**=व का उच्चारण दन्त और ओष्ठ से होना चाहिये।

(७) **एदैतौ कण्ठ्यतालव्यौ**=ए ए ३; ऐ, ऐ ३ कण्ठ और तालु से बोलने योग्य हैं।

(८) **ओदौतौ कण्ठ्यौष्ठ्यौ**=ओ ओ ३, औ औ ३ को कण्ठ और ओष्ठ से बोलना शुद्ध है।

वर्णों के प्रयत्न

प्रयत्न आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के होते हैं—

(१) **स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः** ।।५३।। क से म तक २५ स्पर्शसंज्ञक वर्णों का **स्पृष्ट प्रयत्न** होता है। अर्थात् जिह्वा से स्व-स्व स्थान में स्पर्श करके इन्हें बोलना चाहिये।

(२) **ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तःस्थाः** ।।५४।। **अन्तःस्थ** (=य र ल व) **ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न**वाले होते हैं।

(३) **ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः** ।।५५।। **ऊष्म** (=श ष स ह) का **ईषद्विवृत** प्रयत्न है।

(४) **विवृतकरणा वा** ।।५६।। अथवा ऊष्म (=श ष स ह) वर्णों का **विवृत प्रयत्न** है।

(५) **विवृतकरणाः स्वराः ॥५७॥** तथा स्वरों का **विवृत** प्रयत्न होता है।

(६) **संवृतस्त्वकारः ॥५८॥** अकार का **संवृत** प्रयत्न हैं। ये **आभ्यन्तर प्रयत्न** हैं।[1]

बाह्य प्रयत्न इस प्रकार हैं—

(१) **वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदानाश्चाघोषाः ॥६१॥** वर्गों के प्रथम द्वितीय, श ष स, विसर्जनीय-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय, प्रथम द्वितीय यम ये **विवृत, श्वासानुप्रदान,** तथा **अघोष प्रयत्नवाले** होते हैं।

(२) **वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तःस्था हकारानुस्वारौ, यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च ॥६३॥** वर्गों के तृतीय-चतुर्थ, अन्तःस्थ, ह, अनुस्वार, तृतीय और चतुर्थ यम तथा नासिका से बोले जानेवाले स्वर ये **संवृत, नादानुप्रदान,** तथा **घोष प्रयत्नवाले** होते हैं।

(३) **यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः ॥६४॥** जैसे तृतीय होते हैं वैसे ही पञ्चम होते हैं। अर्थात् पञ्चम वर्णों के प्रयत्न तृतीय वर्ण के समान होते हैं।

(४) **एकेऽल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः ॥६२॥** पहिला-तीसरा-पांचवां, य र ल व, तथा प्रथम तृतीय यम ये **अल्पप्राण प्रयत्नवाले** होते हैं। शेष **महाप्राण** प्रयत्नवाले होते हैं।

हमने यहां स्थान और प्रयत्नों का विषय संक्षेप से दर्शाया है। **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) सूत्र के विषय में वर्णोच्चारण-शिक्षा के इतने प्रकरण का मुख्य प्रयोजन है। जहां किसी के स्थान में कोई आदेश करना हो, तो सदृशतम=स्थानी के साथ मिलता-जुलता हुआ आदेश ही होता है। जैसे इ उ के स्थान में गुण हो, तो अ ए ओ तीन गुणसंज्ञक वर्णों[2] में से इ के स्थान में ए, उ के स्थान में ओ गुण होता है। क्योंकि इनका ही परस्पर स्थान और प्रयत्न सब से अधिक मिलता है। इसके लिए स्थान और प्रयत्नों का ज्ञान आवश्यक है।

---

१. व्याकरणशास्त्र में अ आ आ ३ इनकी सवर्ण संज्ञा करने के लिये ह्रस्व अ का भी **विवृत प्रयत्न** स्वीकार किया जाता है।

२. अदेङ्गुणः (१।१।२) सूत्र से 'अ-ए-ओ' इन तीन वर्णों की गुण संज्ञा होती है।

छठा पाठ

सूत्रों के अर्थ करने का प्रकार

वर्तमाने लट् (३।२।१२३)। **परोक्षे लिट्** (३।२।११५)। **अनद्यतने लुट्** (३।३।१५)। **लृट् शेषे च** (३।३।१३)। **लिङर्थे लेट्** (३।४।७)। **विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्** (३।३।१६१)। **लोट् च** (३।३।१६२)। **अनद्यतने लङ्** (३।२।१११)। **आशिषि लिङ्लोटौ** (३।३।१७३)। **लुङ्** (३।२।११०)। **लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ** (३।३।१३९)। आज हमने इतने सूत्रों का अर्थ समझ और समझा लेना है।

१—पहले हम **वर्तमाने लट्** (३।२।१२३) सूत्र को लेते हैं। छात्र अपनी मूल अष्टाध्यायी खोल कर बतावें कि "वर्तमाने लट्" सूत्र में ऊपर से किस-किस का अधिकार आता है ? लाल पेन्सिल से मोटा उलटा कामा **'प्रत्ययः परश्च'** (३।१।१,२) से पहले चिह्न लगा हुआ तत्काल दीख जावेगा। छात्र झट कह देगा कि "वर्तमाने लट्" सूत्र में "प्रत्ययः" 'परश्च" का अधिकार आता है। और किसका आता है, पूछने पर पत्रा पलट कर छात्र लाल कामा देखकर झट बता देगा कि **"धातोः"** (३।१।९१) का भी अधिकार आता है। वह भी आगे बैठ जायगा। अब उक्त शब्दों के आगे बैठ जाने पर इस सूत्र का स्वरूप यह बन गया –**"वर्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च धातोः"**। अब बैठनेवालों को कह दो कि थोड़ा ढंग से बैठिये। कैसे बैठें ? सो **'धातोः वर्तमाने लट् प्रत्ययः परः च"** ऐसा क्रम बन गया। इसके आगे **भवति, भवेत्, स्यात्, भवतु, भविष्यति,अस्ति, वर्तते** आदि इन क्रिया-वाची शब्दों में से कोई एक लगा लो। हमने **'भवति'** लगा दिया। सो सूत्र का स्वरूप बना—**"धातोः वर्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च भवति।"** इसी को अर्थ अथवा वृत्ति कहते हैं। सो सूत्र से ही सूत्र का अर्थ अपने आप बिना रटे समझ कर छात्र स्वयं कर लेगा। पीछे यदि उसको विभक्ति का ज्ञान २-४ दिन में हो चुका हो, तो हिन्दी में भी अर्थ कर देगा—**धातोः**(५ । १) (पञ्चमी विभक्ति का एकवचन) = धातु से, **वर्तमाने** (७।१) = वर्तमान काल में (पुरुष की तरह) लट(१।१) लट, **प्रत्ययः**(१।१) = प्रत्यय, **भवति**=

होता है, **परः च**=और वह परे होता है। परे होता है का तात्पर्य यह है कि उस धातु वा प्रातिपदिक के पश्चात्=आगे बैठता है, उससे पहले नहीं। अर्थात् प् लट् ऐसे ही बैठे, "लट् पठ्" नही। पूरी सिद्धि पीछे बतावेंगे। लीजिये सूत्र का अर्थ हिन्दी में भी बन गया, जिसको पठनार्थी २-४ दिन में ही समझकर करने लगेगा।

(२) **परोक्षे लिट्**—हम बता चुके हैं (पृष्ठ ३२) कि '**भूते**' का अधिकार ३।२।८४ से १२२ तक जाता है। वहां लाल पैन्सिल से अधिकार का चिह्न लगा है। अब आगे अर्थ समझें—**परोक्षे लिट्** (३।२।११५) में पूर्ववत् "**प्रत्ययः**" "**परश्च**" "**धातोः**" तो आकर बैठेंगे ही, "**भूते**" (३।२।८४) और "**अनद्यतने**" (३।२।१११ से १२२ तक) भी आकर बैठेगा। सो बैठ जाने से क्या बना—'**परोक्षे**[1] **लिट् प्रत्ययः परश्च धातोः भूते अनद्यतने**'[2]। ढंग से बैठने पर '**धातोः परोक्षे अनद्यतने भूते लिट् प्रत्ययः परश्च भवति**' (पूर्ववत् 'भवति' लगा दिया) तो अर्थ बन गया। हिन्दी में अर्थ क्या बना—"**धातोः**" धातु से, **अनद्यतने परोक्षे भूते**=अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में, **लिट् प्रत्ययः**=लिट् प्रत्यय, **भवति**=होता है, **परश्च**=और वह परे होता है"। लीजिये, पहले संस्कृत में अर्थ बन गया, पीछे हिन्दी में बन गया। भला इसमें भी रटने का क्या काम है? हां, केवल समझ लेना है।

(३) **अनद्यतने लुट्** (३।३।१५) में पूर्ववत् **धातोः** (३।१।९१), **प्रत्ययः परश्च** (३।१।१,२) का अधिकार आता ही है। ३।३।३ से "**भविष्यति**" की अनुवृत्ति भी इसमें आती है। "**धातोः अनद्यतने भविष्यति लुट् प्रत्ययः परश्च भवति**" यह अर्थ बन गया। हिन्दी में अर्थ हुआ कि—अनद्यतन (जो आज का नहीं ऐसे) भविष्यत् काल में धातु से लुट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है।

(४) **लृट् शेषे च** (३।३।१३) में भी पूर्ववत् **धातोः** (३।१।९१), **प्रत्ययः परश्च** (३।१।१,२) का अधिकार आता है। और ३।३।३ से **भविष्यति** की अनुवृत्ति आती है। तो अर्थ बन गया—'**धातोः भविष्यति लृट् प्रत्ययः परश्च भवति, शेषे**[3] **च**'=भविष्यत् काल में धातु से लृट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है।

---

१. परोक्ष जो आंखों से परे हो ऐसा भूतकाल। यह प्रायः पर्याप्त पुराने भूतकाल में प्रयुक्त होता है।

२. **अनद्यतन**—जो अद्यतन=आज का न हो, ऐसा भूतकाल।

३. '**शेषे च**' का अर्थ हमने यहां जानकर छोड़ दिया है। चाहें तो अष्टाध्यायी-भाष्य वा काशिका में से निकालकर इन दोनों पदों का अर्थ देख लें।

(५) **लिङर्थे लेट** (३।४।७) में ऊपर ३।४।६ से **'छन्दसि'** की अनुवृत्ति ३।४।१७ तक जाती है। **'धातोः प्रत्ययः परश्च'** पूर्ववत् आता ही है। अर्थ बन गया—**'छन्दसि धातोः लिङर्थे लेट् प्रत्ययः परश्च भवति'**=वेद में धातु से लिङ् के अर्थ में लेट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है।

(६) **लोट् च** (३।३।१६२) में **विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु०** (३।३।१६१) से विधि आदि अर्थों का, और **धातोः प्रत्ययः परश्च** का अधिकार पूर्ववत् है। सूत्र का अर्थ बना—**'धातोः विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लोट् प्रत्ययः परश्च भवति'**=धातु से **विधि**=आज्ञा, **निमन्त्रण**=नियतरूप से बुलाना, **आमन्त्रण**=बुलाना (कामचार है, आवे या न आवे), **अधीष्ट**=सत्कारपूर्वक व्यवहार, **सम्प्रश्न**=अच्छी तरह पूछना कि आप आयेंगे या नहीं?, और **प्रार्थना**, इन अर्थों में लोट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है।

(७) **अनद्यतने लङ्** (३।२।१११) में पूर्ववत् **"धातोः प्रत्ययः परश्च"** का अधिकार है। अर्थ बना—**"धातोः अनद्यतने भूते लङ् प्रत्ययः परश्च भवति**=धातु से अनद्यतन भूत काल में लङ् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है।

(८) **विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्** (३।३।१६१)। विधि आदि अर्थों की व्याख्या ऊपर लोट् लकार के प्रसङ्ग में कर चुके हैं। विधि आदि अर्थों में धातु से लिङ् प्रत्यय हो, और वह परे हो। यह इस सूत्र का अर्थ है।

आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३) में **"धातोः प्रत्ययः परश्च"** पूर्ववत् आते हैं। **'धातोः आशिषि लिङ्लोटौ प्रत्ययौ भवतः परौ च'**=धातु से आशीर्वाद अर्थ में लिङ् और लोट् प्रत्यय होते हैं, और वे परे होते हैं। यह हिन्दी में अर्थ बन गया।

(९) **लुङ्** (३।२।११०) यहां भी पूर्ववत् **"धातोः भूते लुङ् प्रत्ययः परश्च भवति"**=अर्थात् धातु से भूत (सामान्य) काल में लुङ् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। यह अर्थ बन गया।

(१०) **लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ** (३।३।१३९) में पूर्ववत् **'धातोः प्रत्ययः परश्च,'** तथा ३।३।१३६ से **भविष्यति** का अधिकार आकर अर्थ बना—**"धातोः लिङ् निमित्ते क्रियातिपत्तौ लृङ् प्रत्ययः परश्च भवति"**=अर्थात् धातु से लिङ् का निमित्त होने पर क्रियातिपत्ति (क्रिया के उल्ल-

ङ्न होने पर वा क्रिया की अनिष्पत्ति =न बनने पर) भविष्यत् काल में लृङ् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है।

कहिये, १० सूत्रों का अर्थ आपको समझ में आया कि नहीं ? रटने का कुछ काम पड़ा हो, तो मुझे साक्षी सहित पत्र लिखिये।

१० लकारों के ११ सूत्रों के अर्थ समाप्त हुए। इसी प्रकार कारक और विभक्ति-सूत्रों के अर्थ विना रटे समझ में आ जाते हैं। एक ही दिन में ४० सूत्रों का अर्थ समझाया जा सकता है। पर हमें यहां उपर्युक्त १० लकारों के सूत्रों का अर्थ ही बताना है, सो बता दिया, और सहज में समझ में आ गये। देखिये, सूत्र वा उनके अर्थ हौवा नहीं हैं। पढ़नेवाले के हृदय में यह बात अंकित हो जाती है कि समझने की बात है, रटने की कुछ भी आवश्यकता नहीं। हां, बार-बार आवृत्ति (=दोहराने) से ये सूत्र और इनके अर्थ स्मृति में बैठ जाते हैं। यह मनोवैज्ञानिक बात है, प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। कहने से समझ में नहीं आ सकता। जो एक बार प्रत्यक्ष कर लेता है, वह अष्टाध्यायी का परम भक्त बन जाता है। कहने से नहीं, स्वानुभूत होने पर।

सूत्रों के अर्थ के सम्बन्ध में विशेष निर्देश

(क) शास्त्रों में जितनी संज्ञायें हैं, संज्ञारूप में ही उनका व्यवहार करना चाहिये। उक्त संज्ञाओं से किन-किन का ग्रहण होता है, यह पता रहना चाहिये। प्रत्याहार भी एक प्रकार से संज्ञा ही है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि 'अच्' कहने से सब स्वर लिये जाते हैं, और 'हल्' कहने से सब व्यञ्जन। सब व्यञ्जनों का नाम न लेना पड़े, केवल हल् कह दिया, इतने से सब व्यञ्जन आगये। संक्षेप से हल् कहने से ही समझ में आगये। 'प्रत्याहार' संक्षेप को कहते हैं। सो ऐसे ही अष्टाध्यायी में जिन ४१ प्रत्याहारों का व्यवहार पाणिनि जी ने किया है, उन सब में यही संक्षेप मिलेगा। इसलिये जिन सूत्रों में प्रत्याहारों का संकेत है, उनको 'प्रत्याहार सूत्र' कहते हैं।

(ख) सूत्र के अर्थ करने का प्रकार हमने षष्ठ दिन के पाठ में बताया। **वर्त्तमाने लट्** (३।२।१२३) आदि १० सूत्रों के अर्थ क्रियात्मक रूप में पठनार्थी को विना रटाये हम समझा चुके। सूत्रों के अर्थ करने की यही प्रक्रिया सब सूत्रों में कैसे सुगमता से समझी जावे, सो लिखते हैं।

पहिले सूत्र का **[१] पदच्छेद, [२] विभक्ति वचन, [३] समास, [४] अधिकार या अनुवृत्ति, [५] अर्थ, [६] उदाहरण, [७] सिद्धि क्रमशः**

जानें। ये सात बातें हर एक सूत्र की सब से पहिले समझ में आनी चाहियें। सो एक बार इनका स्वरूप भी समझ लेना चाहिये।

(१) **पदच्छेद**—'पद' कहते हैं सुप् (२१ प्रत्यय ४।१।२) और तिङ् (१८ प्रत्यय ३।४।७८) जिनके अन्त में हों (१।४।१४)। जैसे—'पुरुषः' यह एक पद है। उपसर्ग और निपात भी पद ही होते हैं। उनमें शब्द के आगे 'सुप्' आते तो हैं, पर उनका लुक्(=अदर्शन)हो जाता है।'छेद'कहते हैं अलग-अलग करने को। सो **पदच्छेद** का अर्थ हुआ—पदों को अलग-अलग करना। जैसे—**उपदेशे, अच्, अनुनासिकः, इत्** (१।३।२) में। **वृद्धिः, आदैच्** (१।१।१) में। इसी का नाम पदच्छेद है।[1]

(२) **विभक्ति**—कहते हैं सुप् के 'सु औ जस्' आदि सात त्रिक (=तीन-तीन),तथा तिङ् के 'तिप् तस् झि' आदि छः त्रिक(=तीन-तीन)को। आगे **वचन**—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। जैसे—**उपदेशे** ७।१=सप्तमी विभक्ति का एकवचन। **अच्** १।१=प्रथमा विभक्ति का एकवचन। **अनुनासिकः**१।१=प्रथमा का एकवचन। **इत्**=१।१ प्रथमा का एकवचन। हर एक सूत्र का पहिले पदच्छेद और विभक्ति वचन जानो। यह भी समझ लेना चाहिये कि इस शब्द के रूप किस शब्द के समान चलते हैं। इससे पठनार्थी का ज्ञान शीघ्र बढ़ता है, और स्थिर होता है। यह विषय आगे ३२-३३-३४ पाठों में अधिक स्पष्ट होगा।

(३)**समास**–जिसमें अनेक पदों का एक पद, अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति, और अनेक स्वरों का एक स्वर हो जाता है, उसे 'समास' कहते हैं। समास चार प्रकार के होते हैं—(क) **अव्ययीभाव**—पूर्वपदार्थ प्रधान, (ख) **तत्पुरुष**—उत्तरपदार्थ प्रधान, (ग) **बहुव्रीहि**—अन्यपदार्थ प्रधान, और (घ) **द्वन्द्व**—उभयपदार्थ प्रधान। इनके भेद २७वें पाठ में लिखे हैं। वे भेद यहां भी बताये जा सकते हैं, यदि छात्र समझ सकें।

समास में कम से कम दो पद होते हैं। पहिला पूर्वपद कहलाता है,

---

१. पदच्छेद के साथ ही सन्धिच्छेद भी समझना होगा। यह भिन्न-भिन्न पदों में तथा एक पद में भी हो सकता है। आरम्भ में तो पदों के छेदमात्र को छात्र अलग-अलग जानता चले। फिर धीरे-धीरे बार-बार आनेवाली सन्धियों के नियम (सूत्रों द्वारा) भी समझता चले। जब छात्र को सन्धि के नियमों को जानने की विशेष आकांक्षा उत्पन्न हो जावे, तब २२-२३-२५ पाठों में बताये सन्धि के आवश्यक नियम-सूत्रों द्वारा यहां भी धीरे-धीरे बताये जा सकते हैं। पठनार्थी पर अधिक भार न पड़ना चाहिये। सन्धि की जब कोई बात जानना चाहें, उक्त तीनों पाठों में देख लेनी चाहिए।

दूसरा उत्तरपद। सो हम अभी तत्पुरुष समास समझाते हैं—"**देवगृहम्**" में **देवस्य** (देव का) **गृहम्** (घर)। 'देवस्य' एक पद है, 'गृहम्' दूसरा पद है। दो पदों का एक पद '**देवगृहम्**' (देव का गृह) बन गया। **राज्ञः पुरुषः**= "**राजपुरुषः**" (राजा का पुरुष) बन गया, इसे समास कहते हैं। यह तत्पुरुष समास है, क्योंकि यहां "राजपुरुषम् आनय"=राजपुरुष को लाओ, यह कहने से राजा नहीं लाया जाता,राजा का पुरुष लाया जाता है। राजपुरुष में पुरुष उत्तरपद है, सो यहां उत्तरपदार्थ प्रधान होने से 'राजपुरुष'या 'देवगृह' तत्पुरुष समास कहलाया। **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२) में कोई समास नहीं। क्योंकि इस सूत्र में सब एक-एक पद हैं, दो मिले हुए पद कोई नहीं। हां, **चटू** (१।३।७) में द्वन्द्व समास है। **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) में **आदैच्** द्वन्द्व समास है। समास का विशेष विवेचन १७वें पाठ में लिखेंगे।

(४) **अधिकार और अनुवृत्ति**—१० सूत्रों के अधिकार और अनुवृत्ति का प्रकार इसी छठे पाठ में ऊपर दर्शा चुके हैं। जैसे—**वर्त्तमाने लट्** में।

(५) **अर्थ**—भी ऊपर दर्शा चुके हैं।

(६) **उदाहरण**—**वर्तमाने लट्** (३।२।१२३) के उदाहरण—**पठति भवति** हैं। अर्थात् इनमें '**वर्त्तमाने लट्**' (३।२।१२३) सूत्र लगा। तभी '**पठति**' '**भवति**' ऐसा रूप बना।

(७) **सिद्धि**—सिद्धि में सब सूत्र जो-जो लगें, बताना चाहिये। सो यह ९वें तथा १०वें दिन के पाठ में पूरी तरह दिखावेंगे, अतः यहां नहीं लिखते।

यह पदच्छेद आदि के विषय में अतिसंक्षेप से लिखा है। सूत्रों के विषय को पूरा जानने के लिये इन सात बातों का जान लेना अत्यावश्यक है।

जब किसी सूत्र का अर्थ करने लगो,तो पहिले सूत्र का पदच्छेद(=पदों को अलग-अलग) करो, और विभक्ति उसी सूत्र पर या कापी पर काली पैन्सिल से लिख लो। पदच्छेद और विभक्ति जान लेने से सूत्र का अर्थ एक तिहाई समझ में आने लगता है। समास स्पष्टता लाता है। अनुवृत्ति या अधिकार जान लेने पर सूत्र का एक तिहाई अर्थ और समझ में आ जाता है। शेष एक तिहाई अर्थ अध्यापक को बताना पड़ता है। कहीं-कहीं तो इतना भी बताना नहीं पड़ता। उदाहरणों में सूत्र ने क्या काम किया, यह बात समझनी होती है, जो सिद्धि करने पर ही पूरी तरह समझ में आ पाती है। **सिद्धि में मुख्य बात यह जाननी होती है कि इस उदाहरण में इस सूत्र ने क्या काम किया।** शेष सूत्र इसलिये बताये जाते हैं कि वही

सूत्र प्राय: बार-बार लगते हैं। ७ प्रकार की सिद्धियों में एक प्रकार की सिद्धि जान लेने पर सभी सिद्धियां सुगमता से समझ में आ जाती हैं।

एक और आवश्यक बात

सूत्रों का अर्थ करने में एक और आवश्यक बात ध्यान में रखने की है। वह है—अर्थ करते समय क्रमशः सूत्र को ५, ७, ६, १ (**पञ्चमी, सप्तमी, षष्ठी और प्रथमा**) विभक्ति पर ध्यान।

(१) जहां ५ **मी** विभक्ति होगी, वहां **"से"** अर्थ होगा।

(२) जहां ७ **मी** होगी, वहां **"परे रहने पर"** या **"विषय में"** या **"निमित्त होने पर"** सामान्यतया इन तीन अर्थों में से कोईसा एक होगा।

(३) जहां ६ **ठी** विभक्ति होगी (और कोई सम्बन्ध न बनता हो), वहां **'षष्ठी'** का अर्थ **'के स्थान में'** होगा।

(४) प्रथमा विभक्ति का अर्थ "होता[1] है" यह अध्याहार लगाकर समझ लेना चाहिये।

जैसे—**वर्त्तमाने लट्** (३।२।१२३) में अधिकार से **'वर्त्तमाने लट्, प्रत्ययः, परश्च, धातोः'** ऐसा वाक्य बना। इसका अर्थ ६ठे पाठ में बता चुके हैं। अब इन शब्दों के ढंग से बैठने का क्या प्रकार है, इसको बताते हैं। इसका क्रम है—५, ७, ६, १, अर्थात् पहिले **पंचमी**, आगे **सप्तमी**, आगे **षष्ठी**, उससे आगे प्रथमा विभक्ति को रखो। अर्थात् ५, ७, ६, १ इस क्रम से बिठाओ। अन्त में **भवति, भविष्यति, स्यात्** आदि में से कोईसी एक क्रिया लगा दो।

जैसे **आद् गुणः** (६।१।८४) में ऊपर से अधिकार और अनुवृत्ति आकर **"आद् ५।१। गुणः १।१। संहितायां ७।१। अचि ७।१। पूर्वपरयोः ६।२। एकः १।१ (भवति)"** सूत्र का ऐसा रूप बना। अब ५, ७, ६, १ को ध्यान में रखकर—

आत् (५।१)=अवर्ण से
अचि (७।१)=अच् परे हो तो
संहितायां (७।१)=संहिता के विषय में
पूर्वपरयोः (६।२)=पूर्व और पर के स्थान पर
एकः (१।१)=एक
गुणः (१।१)=गुण
भवति=होता है।
यह सूत्र का अर्थ बना।

---

१. इसमें इतना समझना चाहिये कि प्रौढ़ पठनार्थी को समझाने के लिए ऐसा (होता है) कहा गया है। अर्थात् सूत्र में जहां प्रथमा विभक्ति हो, उसके आगे 'भवति' लगा लेने से संस्कृत में, और 'होता है' लगा लेने से हिन्दी में अर्थ बन जाता है। यहां इतना ही तात्पर्य है।

सप्तमी के तीन अर्थ होते हैं—**परे रहने पर, विषय में, या निमित्त होने पर**। (इससे भिन्न ३।१।९२ से ३।४।११७ तक कहीं-कहीं सप्तमी का अर्थ **'उपपद'** भी होता है। उपपद सप्तमी के विषय में आगे समझायेंगे) कहीं-कहीं **५**, ७, ६, १ पञ्चमी, सप्तमी, षष्ठी, प्रथमा न होकर ५, ७, १ या ६, १, ७ ऐसा क्रम भी सूत्रों में रहता है। जहां ५, ७, ६, १ चार हों, वहां ५=से, ७=परे रहने पर, ६=के स्थान में १=कार्य होता है ऐसा समझना। यह सामान्य नियम है। विशेष जहां जैसा होगा, वहां वैसा बता दिया जावेगा। ५, ७, ६, १ को सूत्र में क्रमशः समझ लेने पर सूत्र का अर्थ सुगमता से पठनार्थी समझकर बोल सकेगा। यह बात सभी सूत्रों का अर्थ करते समय ध्यान में रखने की है।

६ दिन के पाठों पर सिंहावलोकन

सिंह (शेर) की चाल मस्त होती है। जब वह अपने भक्ष्य (शिकार) की खोज में निकलता है, तो कुछ मार्ग चलने के पश्चात् वह कभी-कभी अपनी गर्दन मोड़कर अपने भक्ष्य को देखने लगता है कि कहीं कोई मेरा भक्ष्य मेरी पहुंच में आ तो नहीं गया। इसी को **'सिंहावलोकन'** कहते हैं।

गत ६ पाठों में हम क्या-क्या जान चुके हैं, इस पर संक्षेप से एक सामान्य दृष्टि डाल लेना सिंहावलोकन करना समझना चाहिये।

प्रथम दिन—हमने संस्कृत में चार प्रकार के शब्द और उनके लक्षण बताये, और उनमें 'नाम' के भेद कहे। **दूसरे दिन**—सूत्र का लक्षण, उनके भेद और स्वरूप, तथा आख्यात के भेद बताये गये। **तीसरे दिन**—अधिकार का लक्षण, १५ अधिकारों का परिचय, अनुवृत्ति और अधिकार में भेद कहे। **चौथे दिन**—संज्ञा का स्वरूप, कुछ एक संज्ञाओं का परिचय, प्रातिपदिक संज्ञा का स्वरूप कहा। **पांचवें दिन**—स्थान और प्रयत्न समान होने पर **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) सूत्र लगता है। अतः वर्णोच्चारणशिक्षा का अत्यावश्यक अंश समझाया गया है। **छठे दिन**—सूत्रों के अर्थ करने का प्रकार तथा १० लकार। इतना विषय ६ दिन में ६ पाठों में बतलाया जा चुका है। पाठक अपनी स्मृति में लावें। षष्ठ पाठ के अन्त में प्रत्येक सूत्र का अर्थ करते समय सूत्र का पदच्छेद (पद अलग करना), विभक्ति वचन (कौनसी विभक्ति का कौनसा वचन), समास, अधिकार अनुवृत्ति, अर्थ, उदाहरण, सिद्धि का स्वरूप सोदाहरण बताया, जो सब सूत्रों में काम देगा। अन्त में ५, ७, ६, १=पञ्चमी, सप्तमी, षष्ठी, और प्रथमा विभक्ति को क्रमशः हर एक सूत्र में समझने का महत्त्व दर्शाया है॥

सातवां पाठ

सूत्र-शैली का आरम्भ

अब हमने सुगण्[1] (=अच्छा गिननेवाला) शब्द के रूप और उनकी सिद्धि करानी है। नाम (संज्ञा) शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा करनेवाले दो सूत्र हैं—**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्**[2] (१।२।४५), और **कृत्तद्धित-समासाश्च**[2] (१।२।४६), इनसे प्रातिपदिक संज्ञा होकर '**स्वौजस०** (४।१।२) सूत्र में **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (४।१।१) इस सारे सूत्र का अधिकार आया, इधर "**प्रत्यय, परश्च**" का अधिकार आता ही है। सूत्र का अर्थ हो गया— "**ङ्याप्प्रातिपदिकात् स्वौजसमौट्० प्रत्ययाः पराश्च भवन्ति**"=ङी आप् और प्रातिपदिक से सुप् (२१) प्रत्यय हो जाते हैं। यतः प्रत्यय बहुत (२१) हैं, अतः यहां प्रत्ययाः भवन्ति=प्रत्यय हो जाते हैं, ऐसा एकवचन के स्थान में बहुवचन करके बोलना होगा। जहां दो होंगे, वहां द्विवचन करके बोलना होगा।

अब हम २१ प्रत्यय और उनका शुद्ध (साफ किया हुआ) रूप दिखाते हैं। जैसे बाजार से पहिले लौकी लाते हैं, तत्पश्चात् उसे छील कर ही तो शाक बनाने के लिए अग्नि पर चढ़ाते हैं। ऐसे ही ये २१ प्रत्यय आ जाते हैं, हम इनकी सफाई[3] करते हैं। ये साफ हो जाने पर कैसे रह जाते हैं, सो आगे दर्शाते हैं—

	विना साफ किया रूप			साफ किया हुआ रूप		
प्रथमा	सु	औ	जस्	स्	औ	अस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्	अम्	औ	अस्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्	आ	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्	ए	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्	अस्	भ्याम्	भ्यस्

१. यहां यह ध्यान रहे कि हम पुरुष या राम शब्द के रूपों की सिद्धि पहले न बता कर अत्यन्त सरल होने के कारण सुगण् शब्द के रूप तथा उनकी सिद्धि पहले बताते हैं। उसके समझ में आ जाने के पश्चात् पुरुष या राम के रूप और उसकी सिद्धि भी समझ में शीघ्र आजायेगी। २. इस सूत्र का अर्थ देखो पृष्ठ ३३ पर।

३. इन प्रत्ययों में मूल प्रत्ययों से अधिक रखे गये वर्णों को किस प्रकार हटाया जाता है, यह ८वें पाठ में बताया गया है।

षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्	अस्	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्	इ	ओस्	सु
सम्बोधन	सु	औ	जस् (प्रथमा जैसा)	स्	औ	अस्

अब यहां एक बात ध्यान में रखनी है कि सुगण् से आगे जो सु का स् है वह ण् हल् से परे रहा, उसका लोप (हट जाना) हो जाता है। क्योंकि हल् 'ण्' से परे दूसरे हल् 'स्' का उच्चारण नहीं किया जा सकता। सुगण् स्, यहां 'स्' का लोप हुआ[1], तो बचा 'सुगण्'। सुगण्+औ=सुगणौ। सुगण्+अस्—अन्त के 'स्' हल् को विसर्ग हो जाता है=सुगणः। अब रूप इस प्रकार बनेंगे—

सुगण् स्=सुगण्	सुगण् औ=सुगणौ	सुगण् अस्=सुगणः
सुगण् अम्=सुगणम्	,, ,, ,,	,, ,, ,,
सुगण् आ=सुगणा	सुगण् भ्याम्=सुगणभ्याम्	सुगण् भिस्=सुगणभिः
सुगण् ए=सुगणे	,, ,, ,,	सुगण् भ्यस्=सुगणभ्यः
सुगण् अस्=सुगणः	,, ,, ,,	,, ,, ,,
,, ,, ,,	सुगण् ओस्=सुगणोः	सुगण् आम्=सुगणाम्
सुगण् इ=सुगणि	,, ,, ,,	सुगण् सु=सुगण्सु
हे सुगण्	हे सुगणौ	हे सुगणः

जिस प्रकार 'सुगण्' के रूप आठों विभक्तियों और तीनों वचनों में बनते हैं, वैसे ही २० प्रकार के हलन्त शब्दों के रूप प्रायः बन जाते हैं। उन २० प्रकार के हलन्त शब्दों को वर्ण क्रम से नीचे लिखते हैं—

(१) **वाच्** (वाणी)। (२) **शब्दप्राच्छ्** (शब्द को पूछनेवाला)। (३) **ऋत्विज् या वणिज्** (यज्ञ करनेवाला या बनिया)। (४) **यञ्** (प्रत्याहार आरम्भ में 'य' से 'ञ्' तक)। (५) **सरट्** (छिपकली)। (६) **यण्** (प्रत्याहार)। (७) **मरुत्** (वायु)। (८) **सम्पद्** (सम्पत्ति)। (९) **समिध्** (समिधा)। (१०) **दण्डिन्** (दण्डधारी)। ११) **सुप्** (प्रत्याहार)। (१२) **ककुभ्** (दिशा)। (१३) **यम्** (प्रत्याहार)। (१४) **गिर्** (वाणी)। (१५) **हल्** (प्रत्याहार)। (१६) **दिव्** (सूर्यलोक)। (१७) **दिश्** (दिशा)। (१८) **प्रावृष्** (वर्षा)। (१९) **पयस्** (जल)। (२०) **गोदुह्** (गौ दोहनेवाला)। इन सब शब्दों के रूप इस **'स्वौजसमौट्** ···(४।१।२) एक ही सूत्र से बन

---

१. शास्त्रीय ढंग से 'सुगण्+स्' के 'स्' का लोप कैसे किया जाता है। यह 'वाच्+स्=वाक्' सिद्धि के समय नवम पाठ में बतायेंगे।

जायेंगे, रटने का कोई काम नहीं। सूत्र की बार-बार आवृत्ति होने से स्वयं स्मरण हो जायेगा।

इन २० प्रकार के शब्दों के रूपों में जो थोड़ा-बहुत अन्तर है, उसे हम आगे बतलायेंगे। इनमें से यञ्, यण्, यम्[1], हल् इन शब्दों के रूप 'सुगण्' के समान ही बनते हैं। इनसे आगे विभक्तियां जोड़ने पर कुछ भी अन्तर नहीं आता। इसलिए इनके रूप यहीं जान लेने चाहियें ॥

आठवां पाठ

इत्-संज्ञा प्रकरण

आज हम इत् संज्ञा का प्रकरण समझाते हैं। देखिये ऊपर सुप्=२१ प्रत्ययों का साफ किया हुआ चित्र अपनी कापी पर या बोर्ड पर लिखिये।

(१) स्, औ, अस् (२) अम्, औ, अस् (३) आ, भ्याम्, भिस् (४) ए, भ्याम्, भ्यस् (५) अस्, भ्याम्, भ्यस् (६) अस्, ओस्, आम् (७) इ, ओस्, सु (८) प्रथमा जैसा=स्, औ, अस्।

[१।३।१ में सूत्र है—**भूवादयो धातवः**। इसका अर्थ बना—भू से लेकर आगे धातुपाठ में पढ़े गये लगभग २००० शब्दों की (क्रियावाची होने पर) धातुसंज्ञा (नाम) हो जाती है।] आगे सूत्र है—

उपदेशेऽज् अनुनासिक इत् (१।३।२) = (उपदेशे ७।१।। अच् १।१।। अनुनासिकः १।१।। इत् १।१।।) मो ८ सूत्र तक 'उपदेशे' और 'इत्' इन दोनों की अनुवृत्ति (छोटा अधिकार) जाती है। सूत्र का अर्थ हुआ—उपदेशे= उपदेशे में, अनुनासिकः अच्=अ. इ. उ. ऋ. लृ. ए. ऐ. ओ. औ. अनुनासिक की इत्संज्ञा (नाम) हो जाती है। देखिये सु का सुँ ऐसा अनुनासिक चिह्न-वाला रूप सैंकड़ों वर्ष पहले था। जो लगभग एक हजार वर्ष से विना अनुनासिक का अर्थात् सु ही रह गया। 'सुँ' का उकार अनुनासिक (उँ) है, इस कारण उस उकार की इस सूत्र से इत् संज्ञा हो गई। **तस्य लोपः**

---

१. सुप् (७।३) परे 'म्' को अनुस्वार होकर 'यंसु' रूप बनता है।

(१।३।९) **'तस्य इत्संज्ञकस्य लोपो भवति'** अर्थात् जिसकी इत् संज्ञा हो, उसका लोप हो जाता है। लोप—**अदर्शनं लोपः** (१।१।५९) से अदर्शन =दर्शन न होना=हट जाना को **'लोप'** कहते हैं। इस प्रकार अनुनासिक 'उँ' हट गया, और सुँ का 'स्' रह गया। अब आगे चलिये।

तीसरा सूत्र है—**हल् अन्त्यम्** (१।३।३)। इसमें **'उपदेशे'** और **'इत्'** की अनुवृत्ति आती हैं। अर्थ बना—**उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्** (भवति)। हिन्दी में अर्थ हुआ—उपदेश में अन्त्य हल् की इत् संज्ञा (नाम) हो जाती है। **तस्य लोपः, अदर्शनं लोपः** से लोप हो जाता है। इस प्रकार **औट्** (२।२) के अन्त्य ट् हल् की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। इसी प्रकार **सुप्** (७।३) के 'प्' की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। और औट् का 'औ' और सुप् का 'सु' रह गया।

अब आगे चलिये। जस्, अम्, शस्, भ्याम्, भिस्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम् इन नौ प्रत्ययों के अन्तिम हल् की **'हलन्त्यम्'** से इत्संज्ञा होकर लोप होना चाहिए। सो इनको बचाने के लिये पाणिनि मुनि ने प्रबन्ध किया है—

न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४)। (न अ० ॥ विभक्तौ ७।१॥ तुस्माः १।३॥)। इसमें ऊपर से हलन्त्यम् उपदेशे, इत् इनकी अनुवृत्ति आती है। अर्थ बन गया—**"उपदेशेऽन्त्यं हल् विभक्तौ तु स् म् इत् न"** अर्थात् उपदेश में अन्त्य हल् यदि तु=तवर्ग (त थ द ध न), स् और म् विभक्ति के हों, तो उनकी इत्संज्ञा न हो। सो ये सब लोप होने से बच गये।

उपदेश—पाणिनि के पांच ग्रन्थ उनके उपदेश माने जाते हैं—१ अष्टाध्यायी, २ धातुपाठ, ३ उणादिसूत्र, ४ गणपाठ, ५ लिङ्गानुशासन, ये पांच उपदेश हैं। इनमें अनुनासिक अच् और अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। तवर्ग (त थ द ध न), स् और म् यदि विभक्तिसंज्ञक का होगा, तो उसकी इत्संज्ञा नहीं होगी, अतः लोप भी न होगा। अगला सूत्र है—

आदिर्ञिटुडवः (१।३।५)। (आदिः १।१॥ ञिटुडवः १।३॥)। इसमें भी ऊपर से **'उपदेशे'** और **'इत्'** की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ हुआ—**"उपदेशे आदयः ञिटुडवः इत्** (भवन्ति)" अर्थात् उपदेश के आरम्भ के ञि टु डु की इत्संज्ञा होती है। इससे धातुपाठ में आये **ञिफला विशरणे** (भ्वादि प०), **टुओश्वि गतिवृद्ध्योः** (भ्वादि), **डुपचष् पाके** (भ्वा० उ०) इनके आदि के ञि टु डु की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है।

षः प्रत्ययस्य (१।३।६)। (षः १।१॥ प्रत्ययस्य (६।१॥)। ऊपर से

उपदेशे आदिः की अनुवृत्ति आती है। अतः सूत्र का अर्थ हुआ—उपदेश में प्रत्यय के आदि का ष् इत्संज्ञक (इत्संज्ञावाला) होता है। उसका लोप हो जाएगा। जैसे शिल्पनि ष्वुन् (३।१।१४५) में प्रथम आदि ष् की इत् संज्ञा हो जाती है, ष्वुन् का 'वु' रह जाता है।

अब आया—**चुटू** (१।३।७)। (चुटू १।२॥)। इसमें **प्रत्ययस्य आदिः उपदेशे इत्** इनकी अनुवृत्ति आयी, तो अर्थ बन गया—"**उपदेशे प्रत्ययस्य आदी चुटू इतौ** (भवतः)" अर्थात् उपदेश में प्रत्यय के आदि चु=चवर्ग (च छ ज झ ञ) तथा टु=टवर्ग (ट ठ ड ढ ण) की इत्संज्ञा होवे। इससे जस् [१।३] का 'ज्', और टा [३।१] का 'ट्' इत्संज्ञक होकर इनका लोप हो गया। **हलन्त्यम्** सूत्र से इत्संज्ञा नहीं हो सकती थी, क्योंकि यह सूत्र अन्त्य हल् की इत्संज्ञा करता है, और यहां 'चुटू' आदि हल् की इत् संज्ञा करता है। अब आगे सूत्र है—

लशक्वतद्धिते (१।३।८)। (लशकु १।१॥ अतद्धिते ७।१॥)। इसमें अनुवृत्ति से यह अर्थ बना—"**उपदेशे प्रत्ययस्य आदिः ल् श् कु अतद्धिते इत्** (स्यात्)" अर्थात् उपदेश में प्रत्यय के आदि ल् श् कु=कवर्ग (=क ख ग घ ङ) की इत्संज्ञा होती है। इससे ङे, ङसि, ङस्, ङि के 'ङ्', और शस् के 'श्' की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। अतद्धिते=तद्धिताः (४।१।७६ से ५।४।१६० तक) तद्धित-प्रकरण को छोड़कर। आगे ९वां सूत्र है—

तस्य लोपः (१।३।९)। (तस्य ६।१॥ लोपः १।१॥)। इसका अर्थ तो अब स्पष्ट ही है।

इन सूत्रों से सु का 'स्' रहा, जस्='अस्', औट्='औ', शस्='अस्', टा='आ', ङे='ए', ङसि='अस', ङस्='अस्', ङि='इ', सुप्='सु' रहा। शेष का लोप **तस्य लोपः** से होता है। शेष प्रत्यय अम्, भ्याम्, भिस्, भ्यस्, आम्, ओस् इनके रूप वैसे के वैसे **न विभक्तौ तुस्माः** (१।३।४) के नियम से रह गये। इनको हलन्त शब्दों के आगे लगा देना है। सो 'सुगण्' शब्द में लगाकर बता चुके हैं॥

नवां पाठ

वाच् शब्द के रूप

वाक्-वाग्, वाचः तथा पुरुषः की सिद्धि

वाच्+स्=वाक्-वाग् की सिद्धि इसी पाठ में आगे बतायेंगे। यहां पहले **वाचः** की बताते हैं। **वाच्+जस्** में **चुटू** (१।३।७) से 'ज्' की इत्संज्ञा होने के पश्चात् लोप होकर—वाच+अस्='वाचस्' बना। अब **सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१४) सूत्र लगा। इसका अर्थ है—सुप् (२१ प्रत्यय)तिङ् (तिप् से महिङ् तक १८ प्रत्यय) जिसके अन्त में हों,उसकी पद संज्ञा होती है। इससे 'वाचस्' की पद संज्ञा हो गई, क्योंकि इसके अन्त में जस् (सुपों में तीसरा) है। अब **ससजुषो रुः** (८।२।६६) में **पदस्य** (८।१।१६) का अधिकार आता है। सूत्र का अर्थ हो गया—"**पदस्य**(६।१)**ससजुषोः**(६।२) **रुः** (१।१) (**भवति**)।" अर्थात् पद के अन्त में **वर्तमान स्** और सजुष् शब्दों को 'रु' हो जाता है। इससे स् के स्थान में रु, उसके 'उ' की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२) से इत्संज्ञा होकर **तस्य लोपः** (१।३।६) से लोप होकर हट गया, और **वाच्+अर्** ऐसा बना। अब **विरामोऽवसानम्**(१।४।१०६)—(विरामः १।१।। अवसानम् १।१।।) विराम=समाप्ति का नाम अवसान है। इससे 'र्' की अवसान संज्ञा होकर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८।३।१५) लगा। इसमें ऊपर से **रो रि** (८।३।१४)—(रः ६।१।। रि ७।१।।) से 'रः' (६।१)की अनुवृत्ति आती है। अर्थ हुआ—"**पदस्य**(६।१) **रः** (६।१) **खरवसानयोः** (७।२) **विसर्जनीयः स्यात्**"। अर्थात् खर् परे हो या अवसान में पद के अन्त के 'र्' को विसर्जनीय होकर 'वाचः' बन गया। इसी प्रकार 'वाच्+शस्' में **लशक्वतद्धिते** (१।३।८) से श् की इत्संज्ञा और लोप होकर—वाच्+अस्=वाचस्, तथा ङसि के ङ् की **लशक्वतद्धिते** १।३।८)से, तथा ङसि के इ की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२)से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने पर वाच्+अस्=वाचस् रहा। इसी प्रकार ङस् के ङ् की इत् संज्ञा तथा लोप होकर वाच्+अस=वाचस् होकर इन सब में उपर्युक्त रीति से (वाचस् के समान) **वाचः** बन गया।

वाग्भ्याम्, वाग्भिः, वाग्भ्यः की सिद्धि में विशेष

'भ्याम्-भिस्-भ्यस्' इनमें वाग्भ्याम्-वाग्भिः-वाग्भ्यः ऐसे रूप बनते हैं। सो इनमें 'वाग्भ्याम्' की सिद्धि इस प्रकार है—'वाच्+भ्याम्' इसमें सारे समुदाय की पदसंज्ञा तो **सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१४) सूत्र से हो ही जाती है,क्योंकि 'भ्याम्' सुप् इसके अन्त में है। पर हमें यहां 'वाच्+भ्याम्' में 'वाच्' इतने की भी पदसंज्ञा करनी है। क्योंकि आगे हमने वाच् के च् को पदान्त बनाकर क् और फिर ग् करना है। इसके लिए पाणिनि जी ने पृथक् सूत्र बनाया—**स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१।४।१७)। यहां **'पदम्'** की अनुवृत्ति ऊपर के (१।४।१४) सूत्र से आती है। अर्थ हो गया—स्वादिषु=सु आदि प्रत्यय (४।१।२) से लेकर (५।४।१६०) तक के प्रत्यय परे हों, तो सर्वनामस्थान (सु औ जस् अम् औट् इन ५) को छोड़कर पूर्व की भी पद-संज्ञा हो जावे। यहां **शि सर्वनामस्थानम्** (१।१।४१) से **सुडनपुंसकस्य** (१।१।४२) सूत्र में सर्वनामस्थानम् की अनुवृत्ति आती है। अर्थ—सुट् (१। १) अनपुंसकस्य (६।१) सर्वनामस्थानं (१।१) (भवति)=जो नपुंसक नहीं उसके सुट् (सु से औट् तक ५) की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। सो वाच+भ्याम् में वाच् की पदसंज्ञा हो गई। **चोः कुः** (८।२।३०)–(चोः ६।१।।कुः १।१।।) में **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (८।२।२९)—(स्कोः ६।२।। संयोगाद्योः ६।२।। अन्ते ७।१।। च अ०) से **अन्ते** की, और **पदस्य** (८।१।१६) से **पद** की, और **झलो झलि** (८।२।२६) से **झलि** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बन गया—**चोः कुः झलि पदान्ते (भवति)**=चवर्ग (च छ ज झ ञ) के स्थान में कु= कवर्ग (क ख ग घ ङ) हो जावें, यदि झल् से परे हो या पद के अन्त में हो। सो यहां वाच् की उपर्युक्त रीति से पद संज्ञा होने के कारण झल्परे च् के स्थान में **चोः कुः** से 'क्' हो गया। तब **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९)—(झलाम् ६।३।। जशः १।३।। अन्ते ७।१।।) से क् को 'ग्' होता है। इस सूत्र में **पदस्य** (८।१।१६) का अधिकार आता है। अर्थ बना—**झलां जशः अन्ते पदस्य (भवन्ति)**=पद के अन्त में झलों के स्थान में जश् होते हैं। **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) सूत्र का अर्थ यह है—**स्थाने** (७।१) **अन्तरतमः** (१।१) **(भवति)**=स्थान में होनेवाला आदेश अन्तरतम=सदृशतम अर्थात् सब से अधिक सदृश होता है। सो 'क्' का झल् में 'ग्'[1] सब से अधिक

१. अर्थात् जश् में ज ब ग ड द ये वर्ण आते हैं। इनमें कण्ठस्थानवाले क् के साथ कण्ठस्थानवाला ग् ही समान है। क्योंकि ज का तालु, ब का ओष्ठ, ड का मूर्धा और द का दन्त स्थान है।

समान है (इसका विशेष विवेचन वर्णोच्चारणशिक्षा में है)। इस से क् झल् के स्थान में ग् जश् हो गया।

यहां सातवें दिन के पाठ के अन्त में जो २० प्रकार के हलन्त शब्दों के रूप बताये थे, उन सब की सिद्धि प्रायः करके **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) इस सूत्र से ही हो जाती है। इस सूत्र से क् को ग्, छ के स्थान में (८।२।३६) से हुए ष् को ड्, त् को द्, ध् को द्, प् का ब्, भ् को ब् क्रमशः हो जाता है।

वाच्+सुप् (७।३) परे रहने पर **खरि च** (८।४।५४) से झलों को 'चर्' हो जाता है। इस सूत्र में **झलां जश् झशि** (८।४।५२) से 'झलां' की, और **अभ्यासे चर्च** (८।४।५३) से 'चर्' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—**खरि च झलां चरः भवन्ति**=खर् प्रत्याहार में से कोई अक्षर परे हो, तो झलों के स्थान में चर् हो जाते हैं। सो ग् को 'क्', ट् को 'ट्' द् को त्, भ् को प् हो जाते हैं।

वाच्+सु=**चोः कुः** (८।२।३०) से कुत्व होकर, और **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) से जश्, और **खरि च** (८।४।५४) से चर् होकर, और आगे **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५९) से सु के सकार को षत्व हो जाता है। इसमें ऊपर से **'इण्कोः'** (८।३।५७) से **इण् कोः**, और **सहेः साडः सः** (८।३।५६) से 'सः', और **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** (८।३।५५) से मूर्द्धन्यः की अनुवृत्ति आकर अर्थ बना—इण् और कवर्ग से परे आदेश और प्रत्यय के सकार को मूर्द्धन्य हो जावे। इससे मूर्द्धन्य ष्, तथा **खरि च** (८।४।५४) से ग् को चर् क् होकर वाक्षु (=वाक्षु) बनता है।

प्रथमा के एक वचन में—वाच् सु=वाच् स् रहा। अब हमें वाच् स् में स् का लोप करना है। अतः पहिले **अपृक्त एकाल्प्रत्ययः** (१।२।४१)—(अपृक्तः १।१।। एकाल् १।१।। प्रत्ययः १।१।।) सूत्र अपृक्त संज्ञा करता है। सो एक अल्‌रूप प्रत्यय की 'अपृक्त' संज्ञा होती है। इससे 'स्' की अपृक्त संज्ञा (नाम) होकर **'हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** (६।१।६६)= हलन्त, दीर्घ ङ्यन्त और आबन्त से परे सु ति सि के अपृक्त हल् का लोप हो जावे। इससे अपृक्त स् का लोप होता है। इस सूत्र में ऊपर के **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६४) से **'लोपः'** की अनुवृत्ति (६।१।६८) सूत्र तक जाती है। 'सु' के 'स्' का लोप होने पर पूर्ववत् **'चोः कुः'** से कुत्व होकर 'वाक्', और **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) लगकर 'वाग्' बन गया। **वाऽवसाने** (८।४।५५)—(वा अ०। अवसाने ७।१।।) में ऊपर के **झलां जश् झशि**

(८।४।५२) से 'झलां' की और **अभ्यासे चर् च** (८।४।५३) से 'चर्' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—'**अवसाने झलां वा चर् [भवति]'**= अवसान में झलों को विकल्प करके चर् हो जावे। 'सो 'वाक्, वाग्' दो रूप बन गए।

वाचम्, वाचोः, वाचाम् आदि में **न विभक्तौ तुस्माः** (१।३।४) से म् स् की इत् संज्ञा का निषेध होकर—वाच+अम् आदि केवल मिल गए, और **वाचम्, वाचो वाचाम्** रूप बन गए। कोई सूत्र नहीं लगा।

ऊपर गिनाये गए २० शब्दों में '**ऋत्विज् वणिज्**' के रूप 'वाच्' के समान ही समझने चाहियें। '**सरट् मरुत् सम्पद् समिध् सुप् ककुभ्**' के रूप भी 'वाच्' के समान ही चलते हैं। शेष '**दण्डिन्, गिर, दिव्, दिश्, प्रावृष्, पयस्, गोदुह्**' के रूपों में कुछ विशेष कार्य होता है, उसे आगे बतावेंगे।

सूत्रशैली का महत्त्व

इस प्रकार २० प्रकार के हलन्त शब्दों की सिद्धि भी इतने में ही सब की सब समझ में आ जाती है। २० प्रकार के शब्दों के रूप रटने नहीं पड़ते हैं।

विदित रहे कि इस एक **सुगण् वा वाच्** शब्द की सिद्धि से इन २० प्रकार के हलन्त शब्दों के रूप तो समझ में आ ही गए। इससे बहुत से शब्दों की सिद्धि अनायास हो बिना विशेष बाधा के समझ में आने लगती है। हमारा कहना यह है कि सूत्रशैली से अल्प समय में कितने कम परिश्रम से कितना अधिक ज्ञान हो जाता है। आगे ५-७ शब्दों की सिद्धि जान लेने से तो सम्पूर्ण सुबन्त शब्दों की सिद्धि सहज में समझ में आ जाती है। इस सम्बन्ध में 'शब्दरूपावली' के चक्कर में कदापि न पड़ना चाहिये[1], न छात्र को इसमें डालना चाहिये। अध्यापक पहिले **२५-३०** मुख्य उत्सर्ग शब्दों की सिद्धि ही पढ़ावें। इसके पश्चात् **नामिक**[2] के आधार पर अध्यापक आगे

---

१. यहां 'शब्दरूपावली' से अभिप्राय उन शब्दरूपावलियों से है, जिन में आरम्भ में राम अग्नि आदि अजन्त शब्दों के रूप लिखे गये हैं। उन्हें रटकर याद करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। परन्तु हमने ग्रन्थकार के अभिप्राय को ध्यान में रख कर अभी-अभी रा० ला० क० ट्रस्ट की ओर से 'शब्दरूपावली' छपवाई है। उसका आश्रय लेने से छात्रों को शब्दरूप रटने नहीं पड़ते। साधारण नियम जो कि उसमें दर्शायें हैं, उनके ज्ञानमात्र से वे स्वयं रूप चलाने में समर्थ हो जाते हैं। यु०मी०

२ यह ग्रन्थ वै० यं० अजमेर का छपा हुआ है। छात्रों की सुगमता के लिये अत्युपयोगी नाम शब्दों तथा धातुओं के रूप हमने ग्रन्थकार की शैली से ही इसके दूसरे भाग में प्रकाशित किये हैं। अतः अब नामिक के स्थान में सरलतमविधि के दूसरे भाग का आश्रयण करना अधिक अच्छा होगा। यु० मी०

पढ़ाते जावें। भण्डारकर पद्धति वा स्कूल कालेजों की पद्धति से भी शब्द-रूप सब रट कर ही याद करने पड़ते हैं। उधर लघुकौमुदी आदि में यद्यपि सिद्धि सूत्रों द्वारा कराई जाती है, पर वहां सूत्रों के अर्थ का कुछ भी स्वाभाविक बोध नहीं होता (रटा हुआ बोध कुछ थोड़ासा ही रहता है)। अतः भण्डारकर-पद्धतिवाले समझकर पढ़ने से फिर भी कुछ अधिक लाभ उठा लेते हैं। परन्तु अष्टाध्यायी-पद्धति से क्रमशः ज्ञान बढ़ता है, और समझकर चलने के कारण स्मृति में चिरस्थायी रहता है। यह ज्ञान क्रमशः सुसम्बद्ध स्मृति में बढ़ता हुआ एक मास में कहीं से कहीं पहुंचता है,जो दूसरी पद्धति से वर्ष-भर में भी नहीं होता। यह अनुभव की बात है, दोष दिखाने की बात नहीं।

हमारा दृढ़ विश्वास और अनुभव है कि **सूत्र-पद्धति 'भण्डारकर-पद्धति' से भी अत्यन्त सुगम सुग्राह्य अल्प समय और अल्प परिश्रम-साध्य है। पढ़ानेवाले अध्यापकों का छात्र-स्नेही और परिश्रमी होना आवश्यक है।**

'पुरुषः' की सिद्धि

'पुरुषः' और **'वाचः'** में दो एक सूत्रों को छोड़कर शेष सब सूत्र प्रायः करके समान ही लगते हैं। अतः उससे 'पुरुषः'की सिद्धि अनायास ही समझ में आ जाती है। सो उसे दर्शाते हैं—

पुरुष+सु, यहां सब सूत्र वे ही लगे, जो 'वाच्+सु' में लगे थे, अर्थात् प्रातिपदिक संज्ञा से लेकर 'पुरुष+सु' तक। आगे वाच्+अस्=वाचः में जो-जो सूत्र विसर्जनीय करने में लगे, सर्वथा वे ही पुरुष+सु में लगकर स् को विसर्जनीय होकर **'पुरुषः'** बन जाता है।

इसी प्रकार अग्नि+सु=**अग्निः**, वायु+सु=**वायुः**, मति+सु=**मतिः**, धेनु+सु=**धेनुः**।

इन शब्दों की सिद्धि में भी सर्वथा वे ही सूत्र लगते हैं। "एकहि साधे सब सधे" ये सब शब्द एक सूत्र (४।१।२) से बन गये। अर्थात् एक फारमूला से जितने भी नाम हैं, उनके रूप बन जाते हैं। उधर एक-एक ही फारमूला (सूत्र) से लगभग २००० दो हजार धातुओं के रूप भी दस लकारों में तथा कृदन्त प्रत्ययों में सिद्ध हो जाते हैं। इसी का नाम व्याकरण है। मुख्य व्याकरण यही है कि नाम और आख्यात शब्दों का वर्गीकरण करके रूपों का बोध कराना।

'पुरुषः' शब्द की सिद्धि का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिये—

पुरुष — **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (१।२।४५) से प्रातिपदिक संज्ञा होती है।
ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) के अधिकार में,
स्वौजस्मौट्० (४।१।२) से २१ सुप् आ गये।
प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से आगे[1] आ गये।
सुपः (१।४।१०२) से सुप् के तीन-तीन की एकवचन द्विवचन और बहुवचन संज्ञा हुई।
विभक्तिश्च (१।४।१०३) से विभक्ति संज्ञा हो गई।

पुरुष सु — **प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा** (२।३।४७) से प्रथमा होकर, **द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने** (१।४।२२) से एकवचन में 'सु' आया।

पुरुष स् — **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२) से 'उ' की इत् संज्ञा।
तस्य लोपः (१।३।९) और **अदर्शनं लोपः** (१।१।५९) से लोप होकर स् रहने पर **सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१४) से पदसंज्ञा होकर **पदस्य** (८।१।१६), **ससजुषो रुः** (८।२।६६) से 'रु' होकर, उ की पूर्ववत् **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत् संज्ञा और लोप होकर, 'र्' की **विरामोऽवसानम्** (१।४।१०९) से अवसान संज्ञा होकर, **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८।३।१५) से विसर्जनीय हो गया। और—

पुरुषः — 'पुरुषः' सिद्ध हो गया।

यहां **वाचस्=वाचः** में जो सूत्र लगे, वे ही '**पुरुषः**' में लगे। एक भी सूत्र नया नहीं।

पाठक देखें कि एक के जान लेने से आगे कितना ज्ञान स्वयं बढ़ता है। ईंटों की दोवार के समान रदे पर रदा लगा कर दावारें खड़ी हो रही हैं, आगे भवन खड़ा हो जाना है॥

---

१. आगे का अभिप्राय दाहिने हाथ आगे बैठेगा। पुरुष शब्द के बायें हाथ पहिले नहीं बैठेगा। ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिये।

दसवां पाठ

'पठति' की सिद्धि

आज हमें "पठति" की सिद्धि बतानी है। छठे दिन के पाठ में हम **वर्त्तमाने लट्** (३।२।१२३) का अर्थ बता चुके हैं। **'पठ व्यक्तायां वाचि'** (=स्पष्ट बोलने अर्थ में) यह धातुपाठ में पढ़ा है। इसकी—

पठँ — **भूवादयो धातवः**(१।३।१)से पठ् की धातु संज्ञा होकर,धातुपाठ के पाणिनि का उपदेश होने के कारण **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२) से ठँ के अनुनासिक 'अँ' की इत् संज्ञा होकर, **तस्य लोपः** (१।३।९) अर्थ=जिसकी इत् संज्ञा की, उसका लोप हो। तथा **अदर्शनं लोपः**(१।१।५९)अर्थ—अदर्शन की लोप संज्ञा होती है। इससे लोप होकर **पठ्** रहा।

पठ् — **धातोः** (३।१।९१) से धातु के अधिकार में **वर्त्तमाने लट्** (३।२।१२३)से लट् प्रत्यय आया। **प्रत्ययः,परश्च**(३।१।१,२)से परे आ गया।

लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः(३।४।६९) —(लः १।३।।कर्मणि ७।१।। च ०।। भावे ७।१।। च अ०।। अकर्मकेभ्यः ५।३।।), यहां **कर्त्तरि कृत्** (३।४।६७)से **'कर्त्तरि'** की अनुवृत्ति आती है। धातु का अधिकार है ही। सूत्र का अर्थ बना—धातु से आनेवाले लकार सकर्मक धातुओं से कर्त्ता और कर्म (तथा अकर्मक धातुओं से कर्त्ता और भाव में) में होते हैं। 'पठ्' सकर्मक है, इसलिये कर्त्ता में लट् आया।

पठ् लट् — **हलन्त्यम्** (१।३।३) से 'ट्' की, तथा **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२) से 'लँ'के 'अँ' की इत् संज्ञा हुई और लोप होकर—

पठ ल् — **लस्य** (३।४।७७) से ल् के स्थान में—
तिप्तस्झि० (३।४।७८) ये १८ प्रत्यय, **प्रत्ययः परश्च** (३।१।१,२)से आगे आये। हमें एक प्रत्यय चाहिये, सो **लः परस्मैपदम्** (१।४।९८)=ल् के स्थान में आनेवाले आदेश परस्मैपदसंज्ञक होते

हैं। इससे ल् के स्थान में आए तिप् आदि १८ की पहिले परस्मैपद संज्ञा प्राप्त हुई।

तङानावात्मनेपदम्(१।४।९९)–(तङानौ १।२।। आत्मनेपदम् १।१।।) से तङ्=त से ङ् तक ९ तथा 'आन'[1] की आत्मनेपद संज्ञा हो गई।

शेष बचे पहिले परस्मैपदसंज्ञक रह गये।

शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८)—(शेषात् ५।१।। कर्त्तरि ७।१।। परस्मैपदम् १।१।।) शेष (जिनसे आत्मनेपद कहा है, उनसे बचे) धातुओं से कर्त्ता में परस्मैपद होता है। इससे शेष 'पठ्' परस्मैपदी धातु से परस्मैपद के प्रत्यय आवेंगे।

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः(१।४।१००)–तिङः ६।१।। त्रीणि १।३।। त्रीणि १।३।। प्रथममध्यमोत्तमाः १।३।।) तिङ् के तीन-तीन 'तिप् तस् झि' इत्यादि त्रिकों की प्रथम मध्यम उत्तम संज्ञा होती है।

शेषे प्रथमः (१।४।१०७)—(शेषे ७।१।। प्रथमः १।१।।) युष्मद् अस्मद् को छोड़कर शेष का (तिङन्त क्रिया के साथ समानाधिकरण)सम्बन्ध होने पर प्रथम पुरुष होता है। इससे प्रथम पुरुष के 'तिप् तस् झि' तीनों प्राप्त हुए। सो—

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः(१।४।१०१) (तानि १।३।। एकवचन···नानि १।३।। एकशः अ०) ऊपर के तिङ् के तीन-तीन की एक-एक करके एकवचन द्विवचन और बहुवचन संज्ञा हो गई। इससे तिप् की एकवचन संज्ञा हुई।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने(१।४।२२)—(द्व्येकयोः ७।२।। द्विवचनैकवचने १।२।।) एक की विवक्षा(=कहने की इच्छा) में एकवचन तथा दो की विवक्षा में द्विवचन होता है। इससे एक की विवक्षा(=कहने की इच्छा) में तिप् आ गया।

पठ् तिप् **तिङ्शित् सार्वधातुकम्**(३।४।११३)—(तिङ्शित् १।१।। सार्वधातुकम् १।१।।)। **'धातोः' 'प्रत्ययः परश्च'** का अधिकार है। अर्थ हो गया—धातु से परे तिङ् (१८) और शित्=जिसका श् इत्-

---

१. शानच् (३।२।१२४) तथा कानच् (३।२।१०६) प्रत्ययों को 'आन' कहा गया है। शानच् प्रत्यय के लिये देखें पृ० २२५।

संज्ञक हो, ऐसा प्रत्यय सार्वधातुक संज्ञावाला हो जावे। इससे तिप् की सार्वधातुक संज्ञा हो गई।

कर्त्तरि शप्(३।१।६८)—(कर्त्तरि ७।१।। शप् १।१।।) में **सार्वधातुके यक्** (३।१।६७) से '**सार्वधातुके**' की अनुवृत्ति (जो ३।१।८४ तक जाती है) आकर अर्थ हुआ—कर्त्तृ वाचक सार्वधातुक परे हो तो धातु से शप् हो। अतः **शप्** बीच में आ गया।

पठ् शप् तिप् हलन्त्यम् (१।३।३) से दोनों के प् की, **लशक्वतद्धिते** (१।३।८) से श् की इत्संज्ञा, और **तस्य लोपः** (१।३।६) **अदर्शनं लोपः** (१।१।५०) से लोप होकर—

पठ् अ ति=पठति बन गया।

ऐसे ही **चल् शप् तिप्** से चलति, तप्—तपति, वद्—वदति, पत्—पतति आदि रूप उन-उन धातुओं से बन जाते हैं।

अब आगे **पठ् शप् तस्**=पठ् अ तस्; यहां **विभक्तिश्च**(१।४।१०४) से **तस्** की विभक्ति संज्ञा होने से **न विभक्तौ तुस्माः** (१।३।४) से 'स्' की इत्संज्ञा का निषेध होकर लोप नहीं हुआ। **सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१) से 'तस्' के तिङ् (१८) में से होने के कारण पदसंज्ञा होकर स् को विसर्जनीय पूर्ववत् 'वाचः' की तरह होकर=**पठतः** हो गया।

पठसि, पठथः, पठथ में कोई नया सूत्र नहीं लगेगा।।

ग्यारहवां पाठ

पठति पठतः से आगे शेष रूप

बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१)—(बहुषु ७।३।।बहुवचनम् १।१।।) बहुत अर्थ कहने में बहुवचन होता है। इससे 'झि' होकर **पठ् शप् झि** में **झोऽन्तः** (७।१।३)—(झः ६।१।। अन्तः १।१।।), यहां **यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्**(१।४।१३)=**यस्मात्** जिस(धातु वा प्रातिपदिक)से **प्रत्ययविधिः** प्रत्यय की विधि हो,**तदादि** वह(=धातु वा प्रातिपदिक)आदि में है जिसके, वह तदादि शब्दरूप(समुदाय)**प्रत्यये** प्रत्यय रहने पर(जितना भाग है)उसकी **अङ्गम्** अङ्ग संज्ञा होती है। इससे पठ् की अङ्ग संज्ञा होकर **अङ्गस्य** (६।४।१) से अङ्ग का अधिकार है, ७।१।२ से **प्रत्ययस्य** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—अङ्गसम्बन्धी प्रत्यय के झ् के स्थान में 'अन्त्' आदेश हो जाता है। इससे झ् के स्थान में अन्त् होकर झि की इ मिलकर **'अन्ति'** हो गया=**पठ् शप् अन्ति**=पूर्ववत् श् प् को इत् और लोप होकर 'पठ् अ अन्ति' बना। अ अ मिलकर **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।९७) से दीर्घ प्राप्त होता है, वह न होकर **अतो गुणे** (६।१।९४)—(अतः ५।१।। गुणे ७।१।।) लगा। इसमें **एकः पूर्वपरयोः** (६।१।८१) सूत्र का अधिकार है। **एङि पररूपम्**(६।१।९४) से **पररूप** की, और **उस्यपदान्तात्** (६।१।९३) से **अपदान्तात्** की अनुवृत्ति आती है। अतः सूत्र का अर्थ हुआ—**अपदान्तात्** अपदान्त **अतः** ह्रस्व अकार से परे **गुणे** गुण(अ ए ओ)में से कोई हो,तो पूर्व पर के स्थान में पररूप(अ) एक आदेश हो जाता है। इससे पठ् अन्ति=**पठन्ति** बन गया।

अब **पठ् शप् मिप्**=पठ्+अ+मि, यहां **यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (१।४।१३) से अङ्ग संज्ञा हो जाती है। **अङ्गस्य** (६।४।१) के अधिकार में **अतो दीर्घो यञि**(७।३।१०१)—(अतः ६।१।।दीर्घः १।१।। यञि ७।१।।)**यञि** [1]यञादि सार्वधातुक परे हो,तो **अतः** [2]अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो।

---

१. यहां इतना और समझ लेना है कि 'यञि' का अर्थ है—यञ् प्रत्याहार में कोई अक्षर परे हो। सो यञ से यञ् आदि (यञ् प्रत्याहारस्थ आदि) वाला अर्थ कैसे हो गया ? इसमें परिभाषा है—**'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे'** (पारिभाषिक ३३) जिसका अर्थ यह है कि—जहां अल् के परे रहते विधि कही हो,वहां वह अल् है आदि में जिसके उसको कार्य होता है, ऐसा समझना चाहिये।

२. इसी प्रकार अत्=अदन्त, अर्थात् अत् से अदन्त कैसे लिया गया,इस में **'येन**

यहां ७।३।८७ से **सार्वधातुके** की अनुवृत्ति आती है। सो 'पठ् अ मि' से **पठामि** बन गया। इसी सूत्र से 'पठ् अ वस्' = **पठावः**, 'पठ् अ मस्' = **पठामः** बन गया। स् को विसर्जनीय पूर्ववत् होता है। **पठसि पठथः, पठथ** रूप स्वयं बनालो।

यहां एक बात और विशेष ध्यान देने की है, वह है 'पठति' 'पठामि' आदि की सिद्धि में लगनेवाले सूत्रों का क्रम हमारी पद्धति में बुद्धि से समझ लेना होता है, रटना नहीं होता। जैसे पठ् की जब तक धातु संज्ञा नहीं कर लेंगे, तब तक उससे 'लट्' नहीं आ सकता। उसके पीछे 'तिप्' लाने के लिये क्रमशः १।३।६८ से १०१ तथा १०७ आदि सूत्र लगाकर होनेवाले कार्य से छात्र समझ लेगा कि इस सूत्र के पीछे यह सूत्र क्यों लगा। दो-चार बार लगाने से सूत्रों का क्रम बुद्धि में बैठ जायेगा। आवश्यकता उत्पन्न होने पर स्वतः लगते जायेंगे, रटने की आवश्यकता न होगी। हां, पुनः पुनः अभ्यास में लाना होगा। एक प्रकार की सिद्धि का अभ्यास हो जाने पर सैकड़ों नहीं सहस्रों सिद्धियां छात्र स्वयं कर लेगा। सिद्धि को यही अद्भुत महिमा है। हमारी पद्धति से १५ दिन में पढ़कर छात्र द्वारा की हुई सिद्धि कौमुदीक्रम से पढ़ा हुआ छात्र ६ मास में भी नहीं कर सकता।

भू धातु के 'भवति' आदि रूप

अब हम 'भवति' की सिद्धि बताते हैं। सो इसमें **'भू शप्' तिप्** आने में तो 'पठति' के समान सब के सब वे ही सूत्र लगकर 'भू अ ति' हुआ। शप् के शित् होने से **तिङ्शित् सार्वधातुकम्** (३।४।११३) से सार्वधातुक संज्ञा हो गई। इस सार्वधातुक को परे मानकर **सार्वधातुकार्धकातुकयोः** (७।३।८४) से गुण होता है। इस सूत्र में **मिदेर्गुणः** (७।३।८२) से **गुणः** की अनुवृत्ति है, जो **भूसुवोस्तिङि** (७।३।८८) तक जाती है। **अङ्गस्य** का अधिकार है ही। अतः सूत्र का अर्थ बना—**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**=सार्वधातुक वा आर्धधातुक परे हो, तो **इको गुणवृद्धी** (१।१।३) [गुण हो वृद्धि हो ऐसा कहकर अर्थात् वृद्धि और गुण शब्दों द्वारा जहां गुण वृद्धि कहें, वहां इक् के स्थान में हो।] से इक् अन्तवाले **अङ्गस्य**=अङ्ग को **गुणः**=गुण हो जावे। **अदेङ् गुणः** (१।१।२) ने बताया—'अ, ए, ओ' को 'गुण' कहते हैं। और **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) ने कहा कि—स्थान में जो सब से अधिक समान हो, वही होवे। सो यहां 'ऊ' के साथ स्थान और प्रयत्न सब से अधिक 'ओ' का मिला। अतः ऊ को 'ओ' गुण होकर—**भो अ ति** बना। अब **एचोऽयवायावः** (६।१।७५)—

विधिस्तदन्तस्य' १।१।७१ से तदन्त विधि ली जाती है। देखो—आगे पाठ २१।

(एचः ६।१।। अयवायावः १।३।।) यहां ६।१।७० से **'संहितायाम्'** तथा ६।१।७३ से **अचि** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—अच् परे हो तो संहिता के विषय में ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय्, औ को आव् हो जाता है। इससे ओ के स्थान में 'अव्' होकर **भव्+अ+ति=भवति** बन गया। आगे सब रूप 'पठति' के समान चलेंगे।

तौ भवतः में तस् के स् को १।३।३से इत् संज्ञा प्राप्त है,पर **न विभक्तौ तुस्माः** (१।३।४) से नहीं होती।

ते भवन्ति इसमें ६।१।९७ से दीर्घ प्राप्त होता है, पर **अतो गुणे** (६।१।९४) से पररूप अ ही रह जाता है।

त्वं भवसि, युवां भवथः, यूयं भवथ। अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः स्वयं बना लो। यहां गुण अधिक हुआ, शेष सब रूप पूर्व पठ धातु के रूपों के समान ही हैं।

७ से ११ पाठों का सिंहावलोकन

७ वें पाठ में हमने **सुगण्** शब्द के रूप बताए। और २० प्रकार के हलन्त शब्दों के रूप भी एक ही सूत्र (फारमूला) **स्वौजस्०** (४।१।२) से बनते हैं, यह बताया। और उसके २१ प्रत्ययों के असली तथा शुद्ध किये रूप बता कर दिखाये।

८ वें पाठ में इत्संज्ञा प्रकरण सब का सब सोदाहरण बताकर **वाच्** शब्द के द्वारा उसे हस्तामलक कराया गया। ये इत्संज्ञा के सूत्र सिद्धि में सर्वत्र लगेंगे।

९ वें पाठ में 'वाच्' शब्द के सब रूपों की सिद्धि सूत्रों द्वारा की गई। जिसमें पदसंज्ञा का स्वरूप, तथा हलन्त शब्दों की सिद्धि का मुख्य सूत्र **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) समझाया गया। अन्त में **'पुरुष'** शब्द की सिद्धि में 'वाचः' और 'पुरुषस्' में सब सूत्र एक जैसे लगे, अतः 'पुरुषः' की सिद्धि भी दिखा दी गई।

१० वें पाठ में पठ धातु के पठति पठतः की सिद्धि सब सूत्र लगाकर दिखाई गई। और साथ ही चलति, तपति, वदति, पतति की सिद्धि भी बताई गई।

११ वें पाठ में तिप् (एकवचन) पठति पठतः से आगे पठन्ति, पठामि, पठावः, पठामः, तथा भू धातु के रूपों की सिद्धियां बतलाई गई।

यह ७ से ११ दिन के पाठों का सिंहावलोकन है॥

बारहवां पाठ

दीव्यति, तुदति, सुनोति

अब दस गणों के एक-एक धातु के लट् में रूप सिद्ध करके बताते हैं। रटने का काम नहीं। सो इस प्रकार बनेंगे—

(२) **दीव्यति**—'पठ् शप् तिप् के समान सब सूत्र पूर्ववत् लगकर दिवु (दिवादि परस्मैपद) के 'उ' की इत्संज्ञा पूर्ववत् होकर दिव् शप् तिप् पूर्ववत् हो गया। इसके पीछे **दिवादिभ्यः श्यन्** (३।१।६९)—(दिवादिभ्यः ५।३॥ श्यन् १।१॥) से शप् के स्थान में श्यन् हो जाता है। इसमें **सार्वधातुके** और **शप्** की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ हो गया—कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे हो, तो दिवादिगण की सब धातुओं से परे शप् के स्थान में श्यन् आदेश हो जाता है।

इस प्रकार से शप् के स्थान में 'श्यन्' हो गया। **दिव् श्यन् तिप्**, न् प् की **हलन्त्यम्** (१।३।३) से, श् की **लशक्वतद्धिते** (१।३।८) से पूर्ववत् इत् संज्ञा और लोप होकर **'दिव् य ति'** रहा। अब 'य' शित् होने से **तिङ्शित् सार्वधातुकम्** (३।४।११३) से सार्वधातुक हो गया। तब **ह्रस्वं लघु** (१।४।१०) से ह्रस्व की लघु संज्ञा होती है। इससे दिव् के 'इ' की लघु संज्ञा होकर **पुगन्तलघूपधस्य च** (७।३।८६)—(पुगन्तलघूपधस्य ६।१॥ च अ०।) से गुण प्राप्त होता है। इसमें **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** की, तथा **मिदेर्गुणः** (७।३।८२) से **गुणः** की अनुवृत्ति आ रही है। अब **अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा** (१।१।६४)—(अलः ५।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वः १।१॥ उपधा १।१॥)—**अन्त्यात् अलः पूर्व उपधा भवति**= अन्त्य अल् से पहिले अक्षर की उपधा संज्ञा होती है। इससे दिव् के अन्त्य अल् 'व्' से पूर्व 'इ' की उपधा संज्ञा हो गई। यहां 'इ' लघु है, सो **पुगन्तलघू०** सूत्र का अर्थ हुआ—पुगन्त तथा लघु उपधावाले अङ्ग को (अङ्ग की उपधा इक् को) गुण हो जावे, सार्वधातुक आर्धधातुक परे हो तो। सो गुण प्राप्त हुआ, पर श्यन् का 'य' शित् होने से सार्वधातुक है। अतः **सार्वधातुकमपित्** (१।२।४)—(सार्वधातुकम् १।१॥ अपित् १।१॥) से वह ङित्वत् होता है। इस सूत्र में ङित् की अनुवृत्ति (१।२।१) से आ रही है। अतः अर्थ हुआ—

अपित्=जो पित् नहीं, ऐसा सार्वधातुक ङित्वत् हो[1]। वैसे तो ङित् वह कहाता है जिसका ङ् इत् हो। श्यन् में तो ङ् है नहीं, अतः इस (१।२।४) सूत्र से अतिदेश मानकर यह ङित्वत्=ङित् के समान माना गया। सो 'य' ङित्वत् हो गया। अब **क्ङिति च** (१।१।५) में **इको गुणवृद्धी न** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—कित् गित् ङित् को मानकर होनेवाले गुण वृद्धि इक् के स्थान में न हों। यहां **क्ङिति च** में निमित्तसप्तमी है। सो इससे दिव् को गुण न हुआ, और **हलि च** (८।२।७७) से दीर्घ हो गया। यहां **सिपि धातो रुर्वा** (८।२।७४)से **धातोः** की, तथा **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (८।२।७६) से पूरे सूत्र की अनुवृत्ति आकर अर्थ हुआ—रेफ वकरान्त धातु की जो उपधा इक् उसको दीर्घ हो, हल् परे हो तो। दीर्घ होकर **'दीव्यति'** बना। आगे पठति की तरह सब के सब रूप बनेंगे—**दीव्यति दीव्यतः दीव्यन्ति, दीव्यसि दीव्यथः दीव्यथ, दीव्यामि दीव्यावः दीव्यामः**। इनकी सिद्धि पूर्ववत् सारी की सारी हो गई। इसमें शप् के स्थान में **दिवादिभ्यः श्यन्** से श्यन् और **क्ङिति च** से गुण का निषेध, और **हलि च** से दीर्घ होना इतना ही विशेष है, शेष सब रूप पठति के समान हैं।

(३) **तुदति**–तुद के अनुनासिक अकार की१।३।२से इत्संज्ञा और लोप होने पर तुदादि गण की धातु होने से पूर्ववत् 'तुद् शप् तिप्'होने पर **तुदादिभ्यः शः**(३।१।७७)=कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो, तो तुदादिगण की सब धातुओं से परे शप् के स्थान में 'श'होता है। सो यहां भी 'शप्' के स्थान में 'श'होकर 'तुद् श तिप्'रहा। पूर्ववत् इत् संज्ञा और लोप होकर'तुद् अ ति'। इसमें श का अ श्यन् के समान (३।४।११२) से सार्वधातुकसंज्ञक है। अतः लघूपधगुण (७।३।८६ से) प्राप्त हुआ। पूर्ववत्(१।२।४ से)ङित्वत् होकर और **क्ङिति च** (१।१।५) से गुण का निषेध होकर'तुद् अ ति'=**तुदति** बना। आगे **तुदतः तुदन्ति, तुदसि तुदथः तुदथ, तुदामि तुदावः तुदामः**। इनमें भी सब रूप पूर्ववत् ही सूत्र लगाकर बन जाते हैं। दीव्यति में दीर्घ अधिक होता है, शेष सूत्र तुदति और दीव्यति में सब के सब वही हैं। पठनार्थी को समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं।

---

१. जो प्रत्यय शित्=श् इत्वाला तथा तिङ् हो वह सार्वधातुकसज्ञक होता है। इस से शप् तिप् तस् आदि की सार्वधातुक संज्ञा होती है। उपरिनिर्दिष्ट सूत्र से सार्वधातुक को ङित्वत् कहा है, परन्तु जो सार्वधातुक पित्=पकार इत्वाला होता है, वह ङित्वत् नहीं होता। इस कारण शप् तिप् सिप् मिप् ङित्वत् नहीं होते। तस् झि आदि तथा श्यन् श श्नु आदि ङित्वत् हो जाते हैं।

(४) **सुनोति**—षुञ् में ञ् की (१।३।३) से इत् संज्ञा होकर लोप हुआ। **धात्वादेः षः सः** (६।१।६२)—(धात्वादेः ६।१।। षः ६।१।। सः १।१।।) धातु के आदि ष् के स्थान 'स्' होता है। इससे धातु के आदि के 'ष' को 'स' होकर 'सु+शप्+तिप्' पूर्ववत् होनेपर **स्वादिभ्यः श्नुः** (३।१।७३)—कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो, तो स्वादिगण की धातुओं से परे शप् के स्थान में श्नु हो जाता है। इससे 'सु श्नु तिप्' हुआ। इत् संज्ञा और लोप होकर 'सु नु ति' में 'नु' के उ को, पूर्ववत् ति को सार्वधातुक मानकर **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) से गुण होकर '**सुनोति**' बना। सुनोति में सु को, श्नु वा नु के शित् होने से सार्वधातुक मानकर पूर्ववत् गुण प्राप्त तो होता है, पर दीव्यति के श्यन् के समान श्नु को भी ङित्वत् मानकर **क्ङिति च** से गुण का निषेध हो जाता है। सो **सुनोति** ऐसा बना। 'सुनुतस्' में तस् के सार्वधातुक होने से ऊपर के समान तस् को ङित् मानकर गुण नहीं होगा। रूप बना—सुनुतः। सुन्वन्ति में **हुश्नुवोः सार्वधातुके** (६।४।८७) यहां **इणो यण्** (६।४।८१) से यण् की, तथा **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** (६।४।८२) से **असंयोगपूर्वस्य** की, तथा (६।४।१) से **अङ्गस्य** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ यह बना—अनेकाच् असंयोगपूर्व हु अङ्ग तथा श्नुप्रत्ययान्त को यण् आदेश हो जावे, अजादि सार्वधातुक परे हो तो। इससे यण् होता है, यह सूत्र अधिक लगा। 'सुनोसि' पूर्ववत् बनकर इसमें **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५९) (इस सूत्र की व्याख्या ९ वें पाठ में पृष्ठ ५३ पर देखें) से सिप् प्रत्यय के सकार को षत्व होकर—सुनोषि बना। **सुनोषि सुनुथः सुनुथ**। **सुनोमि** में पूर्ववत् सब हुआ। **सुनुवः सुनुमः** में सुनुतः की तरह सब सिद्धि होगी। इसमें **लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः** (६।४।१०६)—(लोपः १।१।। च अ०।। अस्य ६।१।। अन्यतरस्याम् अ० ।। म्वोः ७ २।।) लगा। इसमें ऊपर से **उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्** (६।४।१०६) की अनुवृत्ति आकर अर्थ बना—वकारादि मकारादि प्रत्यय परे हो तो असंयोगपूर्व जो उकार, तदन्त[1] अङ्ग के प्रत्यय का विकल्प से लोप हो जाता है। इससे प्रत्यय के उकार का विकल्प से लोप हो जाता है। अतः लोप होकर 'सुन्वः' 'सुन्मः' भी बने। और जब लोप नहीं हुआ, तो 'सुनुवः' 'सुनुमः' ऐसा बन गया। जिस सूत्र का अर्थ कठिन जान पड़े, अष्टाध्यायी भाष्य या काशिका में से निकाल कर देख लेना चाहिये ।।

---

१. तदन्त तदादि कैसे कहा, इसके विषय में ११वें पाठ की टिप्पणी देखें (पृष्ठ ६१)।

तेरहवां पाठ

तनोति, क्रीणाति, अत्ति, जुहोति

(५) **तनोति**—'तनु' में इत् संज्ञा और लोप होकर—तन् शप् तिप्। **तनादिकृञ्भ्य उः** (३।१।७९)=तनादिगण का धातु होने से पूर्ववत् 'शप्' के स्थान में 'उ' होकर 'तन् उ तिप्' के 'तन् उ ति' में पूर्ववत् तिप् को सार्वधातुक मानकर **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) से गुण होकर **तनोति** बना। **तनुतः** में पूर्ववत ङित्वत् और 'क्ङिति च' से गुण का निषेध हो जाता है =तनुतः बनता है। **तन्वन्ति**—तन् उ अन्ति में गुण का निषेध होने पर (६।१।७४) से यण् होकर—**तन्वन्ति। तनोषि, तनुथः, तनुथ। तनोमि, तनुवः-तन्वः, तनुमः-तन्मः** पूर्ववत् (६।४।१०७) से ऐसे दो रूप बनते हैं।

(६) **क्रीणाति**— डुक्रीञ् में इत् संज्ञा और लोप होकर—क्री शप् तिप् में **क्र्यादिभ्यः श्ना** (३।१।८१)—सार्वधातुक परे हो तो क्र्यादि धातुओं से 'श्ना' हो जाता है। इससे पूर्ववत् श्ना, इत् संज्ञा और लोप होकर 'क्रीनाति' में पूर्ववत् ङित्वद्भाव और गुण का निषेध होकर **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (८।४।१)—र् ष् से परे न के स्थान में ण हो, यदि समानपद हो तो। इससे क्री ना ति यहां 'र्' से परे 'न' तो है, पर बीच में 'ई' का व्यवधान (रुकावट) भी है। अतः **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (८।४।२)—यहां ८।४।१ से 'रषाभ्याम्' 'नो णः' की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ बना—र् और ष् से उत्तर न् को ण् हो जावे, यदि अट् कवर्ग पवर्ग आङ् और नुम का व्यवधान हो तो भी। इससे अट् प्रत्याहार के अन्तर्गत ई का व्यवधान होने पर भी ण् होकर 'क्रीणाति' बना।

इसके आगे के रूप **क्रीणीतः, क्रीणन्ति** बनते हैं। इनमें, क्रीणीतः' में 'क्री ना तस्' में **ई हल्यघोः** (६।४।११३) से श्ना के आकार को ई होता है। इस सूत्र में ११२ से **श्नाभ्यस्तयोरातः** की, ११० से **सार्वधातुके** की, तथा ९८ से क्ङिति की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—श्ना और घुसंज्ञक से भिन्न अभ्यस्त के आकार को ई हो जावे, हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो। सो यहां तस् हलादि ङित् सार्वधातुक है, उसको मानकर आ के

स्थान में ई होकर पूर्ववत् णत्व होकर 'क्रीणीतः' बनेगा। ऐसे ही क्रीणीथः क्रीणीथ, क्रीणीवः क्रीणीमः भी पूर्ववत् बनेंगे। क्रीणासि क्रीणामि तो बन ही जायेंगे। क्रीणन्ति शेष रहा, सो इसमें **श्नाभ्यस्तयोरातः** (६।४।११२)—(श्नाभ्यस्तयोः ६।२, आतः ६।१) में पूर्ववत् **सार्वधातुके** **क्ङिति** **लोपः** की अनुवृत्ति आकर अर्थ बना—श्ना और अभ्यस्त के आकार का लोप हो जावे,[1] यदि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो। सो 'क्री ना अन्ति' में 'आ' का लोप, और पूर्ववत् णत्व होकर **क्रीणन्ति** बन गया।

(७) **अत्ति**—अद् शप् तिप्, **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (२।४।७२) यहां (२।४।५८) से लुक् की अनुवृत्ति आती है। अर्थ हुआ—अदादिगण की धातुओं से परे शप् का लुक् होता है। **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** (१।१।६०) प्रत्यय के अदर्शन को लुक् श्लु लुप् कहते हैं। शप् का अदर्शन होकर 'अद् ति' में **खरि च** (८।४।५४), यहां **झलां जश् झशि** (८।४।५२) से **झलां** की, और **अभ्यासे चर्च** (८।४।५३) से **चर्** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना —खर् प्रत्याहार में कोई अक्षर परे हो,तो झलों के स्थान में 'चर्' आदेश हों। इससे अत् ति=**अत्ति** बना। अद् तस्=**अत्तः**। अद् अन्ति=**अदन्ति**। **अत्सि अत्थः अत्थ। अद्मि अद्वः अद्मः** रूप बनते हैं।

(८) **जुहोति**—हु शप् तिप्, **जुहोत्यादिभ्यः श्लुः** (२।४।७५) में **शपः** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ—जुहोत्यादिगण की धातुओं से परे शप् को श्लु (अदर्शन) हो जावे। हु तिप् रहा। अब **श्लौ** (६।१।१०)—(श्लौ ७।१।।) लगा। इसमें **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१) और **अजादेर्द्वितीयस्य** (६।१।२) का अधिकार है। अर्थ हुआ—श्लु होने पर धातु के प्रथम एकाच् (एक अच्-वाले समुदाय) को, अजादि के द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन हो। 'हु हु ति'।

---

१. **श्नाभ्यस्तयोरातः** (६।४।११२) सूत्र में यद्यपि कित् ङित् सार्वधातुक सामान्य के परे रहते आकार का लोप कहा है, परन्तु 'ई हल्यघोः' (६।४।११३) में हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ईकार आदेश का विधान होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति अजादि सार्वधातुक में ही होती है। घुसंज्ञक धातुओं में ईकारादेश का निषेध होने से वहां उभयविध अजादि हलादि कित् ङित् सार्वधातुक में आकार का लोप होता है।

२. जुहोति की सिद्धि में द्विर्वचन और अभ्यास के कार्यों में इन सूत्रों की व्याख्या वा अन्य सूत्र-सम्बन्धी विशेष आकांक्षा पठनार्थी की हो, या समझने की क्षमता रखता हो,तो ३६ वें पाठ के अन्तर्गत द्वित्व और अभ्यास प्रकरण वा उनके आवश्यक सूत्रों को यहां भी समझाया जा सकता है। इतना तल डालना है, जो दीपक न बुझ जावे।

इसमें **पूर्वोऽभ्यासः** (६।१।४) (पूर्वः १।१।। अभ्यासः १।१।।) अर्थ—जिनको द्वे =दो किया, उनमें पूर्व (पहिले) की अभ्यास संज्ञा होती है। इससे पहिले 'हु' की अभ्यास संज्ञा हो गई। आगे **कुहोश्चुः** (७।४।६२)—(कुहोः ६।२।। चुः १।१।।) में **अत्र लोपोऽभ्यासस्य** (७।४।५८) से **अभ्यासस्य** की अनुवृत्ति आती है, जो **ई च गणः** (७।४।९७, पाद के अन्त) तक जाती है। तथा **अङ्गस्य** (६।४।१) का अधिकार है। अर्थ बना—अभ्यास के कवर्ग और ह को चु=चवर्ग हो जावे। इससे अभ्यास के ह् को झ्, और **अभ्यासे चर्च** (८।४।५३) और **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) से झ् झ् को ज् होकर 'जु हु ति' बना। अब तिप् को मानकर पूर्ववत् **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३। ८४) से गुण होकर **जुहोति** बन गया। **जुहुतः** में पूर्ववत् ङित्वत् और गुण निषेध हुआ है। जु हु झि, **उभेऽभ्यस्तम्** (६।१।५)–(उभे १।२।। अभ्यस्तम् १।१।।) अर्थ–जिनको दो किया, वह दोनों मिलकर अभ्यस्त संज्ञक हों। इससे दोनों जुहु की अभ्यस्त संज्ञा होकर **अदभ्यस्तात्** (७।१।४)—(अत् १।१।। अभ्यस्तात् ५।१।।)(यह **झोऽन्तः** ७।१।३ का अपवाद है) अर्थ—अभ्यस्त अङ्ग से परे झ् को अत् हो। सो अत् होकर जु हु अति। **हुश्नुवोः सार्वधातुके** (६। ४।८७) से यण् होकर **जुह्वति** बना। जु हु सिप्=**जुहोषि, जुहुथः जुहुथ। जुहोमि जुहुवः जुहुमः** रूप बने। अब ९वां और दसवां रुधादि तथा चुरादि गण शेष बचे, सो उन्हें अगले पाठ में बतावेंगे॥

चौदहवां पाठ

(क) रुणद्धि

(६) पूर्ववत् 'रुध् शप् तिप्' होकर **रुधादिभ्यः श्नम्** (३।१।७८) से 'शप्'के स्थान में 'श्नम्'आवेगा । पर इसमें इतना विशेष है कि यह **मिदचोऽन्त्यात्परः** (१।१।४६)—(मित् १।१।। अचः ६।१।। अन्त्यात् ५।१।। परः १।१।।) अर्थ—मित् (जिसका म् इत् संज्ञा होकर लोप हो जावे वह) **अचों** में अन्त्य अच् से परे हो । श्नम् का श् और म् इत् संज्ञक हो जाते हैं। सो रुध् श्नम् तिप्' में इत् संज्ञा और लोप होकर 'रुध् न ति' में मित् होने से श्नम् 'ध्' से पूर्व होकर 'रु न ध् ति' बना । अब **झषस्तथोर्धोऽधः**(८।२।४०)(झषः ५।१।। तथोः ६।२।। धः १।१।। अधः ६।१।।)अर्थ—झष् प्रत्याहार में किसी अक्षर से परे त् और थ् को ध् हो जावे, धा (धातु) को छोड़कर । सो इस सूत्र से 'रु न ध् ति'में ति के त् को ध् होकर 'रु न ध् धि' हुआ । **झलां जश् झशि** (८।४।५२)अर्थ—झलों के स्थान में जश् हो जावें, यदि झश् प्रत्याहार में से कोई अक्षर परे हो तो । सो इससे रुध् के ध् को द् होकर 'रु न द् धि' बना । अब क्रीणाति की तरह पूर्ववत् **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (८।४।१); **अट्कुप्वाङ्०**(८।४।२)से न को ण होकर **रुणद्धि** बना ।

रुन्द्धः में 'रुध् श्नम् तस्, पूर्ववत् 'रु न ध् तस्' में सब सूत्र पूर्ववत् ही लगे । इसमें श्नम् के 'न' में जो 'अ' है, उसका लोप **श्नसोरल्लोपः** (६।४।१११)—(श्नसोः ६।२।। अल्लोपः १।१।।)यहां क्ङिति की(६।४।९८ से), **'सार्वधातुके'** की (६।४।११० से) अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—श्न और अस् के अकार का लोप हो जावे, यदि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो ।'रु न् ध् तस्' में तस् के त को पूर्ववत् (८।२।४० से) ध, और पहले ध् को द् (८।४।५२ से) होकर 'रु न् द् धस्'=रुन्द्धः[1] पूर्ववत् बन जाता है ।

---

१. यहां इतना समझ लेना चाहिये कि **'नश्चापदान्तस्य झलि'** (८।३।२४)यहां **मोऽनुस्वारः**(८।३।२३)से पूरे सूत्र की अनुवृत्ति आती है । अर्थ बना—अपदान्त नकार और मकार के स्थान में अनुस्वार हो जाता है, यदि झल् परे हो तो । इससे न् को अनुस्वार, और उसको **'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः'** (८।४।५७) अर्थ—यय् प्रत्याहार में कोई अक्षर परे हो, तो अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण हो जावे । इससे अनुस्वार को पुनः न् होकर 'रुन्द्धः' ही बनता है ।

रुणद्धि रुन्द्धः रुन्द्धन्ति; रुणत्सि रुन्द्धः रुन्द्ध; रुणद्धिम रुन्द्ध्वः रुन्द्धमः ये रूप बनते हैं। यहां **झरो झरि सवर्णे**(८।४।६४) झरः६।१।। झरि ७।१।। सवर्णे ७।१।।)इसमें ८।४।६१ से **'अन्यतरस्याम्'** की, तथा **हलो यमां यमि लोपः**(८।४।६३)से 'हलः' और 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है। अथ बना—हल् से उत्तर झर् का लोप विकल्प से हो जावे,सवर्ण झर् परे हो तो। इस से द् से सवर्ण झर् ध् परे रहने पर पक्ष में द् का लोप होकर रुन्धः, रुन्ध; **रुन्ध्वः, रुन्ध्मः ये रूप भी बन जाते हैं।**

यह पाठ छात्र को एक बार समझा देना मात्र इष्ट है, भूल जावे तो कोई हानि नहीं। विदित रहे कि इतना पाठ हमने पढ़नेवालों को एक दिन में समझाया है। वह भी उनको जिन्हें संस्कृत कुछ नहीं आती थी। छात्र इस पाठ को समझकर एक बार गद्गद् हो उठता है।और अनुभव करने लग जाता है कि मैं बहुत शीघ्र ही उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ता चला जा रहा हूं। उसको दूसरा किनारा दीखने लगता है, सो भी १४,१५ दिन में ही। जो छात्र असमर्थ हों, उन्हें कुछ धीरे पढ़ाया जा सकता है। पढ़ानेवाला जब पढ़नेवाले को विदित से अविदित समझाता चलता है, तो समझ लेने पर पढ़नेवाले का उत्साह उसे कहीं से कहीं पहुंचा देता है। रोता जावे मरे की खबर लाये–पढ़ानेवाला ही अपने मन में सन्तुष्ट न हो,या अपने पर भरोसा=विश्वास न करता हो कि मैं समझा लूँगा, तो वह समझायेगा क्या !!! **'स्वयं नष्टः परान् नाशयति'**वाली बात ही तो होगी।

(ख) चोरयति

(१०) दसवां गण चुरादि है। **'चुर स्तेये'** धातु से **सत्यापपाशरूप··· चुरादिभ्यो णिच्**(३।१।२५)—(सत्याप··· चुरादिभ्यः ५।३।। णिच् १।१।।) अर्थ–सत्याप पाश आदि तथा चुरादिगण की धातुओं से णिच् प्रत्यय होता है। यहां पहिले चुर की धातुसंज्ञा होकर इस सूत्र से णिच् होता है। चुर् णिच्=चुर इ रहा। णिच् की ३।४।११४ से आर्द्धधातुक संज्ञा होती है। ७।३। ८४ से गुण होकर चोर् इ=चोरि बना। अब 'चोरि' इतने की **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२) अर्थ—सनादि (३।१।५ से ३१ तक) प्रत्यय अन्त में हैं जिनके,उनकी धातु संज्ञा होती है। इससे 'चोरि' की भी धातु संज्ञा हो गई। (इतना ध्यान रहे कि 'चुर' की पहले **भूवादयो धातवः** १।३।१ से धातु संज्ञा होती है। पुनः "चोरि' बन जाने पर नई धातुसंज्ञा इस सूत्र से होती है।) अब पुनः धातुसंज्ञा होकर पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर 'चोरि शप् तिप्' बना। 'चोरि अ ति' में ७।३।८४ से गुण होकर 'चोरे अ ति' में ६।१।७५ से ए को

अय ाकर 'चोरयति' बन गया। आगे पठनि के समान **चोरयतः चोरयन्ति; चोरयसि चोरयथः चोरयथ; चोरयामि चोरयावः चोरयामः** (हम सब चोरी करते हैं) ये रूप बन जाते हैं।

छात्र देखें कि उन्होंने दस गणों के लट् लकार के रूप सिद्धिसहित कितना शीघ्र (१४ दिन में) समझ लिये। कौमुदीक्रम में इतना ज्ञान ६ मास में भी नहीं होता।

श्रेणी से किसको हटाना आवश्यक है, और क्यों ?

एक आवश्यक समस्या का हल

कभी-कभी श्रेणी में सब का समय खराब करनेवाले अपात्र पठनार्थी पढनेवाले और पढानेवालों के मन का क्षुब्ध कर देते हैं। इनमें जो पढ़ते समय (हिन्दी का ज्ञान न होने से) अध्यापक जो बात पढ़ा रहा है, उसे नोट न कर सकने=साथ-साथ न लिख सकने के कारण सबका समय खराब करते हैं, उन्हें श्रेणी से हटा देना चाहिये। क्योंकि वे जब तक लिखेंगे, शेष सब लिख भो लेंगे, और समझ भी लेंगे। अध्यापक आगे पढ़ाता रहेगा, और साथी आगे पढ़ना चाहेंगे, वह अभागा अभी लिखकर ही हटा है। दुगना समय सब का लगेगा, अतः हटाने योग्य ही है। या फिर ऐसे कमजोर छात्रों की एक अलग ही श्रेणी चलाई जावे।

दूसरा जो अप्रासंगिक बार-बार पूछना ही जाये, समझने पर ध्यान न दे, बन्दरिया का तमाशा ही देखता रहे, ऐसे को भी कुछ लाभ नहीं होता। ऐसे अविश्वासी शङ्कित मनवाले को भो हटा देना ही श्रेयस्कर होता है। ऐसे की अलग श्रेणी चलाई जावे, तो स्यात् कुछ लाभ हो जावे; पर है कठिन ही। बन्दरिया का तमाशा क्या है—एक पिता भोजन करने लगा, पुत्र को कहा—जा दुकान से दही ले आ। वह गया तो मार्ग में बन्दरिया का तमाशा हो रहा था, वह उसे देखने लगा। और भूल गया कि मैं तो तत्काल दही लाने के लिये भेजा गया हूं। परिणाम यह हुआ कि वह दही लेकर पहुंचा, तब तक पिता भोजन कर चुके थे। दार्ष्टान्त यह है—जब जो पाठ पढ़ा रहे हैं, तब वह ही बात समझनी चाहिये. और इधर-उधर की बात नहीं करनी चाहिये, न ही पूछनी चाहिये। यदि पूछनी अनिवार्य ही हो, तो पाठ के पीछे पूछनी चाहिये। अध्यापक उचित समझेगा तो बता देगा। व्यर्थ की उड़ान से कुछ लाभ नहीं होता। यह बात बहुत ही गम्भीरता से हृदयगम करने की है। इसमें एक गहरा रहस्य छिपा हुआ है। नहीं तो वाचाल अपनी और सब की हानि करने से नहीं चूकते।

चौदह पाठों का सिंहावलोकन

आओ आज हम अपने १४ दिन के पाठों पर फिर एक बार सिंहावलोकन कर लें। सिंह के समान मुड़कर एक बार दृष्टि डाल लें। (नीचे लिखा छात्रों से कहलवाना चाहिये, चाहे कापी देखकर ही कहें।)

१ **प्रथम दिन**—सस्कृत में चार प्रकार के शब्द, उनके लक्षण और भेद, तथा कारक का लक्षण और भेद जान लिये।

२ **दूसरे दिन**—सूत्र का लक्षण, उनके सात भेद, और उनके स्वरूप।

३ **तीसरे दिन**—अधिकार का स्वरूप, और मोटे-मोटे १५ अधिकार बताये गये।

४ **चतुर्थ दिन**—शेष ६ संज्ञा आदि का स्वरूप, उनका साधारण परिगणन, प्रातिपदिक धातु संज्ञा, तथा सूत्रों के शेष लक्षण।

५ **पांचवें दिन**—वर्णोच्चारण विषय के आवश्यक स्थान और प्रयत्न सम्बन्धी सूत्र सवर्ण ज्ञान के लिये।

६ **छठे दिन**—सूत्रों के अर्थ करने की रीति, लट् लिट् आदि दस लकारों के बतानेवाले सूत्रों का विना रटे अनायास अर्थ।

७ **सातवें दिन**—हलन्त शब्द 'सुगण्' के आगे २१ प्रत्यय और उनका असली तथा सफाई करने पर जो स्वरूप रहा। 'सुगुण' के आगे २१ प्रत्यय लगाने से २१ रूप। ऐसे ही २० प्रकार के हलन्त शब्दों के रूप। 'सुगण् सु' में सिद्धि का प्रारम्भ।

८ **आठवें दिन**—इत्संज्ञा के ९ सूत्रों का अनुवृत्ति से अर्थ, पहले संस्कृत में फिर हिन्दी में पूर्वोक्त २१ सुप् प्रत्ययों पर ही घटाकर बताया गया।

९ **नवें दिन**—वाच्+जस्=वाचः, तथा वाक्-वाग् की सिद्धि। आगे वाच् के अन्य रूपों की सिद्धि 'वाक्षु' तक। साथ ही 'पुरुषः' शब्द की सिद्धि सब सूत्रों से।

१० **दसवें दिन**—'पठति' की पूरी सिद्धि।

११ **ग्यारहवें दिन**—'पठतः, पठन्ति, पठामि', और 'भवति भवतः' इत्यादि की सिद्धि।

१२ **बारहवें दिन**—'दीव्यति, तुदति सुनोति; सुनुतः सुनोषि' इत्यादि की सिद्धि।

१३ तेरहवें दिन—'तनोति, तनुतः, तन्वन्ति। क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति। जुहोति, जुहुतः, जुह्वति' इन सब रूपों की सिद्धि।

१४ चौदहवें दिन—'रुणद्धि, रुन्धः, रुन्धन्ति' तथा 'चोरयति' इन सब रूपों की सिद्धि विना रटे सब सूत्र समझाकर करा दी गई है।

इसमें विशेष व्यवस्था यह भी समझ लेनी चाहिये कि इन १४ दिन के पाठों में १८ वा २० दिन भी लग सकते हैं। छात्रों की जैसी योग्यता हो तथा अध्यापक पढ़नेवाला जितना अनुभवी और परिश्रमी हो। मैं अपने अनुभव से यह कह सकता हूं कि मैं इतना पाठ १०से लेकर १४दिन तक में अनेक श्रेणियों को करा चुका हूं। अर्थात् १०दिन में इतना विषय अनेक पठनार्थियों को करा चुका हूं, जो पूरा समझ गये। कभी-कभी तो एक सप्ताह में भी करा चुका हूं। इस क्रम से इतना-इतना पाठ पढ़ाना चाहिये कि पठनार्थी स्वयं कहें कि हम समझ गये, तब आगे चलना चाहिये। पर इसमें दूर से पहाड़ समझकर भयभीत होकर बुद्धि का सन्तुलन विकृत कर लेनेवाले छात्र प्रमाण नहीं माने जा सकते। अध्यापक को भी विश्वास होना चाहिये कि मैं इतना विषय इतने दिनों में करा लूंगा। किसी एक-आध मन्दबुद्धि छात्र (समझाने पर भी समझने में जिसकी बुद्धि न चलती हो) की दृष्टि से सब का समय न नष्ट हो,यह भी ध्यान में रखने की बात है। यह१४वें दिन में विषय की पुनरावृत्ति करा देनी चाहिये।

यहां इतना और समझ लेना चाहिये कि विना अध्यापक के भी कोई-कोई पठनार्थी स्वयं इन पाठों को कर लेते हैं। स्वयं कर लेने पर मेरे पास आये, जिसमें उनको अत्यन्त परिश्रम पड़ना स्वाभाविक था। सो चाहे अध्यापक से या स्वयं जैसे भी हो, इन पाठों से इस क्रम से १४-१५ दिन में कर लेने पर सूत्रशैली का महत्त्व समझ में आने लगता है। और सूत्रप्रणाली का प्रत्यक्ष ज्ञान होकर व्याकरण में प्रवेश होने से आस्था भी होने लगती है।

इतना प्रकरण समझ लेने पर जब छात्र को अधिकार और संज्ञासूत्रों का पर्याप्त परिचय, तथा १० लकारों का स्वरूप ज्ञान, २० हलन्त शब्दों के रूप विना रटे बनाने का प्रकार, तथा दस गणों के लट् लकार में विना रटे रूपों को बनाने की विधि प्रत्यक्ष हो जाती है, तो उसे यह पता लग जाता है कि इतना ज्ञान जो मुझे १४, १५ दिन में हो गया है, कौमुदी पढ़नेवाले छात्र को तो छःमास में भी नहीं होता।'मध्यमा'वा'विशारद'तक पढ़े किसी छात्र से आप १२, १४ दिन के पाठ में से किसी सिद्धि में से पूछकर देख लें, वह प्रायः नहीं बता सकता।यह हम निश्चय से कह सकते हैं।अमुक सूत्र का

यह अर्थ कैसे हो गया? यह बात तो छात्र क्या, उसका पढ़ानेवाला अध्यापक भी नहीं बता सकता, अष्टाध्यायीक्रम से पढ़े को छोड़कर। यह बात जब हमारे छात्र के सामने प्रत्यक्ष हो जाती है, तो वह इस क्रम पर लट्टू हो जाता है। इसलिए हम कहते हैं कि १५ दिन हमारे पास पढ़े, तो इस पद्धति का ठीक-ठीक प्रत्यक्ष हो सकता है। इन १४ दिनों का पाठ जहां तक होता है, मैं स्वयं पढ़ाता हूं। छात्र की बुद्धि धारणा-शक्ति और योग्यता का अध्ययन पहले मैं करता हूं। इसको दृष्टि में रखकर तब 'किस ढंग पर इसको पढ़ाना चाहिये' यह क्रम अपने मन में निर्धारित करता हूं। **एक नहीं दूसरा, दूसरा नहीं तीसरा, किसी न किसी उपाय से पढ़नेवाले के हृदय में कठिन से कठिन बात सुगम से सुगम बनाकर समझा देता हूं।** जब वह स्वयं अनुभव करके कहता है कि मैं समझ गया, तब आगे पाठ चलाता हूं। ऐसा करना परमावश्यक है। बार-बार पूछने पर कभी रुष्ट नहीं होता हूं, न घबराता हूं, न थकता हूं। तिस पर भी सिर में पीड़ा नहीं होती, यह प्रभु की ही कृपा है, यही बराबर समझता हूं।

संस्कृत की पुस्तक

सर्वथा संस्कृत न जाननेवालों की दृष्टि से आरम्भ के इन १४ दिनों में संस्कृत प्रतिदिन पौन घण्टा आवश्यकरूप से पढ़ाई जानी चाहिये। इस प्रकार दो घण्टे में प्रतिदिन दो पाठ चलने चाहियें, या कम से कम एक घंटा अष्टाध्यायी का पाठ तथा आध घण्टा संस्कृत का पाठ अवश्य चलना चाहिए। एक मास के पाठों के पश्चात् तो संस्कृत तथा अनुवाद एक घण्टा प्रतिदिन अवश्य ही पढ़ाये जाने चाहियें। या ऐसा भी हो सकता है कि संस्कृत सर्वथा न जाननेवालों को एक मास पहिले संस्कृत का बोध ही करा लिया जावे, तब ४४ दिनवाले पाठ प्रारम्भ करने चाहियें। पर मेरा तो यह भी अनुभव है कि संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञों को आरम्भ में १५ दिन अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ाकर संस्कृत पढ़ाई तथा अनुवाद कराया जाता है, तो वह अधिक अच्छा होता है, और वे समझ कर करते हैं। इसमें जैसे अनुकूलता हो, वैसा किया जा सकता है। आरम्भ से ही थोड़ा-थोड़ा संस्कृत का ज्ञान कराया जावे, तो काम चलानेवालों को अधिक सुगमता और समझाने में अनुकूलता हो सकती है। यह बात अध्यापक पर विशेष निर्भर करती है।

जिन संस्कृत की पुस्तकों का नाम हमने गत संस्करणों में दिया था, वे सर्वथा अनुपलब्ध हो गईं। अतः उनको हमें हटा देना पड़ा। अब श्री पं०

जे० पी० चौधरी जी की बनाई **संस्कृत-प्रवेशिका** (पता—जे० पी० चौधरी एण्ड सन्स, पुस्तक विक्रेता—नीचो बाग, वाराणसी),तथा मद्रास के श्री के. एल. वी. शास्त्री की बनाई **संस्कृत-बालादर्श** चार भाग (प्रकाशक—आर० विद्याधर एण्ड सन्स, बुकसेलर्स कालपति पालीघाट—३, दक्षिण भारत) से काम लेवें।[1]

वैसे हम यत्न में है कि अवकाश मिले तो ४४ पाठवालों के लिए अपने विचारानुसार अनुवाद की पुस्तक भी तैय्यार करें या करवावें। सो यह भविष्य के गर्भ में है।[2]

कई सज्जनों ने ४४ पाठों में हर एक पाठ के अन्त में अनुवाद का पाठ बढ़ाने को कहा। पर हमारा ऐसा विचार बना नहीं। अतः पृथक् का ही यत्न किया जायेगा॥

---

१. श्री पं० विज्ञान भिक्षु जी, जो मंगलोर (मैसूर प्रान्त) में संस्कृत-प्रचार का उत्तम कार्य कर रहे हैं, की लिखी 'संस्कृताङ्कुरम्' पुस्तक भी छात्रों के प्रारम्भिक संस्कृतज्ञान के लिये उपयोगी पुस्तक है। यह रामलाल कपूर ट्रस्ट से मिल सकती है।

२. ग्रन्थकार का २१ दिसम्बर १९६४ को अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण यह पुस्तक न बन सकी। पाठक पूर्वनिर्दिष्ट दोनों पुस्तकों से काम चलावें। यु०मी०

पन्द्रहवां पाठ

कारक (१)

आज हम **कारक** और **विभक्ति** का सामान्य ज्ञान करायेंगे। विभक्तियां ८ आठ हैं। ये सम्बोधन को पृथक् मानकर ८ होती हैं। वस्तुतः विभक्ति ७ ही होती हैं। सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति ही होती है। सो इस प्रकार विभक्ति ७ ही होती हैं, यह समझना चाहिये। कारक ६ होते हैं। '**कारक**' उसे कहते हैं जो क्रिया की सिद्धि में साक्षात् उपयुक्त होता है। अर्थात् जिसके विना वह क्रिया उपपन्न ही नहीं हो सकती। इस कारण **सम्बन्ध** तथा **सम्बोधन** कारक नहीं होते, क्योंकि वे दोनों क्रिया को नहीं बनाते। अब हम अष्टाध्यायी के क्रम से कारकों के सूत्रों को लेते हैं—

कारके (१।४।२३) का अधिकार (१।४।५५) तक है।

(१) **ध्रुवमपायेऽपादानम्** (१।४।२४)—(ध्रुवम् १।१।। अपाये ७।१।। अपादानम् १।१।। कारके ७।१।।) **अर्थ**—**अपाये**=अपाय अर्थात् अलग होने में जो **ध्रुवम्**=ध्रुव रहे, वह कारक(=क्रिया को बनानेवाला अर्थात् क्रिया को बनाते हुये)**अपादानम्**=अपादान संज्ञावाला होता है।

अब विभक्ति सूत्र भी इसके साथ बताते हैं—

अपादाने पञ्चमी (२।३।२८)—(अपादाने ७।१।। पञ्चमी १।१।।) **अर्थ**—अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—**वृक्षात् पर्णं पतति**= वृक्ष से पत्ता गिरता है। वृक्ष की पूर्व सूत्र से अपादान संज्ञा हुई, और इस सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हो गई। विदित रहे कि गिरना क्रिया तब तक हो नहीं सकती, जब तक जहां से गिरता है वह पदार्थ न हो, और जो गिरता है वह वस्तु न हो,तथा जहां पर गिरता है वह आधार न हो।ये सब गिरना क्रिया को बना रहे हैं,अतः ये सब कारक हैं। 'वृक्ष से भूमि पर पत्ता गिरता है' इसमें वृक्ष की अपादान संज्ञा,पर्ण की कर्ता और भूमि की अधिकरण संज्ञा होती है।

इस प्रकार **ध्रुवमपायेऽपादानम्** (१।४।२४) से लेकर **भुवः प्रभवः** (१।४।३१) तक ८ सूत्रों में पाणिनि मुनि ने अपादान संज्ञा करनेवाले सब

सूत्र रख दिए। इन सब से विहित अपादान संज्ञावाले शब्दों में **अपादाने पञ्चमी** (२।३।२८)से पञ्चमी विभक्ति होगी। उधर विभक्ति-प्रकरण में **अपादाने पञ्चमी** (२।३।२८) से लेकर **दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च** (२।३।३५)तक पञ्चमी विभक्ति का प्रकरण है। **अपादाने पञ्चमी** ने तो 'जिन की अपादान संज्ञा होती है, उन से पञ्चमी विभक्ति होती है' ऐसा कहा। जहां अपादान संज्ञा नहीं हो सकती, पर पञ्चमी विभक्ति होती है, उसका भी पूरा संग्रह अगाध-बुद्धि पाणिनि ने यहां एक ही स्थान में कर दिया है। इस प्रकार **कारके**(१।४।२३) प्रकरण में **अपादान संज्ञा** (१।४।२४--३१) सूत्रों में है। तथा विभक्ति-प्रकरण में (२।३।२८ से ३५ तक) पञ्चमी विभक्ति का प्रकरण है। इस प्रकार अपादान और पञ्चमी विभक्ति का पूरा प्रकरण समाप्त हो जाता है। इस से बाहर कहीं देखने की आवश्यकता नहीं। सभी कारक और सभी विभक्तियां इन दोनों प्रकरणों (अ० १।४।२३—५५ तथा २।३।१—७३) में पाठकों को एक जगह और सम्पूर्ण विषय सहित मिलेंगी। यह पाणिनि की अद्भुत मेधा का परिचायक है।

(२) **कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्** (१।४।३२)—(कर्मणा ३।१।। यम् २।१।। अभिप्रैति क्रिया०।। सः १।१।। सम्प्रदानम् १।१।।) ।अर्थ—**कर्मणा** कर्म (कारक)के द्वारा **यम् अभिप्रैति** कर्त्ता जिसका अभिप्राय सिद्ध करता है, **स संप्रदानम्** उसको सम्प्रदान कारक कहते हैं। **चतुर्थी संप्रदाने** (२।३।१३) सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—**देवः रामाय पुस्तकम् ददाति**= देव राम के लिये पुस्तक देता है। यहां 'राम' सम्प्रदान कारक है। जब तक कर्त्ता=देव पुस्तक राम के हाथ में नहीं रख देता, या राम ले नहीं लेता, तब तक देना क्रिया नहीं बन सकती। लेनेवाले के विना भी देना क्रिया बन नहीं सकती,यह समझना चाहिये।सो सम्प्रदान राम भी क्रिया का कारक हुआ, क्योंकि उसने देना क्रिया बनाई। इस प्रकार क्रिया बनानेवाले को **'कारक'** कहते हैं। १।४।३२ से ४१ सूत्र तक १०सूत्र सम्प्रदान संज्ञा के,और २।३।१३ से १७ तक पांच सूत्र चतुर्थी विभक्ति प्रकरण के=कुल १५ सूत्रों में सम्प्रदान कारक और चतुर्थी विभक्ति का सम्पूर्ण विषय समाप्त हो जाता है, और एक ही साथ झट समझ में भी आ जाता है।

(३) **साधकतमं करणम्** (१।४।४२)—(साधकतमम् १।१।। करणम् १।१।।)। **कारके**=क्रिया की सिद्धि में, **साधकतमम्**=सब से अधिक साधक अर्थात् सिद्ध करनेवाला कारक, **करणम्**=करणसंज्ञक=करण संज्ञावाला होता है। **कर्तृकरणयोस्तृतीया**(२।३।१८)–(कर्तृकरणयोः ७।२।। तृतीया

१।१।।) में ऊपर से **अनभिहिते** (२।३।१)का अधिकार है। अतः **अनभिहिते** यहां भी आया।अर्थ बना — **अनभिहिते कर्त्तृकरणयोः तृतीया**=अनभिहित[1] कर्त्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है ।यह सूत्र का अर्थ बन गया। जैसे—**देवः मुखेन फलं खादति**। १।४।४२ से आगे ४४ तक अर्थात् ये तीन सूत्र करण संज्ञा के हैं। उधर विभक्ति-प्रकरण में २।३।१८ से २७ सूत्र तक १० सूत्र तृतीया विभक्ति के हैं।इनमें करण संज्ञा के विना कहां-कहां तृतीया विभक्ति होती है, यह भी कह दिया। इस प्रकार यह करण कारक का प्रकरण समाप्त हुआ।

(४) **आधारोऽधिकरणम्**(१।४।४५)—(आधारः १।१।। अधिकरणम् १।१।।)। अर्थ—**कारके** क्रिया की सिद्धि में जो **आधारः** आधार कारक है, उसकी **अधिकरणम्** अधिकरण संज्ञा होती है। उधर विभक्ति-प्रकरण में **सप्तम्यधिकरणे च** (२।३।३६)—(सप्तमी १।१।। अधिकरणे ७।१।। च अ०।)।। सूत्र का अर्थ बना—अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है, च=दूर अन्तिक=समीप अर्थवाले शब्दों में भी। इस से सप्तमी विभक्ति होती है। इस प्रकार अधिकरण कारक में १।४।४५ से ४८ तक ४ सूत्र हैं। विभक्ति-प्रकरण में २।३।३६ से ४५ तक १० सूत्र सप्तमी विभक्ति के हैं। सो इन १४ सूत्रों में अधिकरण कारक और सप्तमी विभक्ति पूरी हो जाती है।।

सोलहवां पाठ

कारक (२)

(५) **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** (१।४।४९)—(कर्तुः ६।१।। ईप्सिततमम् १।१।। कर्म १।१।।)। अर्थ—**कारके** क्रिया की सिद्धि में **कर्त्तुः** कर्त्ता का जो **ईप्सिततमम्** सब से अधिक इष्ट पदार्थ है, उसकी **कर्म** कर्म संज्ञा होती है। यहां१।४।४९से ५३ तक ५ सूत्र कर्म कारक के हैं। **कर्मणि द्वितीया**(२।३।२)

---

१. इसकी व्याख्या अगले पाठ में देखें।

(कर्मणि ७।१।।द्वितीया १।१।।)। यहां **अनभिहिते** का अधिकार है। अर्थ—अनभिहित कर्म में द्वितीया होती है। २।३।२ से १२ तक ११ सूत्र द्वितीया विभक्ति के हैं। इतना कर्म और द्वितीया विभक्ति का प्रकरण है।

(६) अब हम कर्त्ता कारक और प्रथमा विभक्ति को लेते हैं—

स्वतन्त्रः कर्त्ता (१।४।५४)—(स्वतन्त्रः १।१।।कर्त्ता १।१।।)। क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र कारक है, अर्थात् चाहे वह क्रिया करे या न करे, उसे कर्त्ता कहते हैं।

तत्प्रयोजको हेतुश्च (१।४।५५)—(तत्प्रयोजकः १।१।। हेतुः १।१।। च अ०।।) अर्थ—कर्त्ता के प्रयोजक (प्रेरणा करनेवाले) की हेतु और कर्त्ता संज्ञा होती है।

वाक्य में कर्त्ता या कर्म का सम्बन्ध क्रिया के साथ अवश्य होता है। जब कर्त्ता का सम्बन्ध क्रिया के साथ होता है, तब क्रिया **कर्तृवाच्य** होती है, अर्थात् कर्त्ता का कर्त्तृत्व क्रिया के द्वारा अभिहित=कथित हो जाता है। यथा—**देवदत्तः वेदं पठति**। कर्तृवाच्य क्रिया में कर्म के अनभिहित=अकथित होने से द्वितीया होती है। जब क्रिया के साथ कर्म का सम्बन्ध होता है, तब कर्म क्रिया से अभिहित=कथित होता है। यथा—**देवदत्तेन वेदः पठ्यते**। इस अवस्था में वेद का कर्मत्व 'पठ्यते' क्रिया से अभिहित हो जाने से उसमें द्वितीया नहीं होती। कर्त्ता का कर्त्तृत्व अनभिहित होने से उस में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (२।३।१८) से तृतीया हो जाती है।

जब क्रिया के द्वारा कर्त्ता का कर्त्तृत्व अथवा कर्म का कर्मत्व अभिहित हो जाता है, तब कर्त्तृत्व या कर्मत्व अंश के अतिरिक्त केवल प्रातिपदिक का अपना अर्थ ही कहने योग्य रह जाता है। अतः उसके लिए—

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२।३।४६) प्रातिपदिकार्थमात्र, लिङ्गमात्र, परिमाणमात्र और वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। जहां केवल प्रातिपदिक का ही अर्थ कहा गया हो, वहां प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे—**उच्चैः**। यहां प्रातिपदिक के अर्थ से अधिक कुछ भी अभिप्रेत नहीं। ऐसे ही लिङ्गमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे—**तटः, तटी, तटम्**। परिमाणमात्र—**द्रोणः, खारी, आढकम्**। वचनमात्र में—**एकः, द्वौ, त्रयः**। यहां पर प्रथमा विभक्ति करनेवाला यह सूत्र है। केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त है। प्रथमा विभक्ति कहां होती है, इस विषय में इस प्रकार समझें—

तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा (महाभाष्य)।तिङ्=क्रिया के साथ जिसका भी समानाधिकरण हो, उसमें प्रथमा विभक्ति हो जाती है। यह सामान्य लक्षण है। **देवदत्तः वेदं पठति** (=देवदत्त वेद पढ़ता है) में 'पठति' क्रिया का समानाधिकरण कर्त्ता देवदत्त में है। अर्थात् पढ़ना क्रिया देवदत्त में हो रही है। देवदत्त में कर्त्ता और क्रिया का आश्रय (वा अभिधेय) है, अतः यह क्रिया कर्तृवाच्य=कर्त्ता में क्रिया कहलाती है। देवदत्त का कर्तृत्व यहां क्रिया के द्वारा अभिहित=कथित=उक्त=या निर्दिष्ट है।**वेदः पठ्यते देवदत्तेन**=(वेद देवदत्त के द्वारा पढ़ा जाता है)में पढ़ा जाना क्रिया के साथ वेद कर्म का समान अधिकरण है। अतः यहां वेद कर्म पठ्यते क्रिया के द्वारा अभिहित=कथित=उक्त=निर्दिष्ट है,अतः यह कर्मवाच्य क्रिया है। इसमें देवदत्त का कर्तृत्व क्रिया द्वारा अभिहित नहीं है=अनभिहित है, अर्थात् क्रिया उसे नहीं कहती। अतः **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (२।३।१८) सूत्र से अनभिहित कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है।

अभिहिते प्रथमा (=अभिहित में प्रथमा विभक्ति होती है) यह महाभाष्य (अ० २।३।४६) का वचन है। सो अभिहित कर्म में (सूत्र वा दोनों वार्त्तिकों में से किसी से) प्रथमा विभक्ति हो गई। यह बात यहां अच्छे प्रकार हृदयङ्गम कर लेनी चाहिए।इसका काम बहुत पड़ेगा।

(७) सम्बोधन में **सम्बोधने च** (२।३।४७)से प्रथमा विभक्ति होती है।

(८) अब शेष छठी विभक्ति=सम्बन्ध रहा। सो उसमें **षष्ठी शेषे** (२।३।५०) (षष्ठी१।१।। शेषे ७।१।।)अर्थ—जहां कर्मादि कारक नहीं होते, उस शेष में षष्ठी विभक्ति होती है। इसका प्रकरण३।४।५०से ७३ तक है। इस प्रकार कारक और विभक्ति का प्रकरण सामान्यतया यहां समाप्त हुआ। समस्त विषय दो दिन और लगाकर जब चाहें पूरा किया जा सकता है। यह कारक और विभक्ति का प्रकरण एक सप्ताह से अधिक समय का नहीं।पाठक यह भी देखें कि इसमें सिद्धि का भी कुछ काम नहीं।पुरुष शब्द की सिद्धि कर ही चुके हैं। उसी तरह इनकी सिद्धि भी समझनी चाहिए।।

सतरहवां पाठ

समास

अब हम समास के विषय में कुछ सामान्य बातें बताते हैं। **समास** कहते हैं सक्षेप को। जिसमें अनेक पदों का एक पद, अनेक विभक्तियों को एक विभक्ति, और अनेक स्वरों का एक स्वर हो, उसे **समास** कहते हैं। जैसे—राजा का पुरुष = **राजपुरुष**। कूप का जल = **कूपजल**। विद्या का भवन = **विद्याभवन**। यहां दो पृथक् पृथक् पदों का एक पद बन गया। और **राज्ञः पुरुषः = राजपुरुषः** में दो विभक्तियों के स्थान में एक विभक्ति हो गई। अर्थात् दोनों विभक्तियां लुप्त हो गईं, और नई प्रथमा विभक्ति आ गई।

समास चार प्रकार का होता है—

१. अव्ययीभाव, २. तत्पुरुष, ३. बहुव्रीहि, ४. द्वन्द्व।

(१) **अव्ययीभाव** का लक्षण (पहिचान)—जिसमें पूर्व (पहिले) पद का अर्थ प्रधान हो। जैसे—**उपकुम्भम्** = कुम्भ = घड़े के पास। इसमें उप = समीप अर्थ की प्रधानता है, अतः यह अव्ययीभाव समास है।

(२) **तत्पुरुष**—जिसमें उत्तर (पिछले) पद का अर्थ प्रधान हो। जैसे—राज्ञः पुरुषः = **राजपुरुषः**, कूपस्य जलम् = **कूपजलम्**, विद्यायाः भवनम् = **विद्याभवनम्**। **राजपुरुषम् आनय** = राजपुरुष को लाओ, तो पुरुष लाया जायेगा राजा नहीं। **कूपजलम् आनय** = कुएं का पानी लाओ, तो पानी लाया जायगा न कि कुआं। सो राजपुरुष में पुरुष उत्तर (पिछला) पद प्रधान है, कूपजल में जल प्रधान है, अतः यह तत्पुरुष समास है।

यह तत्पुरुष समास ९ प्रकार का होता है— १ द्वितीया, २ तृतीया, ३ चतुर्थी, ४ पञ्चमी, ५ षष्ठी, ६ सप्तमी, ७ कर्मधारय, ८ नञ्, और ९ द्विगु। ये ९ भेद तत्पुरुष समास के हैं।

(३) **बहुव्रीहि**—अन्यपदार्थ प्रधान होता है। जैसे—**लम्बकर्णः** = लम्बौ कर्णौ यस्य = लम्बे कान हैं जिसके, ऐसा देवदत्त। सो लम्बकर्ण देवदत्त का विशेषण है। **लम्बकर्णमानय** = लम्बकर्ण को लाओ, सो देवदत्त लाया जाएगा, न कि लम्बा या कान। अन्यपदार्थ प्रधान होने से **लम्बकर्णः** बहुव्रीहि समास है।

(४) द्वन्द्व—जिसमें दोनों पदार्थ प्रधान हों। जैसे—रामलक्ष्मणौ। युधिष्ठिरभीमार्जुनाः। इनमें सब पद प्रधान हैं। रामलक्ष्मणौ गच्छतः= राम और लक्ष्मण जा रहे हैं। इसमें दोनों की गमनक्रिया में समानरूप से प्रधानता है, किसी एक की नहीं।

यह द्वन्द्व समास दो प्रकार का होता है—

(क) इतरेतर द्वन्द्व—जैसे—रामलक्ष्मणौ, रामलक्ष्मणभरताः इत्यादि। इसमें दो पद हों तो उससे द्विवचन, बहुत हों तो बहुवचन होता है।

(ख) समाहार द्वन्द्व—समाहार समूह को कहते हैं। समूह एक होता है, अतः इसमें एकवचन ही होता है। जैसे—पाणिपादम् =पाणि = हाथ और पाद=पांव। अष्टाध्यायीमहाभाष्यम् = अष्टाध्यायी और महाभाष्य। आदैच्=आत् (दीर्घ आ) और ऐच्=ऐ और औ।

अब हम समास की सिद्धि अति संक्षेप और सरल रीति से बताते हैं—

समर्थः पदविधिः (२।१।१) यह परिभाषा सूत्र है। प्राक्कडारात् समासः (२।१।३) से २।२।३८ तक समास का अधिकार है। अव्ययीभावः (२।१।५) से २।१।२० तक अव्ययीभाव समास है। तत्पुरुषः (२।१।२१) से २।२।२२ तक तत्पुरुष समास का प्रकरण है। शेषो बहुव्रीहिः (२।२।२३) से २।२।२८ तक बहुव्रीहि समास का प्रकरण है। चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९) यह द्वन्द्व समास का सूत्र है।

देवस्य गृहम्, वेदस्य अध्यापकः (देव+ङस्)+(गृह+सु); तथा (वेद+ङस्)+(अध्यापक+सु) इसमें षष्ठी (२।२।८) यह सूत्र लगा। इसमें सुप्, सह सुपा, समासः, तत्पुरुषः, समर्थः इन पदों की अनुवृत्ति आकर सूत्र का अर्थ हुआ—षष्ठी सुप् समर्थः सुपा सह समासः तत्पुरुषः—षष्ठ्यन्त सुबन्त के साथ समास (को) प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष होता है। (वेद+ङस्, अध्यापक+सु) इन चारों के समुदाय की समास संज्ञा हो गई। इसमें वेदस्य अध्यापकः, अध्यापकः वेदस्य, देवस्य गृहम् या गृहं देवस्य विग्रह में किसी तरह भी रहने पर प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१।२।४३)—(प्रथमानिर्दिष्टम् १।१।। समासे ७।१।। उपसर्जनम् १।१।।) समासे समास करनेवाले सूत्रों में, प्रथमानिर्दिष्ट जो प्रथमा विभक्ति से कहा है, उसकी उपसर्जनम् उपसर्जन संज्ञा होती है। षष्ठी (२।२।८) सूत्र में षष्ठी पद प्रथमा विभक्ति का एकवचन है इससे षष्ठ्यन्त पदों की उपसर्जन संज्ञा हो जायगी। इनसे उपर्युक्त वाक्यों में वेदस्य, देवस्य इन पदों की उपसर्जन

संज्ञा हो गई। उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०)—(उपसर्जनम् १।१।। पूर्वम् १।१।।)—जिसकी उपसर्जन संज्ञा हो, वह समास में पहिले ग्रा जाता है। सो इससे वेदस्य और देवस्य पहिले ग्रा गये। और वेदस्यग्रध्यापकः, देवस्यगृहम् ऐसा समास बना। अर्थात् (वेद+ङस् ग्रध्यापक+सु), (देव+ङस् गृह+सु) यह समास का रूप बना। अब कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६)—(कृत्तद्धितसमासाः १।३।। च ग्र० ।।) से इस सारे समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)—(सुपः ६।१।। धातुप्रातिपदिकयोः ६।२।।) से सुप् का लुक् हुग्रा। इस सूत्र में (२।४।५८) से 'लुक्' की ग्रनुवृत्ति ग्राती है। सूत्र का अर्थ हो गया—धातु और प्रातिपदिक के (ग्रवयव) सुप् का लुक् (ग्रदर्शन) हो जावे। ग्रतः इससे षष्ठी और प्रथमा दोनों विभक्तियों का लुक् (ग्रदर्शन) होकर देव गृह=देवगृह; वेद ग्रध्यापक=वेदाध्यापक इतना रह गया। प्रातिपदिक संज्ञा (नाम) होने से ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) इत्यादि सूत्रों से पुरुष के समान देवगृह+सु=देवगृहम्, वेदाध्यापक+सु=वेदाध्यापकः बन गया। इतना और समझ लेना चाहिए कि समास का यह पूरा प्रकरण ८-१० दिन में पढ़ा जा सकता है, पर अभी इतना ही पढ़ना है ॥

अठारहवां पाठ

संज्ञा-प्रकरण (१)

अब संज्ञा सूत्रों को समझाते हैं। पहिले यह समझ लेना चाहिए कि संज्ञाएं (नाम) क्यों रखे जाते हैं ? (उ०) 'संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके' संज्ञा=नाम लोक (संसार) में व्यवहार के लिए रखा जाता है। हम देवराज वा सुनीति कहकर बुलावें, तो १०-२० हजार बैठे व्यक्तियों में से जिसका नाम देवराज वा सुनीति होगा, वह उठ कर चला आवेगा। यदि हम नाम न लें, तो बुलाने में बड़ी कठिनाई होगी। १०-२० हजार में उसकी पहिचान कहां तक बतावेंगे। इसी प्रकार पाणिनि मुनि ने कुछ संज्ञायें (नाम) अपनी अष्टाध्यायी में रखें हैं। ये अष्टाध्यायी में व्यवहार के लिए रखे गये हैं। जैसे—वृद्धि बढ़ने को कहते हैं, पर पाणिनि जी ने आ-ऐ-औ का नाम=संज्ञा(१।१। १ से) वृद्धि रख दिया। गुण अच्छे को कहते हैं, पर यहां व्याकरण में अ-ए-ओ का नाम गुण (१।१।२ से) रख दिया। दो या दो से अधिक मिले हुए हलों का नाम संयोग (१।१।७ से) रख दिया। वैसे संयोग कहते हैं 'मिलने' को, पर व्याकरणशास्त्र में मिले हुए हलों का नाम संयोग है। ऐसे ही वृद्ध कहते हैं बूढ़े को, पर व्याकरण में जिस शब्द का पहिला अच् वृद्धिसंज्ञक हो, अर्थात् आ-ऐ-औ में से कोई हो, उस शब्द की 'वृद्ध' संज्ञा (१।१।७२ से) होती है। वृद्ध कहने से व्याकरणशास्त्र में उक्त शब्द ही वृद्ध समझा जायगा, बूढ़ा नहीं।

घर में नया आदमी आवे, तो उसे पहिले घरवालों के नाम आने चाहियें, तभी वह उस परिवार में व्यवहार कर सकेगा। नहीं तो अलग बैठा रह जाएगा, किसी से कुछ बात भी न कर पायेगा। हमारे छात्र अब अष्टाध्यायी के सूत्रों में प्रवेश कर रहे हैं, सो उन्हें अब पाणिनिजी की मानी हुई संज्ञाओं का परिचय होना ही चाहिये। इनमें से पहिले पाद की संज्ञाओं के नाममात्र तो हम दूसरे दिन के पाठ में बता चुके हैं। अब हम इनका स्वरूप भी बता दें—

(१) वृद्धि—वृद्धिरादैच् (१।१।१)—(वृद्धिः १।१।। आदैच् १।१।।) आत् (आ), ऐच् (ऐ आर औ) की 'वृद्धि' संज्ञा होती है। चाहे ये स्वयं बने हों, वा सूत्रों से बनाये गये हों। जैसे—शाला में आ, ऐश्वर्यः में ऐ, औपगवः में औ।

(२) गुण—अदेङ् गुणः (१।१।२)—(अदेङ् १।१।। गुणः १।१।।) अत् (अ) एङ् (ए ओ) की 'गुण' संज्ञा होती है। जैसे-ब्रह्मर्षिः, देवेन्द्रः, सूर्योदयः।

(३) संयोग—हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७)—(हलः १।३।। अनन्तराः १।३।। संयोगः १।१।।)—अनन्तर=व्यवधानरहित हलों की 'संयोग' संज्ञा होती है। जैसे—अग्नि में ग् न् की संयोग संज्ञा है। इन्द्र में न् द् र् की।

(४) अनुनासिक—मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (१।१।८)—(मुखनासिकावचनः १।१।। अनुनासिकः १।१।।)—मुख से और नासिका से बोला जानेवाला वर्ण 'अनुनासिक' कहाता है। जैसे—पठँ सुँ (विदित रहे कि यह अनुनासिक चिह्न धातुपाठ आदि में प्राचीन काल में था, लगभग १५०० वर्ष से नहीं रहा।

(५) सवर्ण—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१।१।९)—(तुल्यास्यप्रयत्नम् १।१।। सवर्णम् १।१।।)—जिनका स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य (समान) हो, उनकी परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा होती है। जैसे—तव+अत्र=तवात्र। यदि+इदम्=यदीदम। भानु+उदयः=भानूदयः। यहां ६।१।९७ से दीर्घ हो जाता है।

नाज्झलौ (१।१।१०) (न अ० ।। अज्झलौ १।२।।)—स्थान और प्रयत्न समान होने पर भी अच् और हल् की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होती। जैसे—दधि+शीतलम्। यहां सवर्ण संज्ञा न होने से ६।१।९७ से दीर्घ नहीं होगा।

(६) प्रगृह्य—ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (१।१।११)—(ईदूदेद्द्विवचनम् १।१।। प्रगृह्यम् १।१।।)—ई, ऊ, ए जिनके अन्त में हों ऐसे जो द्विवचनान्त शब्द वे प्रगृह्यसंज्ञक हों। जैसे—अग्नी इमौ। वायू इमौ। माले इमे। यहाँ प्रथम उदाहरण में सवर्ण दीर्घ, दूसरे में यण्, और तीसरे में अय् आदेश प्राप्त था, पर ६।१।१२१ से प्रकृतिभाव (सन्धि का न होना) हो जाता है। ११ से १८ तक 'प्रगृह्य' संज्ञा के सूत्र हैं।

(७) घु—दाधा घ्वदाप् (१।१।१९) (दाधाः १।३।। घु १।१।। अदाप् १।१।)—दा धा (रूपवाले धातुओं) की 'घु' संज्ञा होती है, दाप् और दैप् को छोड़कर। जैसे—प्रणिदाता, यहां घु संज्ञा होने से ८।४।१७ से न् को ण् हो जाता है।

(८) घ—तरप्तमपौ घः (१।१।२१) (तरप्तमपौ १।२।। घः १।१।।)—तरप् और तमप् की 'घ' संज्ञा होती है। जैसे—कुमारितरा। इसमें घ संज्ञा मानकर ६।३।४२ से पूर्व को ह्रस्व हो जाता है।

(६) संख्या—बहुगणवतुडति संख्या (१।२।२२)—(बहुगणवतुडति १।१॥ संख्या १।१॥)—बहु गण ये दो शब्द, तथा वतु डति प्रत्यय जिनके अन्त में हों, उनकी 'संख्या' संज्ञा हो जाती है। बहुधा, गणधा, तावद्धा, कतिधा। इनमें संख्या संज्ञा होने से (५।३।४२ से) धा प्रत्यय हो जाता है।

(१०) षट्—ष्णान्ताः षट् (१।१।२३)—(ष्णान्ताः १।३॥ षट् १।३) षकारान्त और नकारान्त संख्या को 'षट्' संज्ञा होती है। षट् सन्ति, पञ्च सन्ति। षट् संज्ञा होने से षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) से जस् और शस् का लुक् होता है।

(११) निष्ठा—क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५)—(क्तक्तवतू १।२॥ निष्ठा १।१॥)—क्त क्तवतु को 'निष्ठा' संज्ञा होती है। चितः, चितवान्। यहां ३।२।१०२ से निष्ठा प्रत्यय होता है।

(१२) सर्वनाम—सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६)—(सर्वादीनि १।३॥ सर्वनामानि १।३॥)—सर्वादि (गण में पढ़े शब्दों) की 'सर्वनाम' संज्ञा होती है। सर्वस्मै, सर्वस्मात्, सर्वस्मिन्। इनमें सर्वनाम संज्ञा होने से ७।१ १४, १५ से स्मै स्मात् और स्मिन् होते हैं। यहां २६ से ३५ सूत्रों तक सर्वनाम संज्ञा है। सर्वनामों में सर्व, युष्मद्, अस्मद्, किम् इत्यादि प्रसिद्ध शब्द है। इनके रूपों का अभ्यास नामिक से कर लेना चाहिए।

(१३) अव्यय—स्वरादिनिपातमव्ययम् (१।१।३६)—(स्वरादिनिपातम् १।१॥ अव्ययम् १।१॥)—स्वरादिगण और निपातों की 'अव्यय' संज्ञा होती है। स्वः, प्रातः, पुनः, च, यदि, अपि, ननु, खलु, यहां अव्यय संज्ञा होने से २।४।८२ से सुप् का लुक् होता है। यहां ३६ से ४० सूत्र तक अव्यय संज्ञा है।

(१४) सर्वनामस्थान—शि सर्वनामस्थानम्; सुडनपुंसकस्य (१।१।४१, ४२)—(शि १।१॥ सर्वनामस्थानम १।१॥; सुट् १।१॥ अनपुंसकस्य ६।१॥)—नपुंसकभिन्न सुट् (सु-औ-जस्-अम्-औट्) को 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होती है। जैसे—चितवान्। और शि (७।१।२० से हुये) की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। जैसे—घनानि।

(१५) विभाषा—नवेति विभाषा (१।१।४३)—(नवा अ० ॥ इति अ० ॥ विभाषा १।१॥)—न और वा के अर्थ (निषेध और विकल्प) की 'विभाषा' संज्ञा होती है। जैसे—विभाषा जसि (१।१।३१)।

(१६) सम्प्रसारण—इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४)—(इक् १।१॥ यणः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥,—यण् के स्थान में जो इक् हो, उसको

'सम्प्रसारण' संज्ञा होती है। जैसे—उक्तः, सुप्तः। इसमें (६।१।१५) से वच् और स्वप् को सम्प्रसारण होता है।

(१७) लोप—अदर्शनं लोपः (१।१।५९)—(अदर्शनम् १।१।। लोपः १।१।।)—अदर्शन (न दिखाई देना) की 'लोप' संज्ञा होती है। पठ के 'ठ' के अकार की इत्संज्ञा और १।३।९ से लोप होकर पठ् रहा।

(१८-२०) लुक्-श्लु-लुप्—प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)—(प्रत्ययस्य ६।१।। लुक्श्लुलुपः १।३।।)—लुक् हो जावे, श्लु हो जावे, लुप् हो जावे, इन शब्दों द्वारा जो प्रत्यय का अदर्शन हो, उसकी लुक् श्लु और लुप् संज्ञा होती है। जैसे—अत्ति, जुहोति, वरणाः इत्यादि।

(२१) टि—अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)—(अचः ६।१।। अन्त्यादि १।१।। टि १।१।।)—अचों में जो अन्त्य अच् वह आदि में है जिसके, उसकी 'टि' संज्ञा होती है। जैसे—अग्निचित् में इत् भाग की टि संज्ञा है।

(२२) उपधा—अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा (१।१।६४)—(अलः ५।१।। अन्त्यात् ५।१।। पूर्वः १।१।। उपधा १।१।।)—अन्त्य अल् से पूर्व (पहिले) वर्ण की 'उपधा' संज्ञा होती है। भिद् तृच् में भिद् के इ की उपधा सज्ञा हुई। यहां ७।३।८६ से गुण होकर भेत्ता बनता है।

(२३) वृद्ध—वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (१।१।७२)—(वृद्धिः १।१।। यस्य ६।१।। अचाम् ६।३।। आदिः १।१।। तत् १।१।। वृद्धम् १।१।।)—जिसके अचों में आदि (पहिला) अच् वृद्धि (आ-ऐ-औ में से कोई) हो, तो उस शब्द की 'वृद्ध' संज्ञा होती है। वृद्धसंज्ञा होकर ४।२।११३ से छ प्रत्यय हो जाता है।

(२४-२६) ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत—ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१।२।२७)—(ऊकालः १।१।। अच् १।१।। ह्रस्वदीर्घप्लुतः १।१।।) प्रातः चार बजे कुक्कुट (मुरगा) कु कू कू ३ की आवाज देता है। उसमें क्रमशः उकार की ध्वनि उ ऊ ऊ ३ का जो काल होता है, उसके बराबर कालवाले अच् को ह्रस्व दीर्घ प्लुत संज्ञा होती है।

(२७) उदात्त—उच्चैरुदात्तः (१।२।२९)—(उच्चैः अ० ।। उदात्तः १।१।।)—जो ऊंचे स्वर से बोला जावे, अर्थात् जो गात्रों को खींच कर, रूखे स्वर और कण्ठ को सङ्कुचित करके बोला जाता है, उसे 'उदात्त' कहते हैं। बच्चा प्रायः उदात्त स्वर बोलता है।

(२८) अनुदात्त—नीचैरनुदात्तः (१।२।३०)—(नीचैः अ० ।। अनुदात्तः १।१।।)—जो नीचे स्वर से बोला जावे, अर्थात् जो गात्रों को ढीला करके,

मृदुस्वर (चिकनापन) और कण्ठ को फैलाकर बोला जाता है, उसे 'अनुदात्त' कहते हैं। वृद्ध प्रायः अनुदात्त स्वर बोलता है।

(२९) **स्वरित—समाहारः स्वरितः** (१।२।३१)—जिसमें दोनों (उदात्त-अनुदात्त) का मेल हो, वह 'स्वरित' कहाता है।

(३०) **अपृक्त—अपृक्त एकाल्प्रत्ययः** (१।२।४१)—(अपृक्तः १।१॥ एकाल् १।१॥ प्रत्ययः १।१॥)—एक अल् (और कुछ न हो तो उस) प्रत्यय को 'अपृक्त' संज्ञा होती है। जैसे—वाच् स्, यहां स् की अपृक्त संज्ञा होकर ६।१।६६ से लोप हो जाता है।

(३१) **कर्मधारय—तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (१।२।४२)—(तत्पुरुषः १।१॥ समानाधिकरणः १।१॥ कर्मधारयः १।१॥)—समानाधिकरण तत्पुरुष समास की 'कर्मधारय' संज्ञा होती है। शुक्लवस्त्रम्।

(३२) **उपसर्जन—प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (१।२।४३)—(प्रथमानिर्दिष्टम् १।१॥ समासे ७।१। उपसर्जनम् १।१।।)—समास के सूत्रों में प्रथमा विभक्ति से कहे हुए की 'उपसर्जन' संज्ञा होती है। जैसे—षष्ठी (२।२।८) सूत्र में षष्ठी प्रथमान्त है। अतः देवस्य गृहम्=देवगृहम् में 'देवस्य' की उपसर्जन संज्ञा होती है।

(३३) **प्रातिपदिक—अर्थवद् अधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (१।२।४५)—अर्थवान् (अर्थवाले शब्द) की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है, धातु और प्रत्ययान्त को छोड़कर। जैसे—पुरुष।

(३४) **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४६)—(कृत्तद्धितसमासाः १।३॥ च अ०)—कृत् और तद्धित प्रत्यय जिसके अन्त (यहां येन विधिस्तदन्तस्य १।१।७१ से तदन्त विधि होती है) में हो, उसकी तथा समास की भी 'प्रातिपदिक' संज्ञा हो जाती है। जैसे—पाठकः, पाचकः, देवगृहम् इत्यादि।

(३५) **धातु—भूवादयो धातवः** (१।३।१)—(भूवादयः १।३॥ धातवः १।३॥)—भू आदिकों की क्रियावाचा होने पर 'धातु' संज्ञा होती है। जैसे—पठति में पठ की।

(३६) **इत्—उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२)—(उपदेशे ७।१॥ अच् १।१॥ अनुनासिकः १।१॥ इत् १।१॥)—उपदेश (अष्टाध्यायी में कहे प्रत्यय, आगमादि, धातुपाठ, उणादि, गणपाठ तथा लिङ्गानुशासन में अनुनासिक अच की इत् संज्ञा हो जाती है। जिसकी इत् संज्ञा होती है, उसका १।३।९ से लोप हो जाता है। जैसे—पुरुष सुँ=पुरुष स=पुरुषः बन जाता है। यहां २ से ९ सूत्र तक इत् संज्ञा प्रकरण है।

उन्नीसवां पाठ

संज्ञा-प्रकरण (२)

(३७) नदी—यू स्त्र्याख्यौ नदी(१।४।६)—(यू अविभक्तिक ॥ स्त्र्याख्यौ १।२॥ नदी १।१॥)—ईकारान्त और ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग को कहनेवाले शब्दों की 'नदी' संज्ञा होती है। कुमारी ङे=कुमारी ए, यहां नदी संज्ञा होने से (७।३।११२) से आट् का आगम, तथा (६।१।८७) से वृद्धि होकर कुमार्यै बनता है। यहां १।४।३ से ६ तक नदी संज्ञा है।

(३८) घि—शेषो घ्यसखि (१।४।७)—(शेषः १।१॥ घि १।१॥ असखि १।१॥)—जिनकी नदी संज्ञा नहीं होती, उन ह्रस्व इकारान्त उकारान्तों की, सखि शब्द को छोड़कर 'घि' संज्ञा होती है। जैसे—अग्नि ङस में घि संज्ञा होने से (७।३।१११) से गुण, अग्ने अस् (६।१।१०६) से पूर्वरूप होकर अग्नेः बना।

(३९) लघु—ह्रस्वं लघु (१।४।१०)—(ह्रस्वम् १।१॥ लघु १।१॥) ह्रस्व का नाम 'लघु' होता है।

(४०) गुरु—संयोगे गुरु (१।४।११)—(संयोगे ७।१॥ गुरु १।१॥) —संयोग परे रहने पर ह्रस्व की 'गुरु' संज्ञा होती है। दीर्घं च (१।४।१२) (दीर्घम् १।१॥ च अ०)—दीर्घ की भी 'गुरु' संज्ञा होती है।

(४१) अङ्ग—यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३)—(यस्मात् ५।१॥ प्रत्ययविधिः १।१॥ तदादि १।१॥ प्रत्यये ७।१॥ अङ्गम् १।१॥)—जिससे प्रत्यय विधि करें, तदादि=वह भाग आदि में है जिसके, उसकी प्रत्यय परे रहने पर 'अङ्ग' संज्ञा हो जाती है। जैसे—पुरुष न् आम्= पुरुष नाम्, यहां पुरुष की अङ्ग संज्ञा होने से ६।४।३ से दीर्घ होकर पुरुषानाम्=पुरुषाणाम् बनता है।

(४२) पद—सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४)—(सुप्तिङन्तम् १।१॥ पदम् १।१॥)—सुप् (२१) तिङ् (१८) अन्त में हैं जिसके, उसको 'पद' संज्ञा होती है। जैसे—पुरुष सु=पुरुषः। स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७)—(स्वादिषु ७।३॥ असर्वनामस्थाने ७।१॥) सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय को छोड़कर अन्य स्वादि (सु से कप् ५।४।१६० तक) प्रत्यय परे रहने पर पूर्व की 'पद' संज्ञा होती है। जैसे—राजन् भ्याम्=राजभ्याम्। यहां भ्याम् परे राजन् की पद संज्ञा होने से ८।२।७ से न का लोप हो जाता है।

(४३) **भ—यचि भम्** (१।४।१८)—(यचि ७।१।। भम् १।१।।) इसमें १७ वें सूत्र से **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ हुआ—स्वादि=सु (४।१।२) से लेकर (५।४।१६०) तक कहे प्रत्ययों में से, सर्वनामस्थान को छोड़कर यकारादि और अजादि प्रत्यय परे होने पर पूर्व की 'भ' संज्ञा होती है। १७ वें सूत्र में कही पद संज्ञा का यह अपवाद है। जैसे—शाला ईय् अ=शाला ईय में शाला के अन्तिम 'आ' का लोप 'भ' संज्ञा होने से (६।४।१४८) से होकर शालीयः बन जाता है।

(४४) **निपात—चादयोऽसत्त्वे** (१।४।५७)—(चादयः १।३।। असत्वे ७।१।।)—चादि गण में पढ़े हुये शब्दों की, सत्ववाची न होने पर 'निपात' संज्ञा हो जाती है। ५६ से ९७ तक निपात संज्ञा का प्रकरण समझना चाहिए।

(४५) **उपसर्ग—प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे** (१।४।५६)—(प्रादयः १।३।। उपसर्गाः १।३।। क्रियायोगे ७।१।।)—प्रादि की, क्रिया के योग में 'उपसर्ग' संज्ञा होती है। जैसे—प्राप्य।

(४६) **गति—गतिश्च** (१।४।५९)—(गतिः १।१।। च अ०।।)—प्रादि की 'गति' संज्ञा भी होती है। जैसे—प्राप्य।

(४७) **परस्मैपद—लः परस्मैपदम्** (१।४।९८)—(लः ६।१।। परस्मैपदम् १।१।।)—ल् के स्थान में होनेवाले (प्रत्यय) 'परस्मैपद' संज्ञक होते हैं। जैसे—पठति।

(४८) **आत्मनेपदम्—तङानावात्मनेपदम्** (१।४।९९)—(तङानौ १।२।। आत्मनेपदम् १।१।।)—ल् के स्थान में होनेवाले तङ् और आन की 'आत्मनेपद' संज्ञा होती है। जैसे—एधते, पचमानः।

(४९-५१) **प्रथम-मध्यम-उत्तम—तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः** (१।४।१००)—(तिङः ६ १।। त्रीणि १।३।। त्रीणि १।३।। प्रथममध्यमोत्तमाः १।३।।)—तिङ् के जो तीन-तीन (त्रिक) उनकी प्रथम मध्यम उत्तम संज्ञा होती है। पठति पठतः पठन्ति। पठसि पठथः पठथ। पठामि पठावः पठामः।

(५२-५४) **एकवचन-द्विवचन-बहुवचन—तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः** (१।४।१०१)—(तानि १।३।। एकवचनद्विवचनबहुवचनानि १।३।। एकशः अ०)—तिङ् के जो तीन-तीन, उनकी एक-एक करके एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है। जैसे—पठति, पठतः, पठन्ति।

(५५) **विभक्ति—विभक्तिश्च** (१।४।१०३)—(विभक्तिः १।१।। च अ०।।)—सुप् और तिङ् के त्रिक (तीन-तीन) की विभक्ति संज्ञा होती है। जैसे—पुरुषः, पुरुषौ, पुरुषाः।

(५६) संहिता—परः सन्निकर्षः संहिता(१।४।१०८)—(परः १।१॥ सन्निकर्षः १।१॥ संहिता १।१॥)—पर=अत्यन्त सन्निकर्ष=समीपता की 'संहिता' संज्ञा होती है। जैसे—यदि+अपि=यद्यपि ।

(५७) अवसान—विरामोऽवसानम्(१।४।१०९)—(विरामः १।१॥ अवसानम् १।१॥)—विराम=समाप्ति की 'अवसान' संज्ञा होती है। जैसे—पुरुषर्=पुरुषः ।

(५८) द्विगु—संख्यापूर्वो द्विगुः—(२।१।५१)—(संख्यापूर्वः १।१॥ द्विगुः १।१ ।)—तद्धितार्थ-उत्तरपद-समाहार में जो संख्यापूर्व है, उसकी द्विगु' संज्ञा होती है। जैसे—अष्टाध्यायी ।

(५९) आमन्त्रित—साऽऽमन्त्रितम्(२।३।४८)—(सा १।१॥ आमन्त्रितम् १।१॥)—सम्बोधन में जो प्रथमा विभक्ति होती है, उसकी 'आमन्त्रित' संज्ञा होती है। जैसे—'अग्ने' में आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से आद्युदात्त हो जाता है ।

(६०) सम्बुद्धि—एकवचनं सम्बुद्धिः(२।३।४९)—(एकवचनम् १।१॥ सम्बुद्धिः १।१॥)—सम्बोधन विभक्ति के एकवचन की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होती है। जैसे—पुरुष सु=पुरुष स्=पुरुष। यहां स् की सम्बुद्धि संज्ञा होकर (६।१।६७) से 'स्' का लोप हो जाता है ।

(६१) उपपद—तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२)—(तत्र अ० ॥ उपपदम् १।१॥ सप्तमीस्थम् १।१॥)—तत्र=इस धातु के अधिकार (के सूत्रों) में सप्तमीस्थ—सप्तमी विभक्तिवाला जो पद है, उसकी 'उपपद' संज्ञा होती है। जैसे—कुम्भकारः, नगरकारः। यहां कर्मण्यण् (३।२।१)—(कर्मणि ७।१॥ अण् १।१॥) सूत्र में कर्मणि में सप्तमी विभक्ति है। इसका अर्थ सप्तमी के तीनों अर्थों (पर सप्तमी, निमित्त सप्तमी और विषय सप्तमी) में से कोई नहीं। यहां कर्मणि का अर्थ है—कर्म उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय हो।

(६२) कृत् - कृदतिङ् (३।१।९३)—(कृत् १।१॥ अतिङ् १।१॥) धातु के अधिकार में तिङ् को छोड़कर शेष सब प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा होती है।

(६३) सत्—तौ सत् (३।२।१२७)—(तौ १।२॥ अतिङ् १।१॥)—शतृ और शानच् दोनों की 'सत्' संज्ञा होती है। जैसे—पचन्, पचमानः।

(६४) सार्वधातुकम्—तिङ् शित् सार्वधातुकम्—(३।४।११३)—(तिङ्-शित् १।१॥ सार्वधातुकम् १।१॥)—धातु से परे आनेवाले प्रत्ययों में तिङ् और शित् प्रत्ययों की 'सार्वधातुक' संज्ञा होती है। जैसे—भवति, पठति।

(६५) आर्द्धधातुक—आर्द्धधातुकं शेषः (३।४।११४)—(आर्द्धधातुकम्

१।१।। शेषः१।१।।)—उपर्युक्त तिङ् और शित् से बचे हुए (धातु से विहित) शेष प्रत्ययों की 'आर्द्धधातुक' संज्ञा होती है। जैसे—चेता, चेतव्यम्, चयनीयम्। यहां आर्द्धधातुक संज्ञा होने से (७।३।८४) से गुण हो जाता है।

(६६) गोत्र—अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२)-(अपत्यम् १।१।। पौत्रप्रभृति १।१।। गोत्रम् १।१।।)—पौत्र से लेकर जो अपत्य है, उसकी 'गोत्र' संज्ञा होती है।

(६७) युवा—जीवति तु वंश्ये युवा (४।१।१६३)—(जीवति ७।१।। तु० अ० ।। वंश्ये ७।१।। युवा १।१।।)—वंश के मुख्य व्यक्ति के जीवित रहने पर पौत्रप्रभृति के अपत्य की 'युवा' संज्ञा होती है।

(६८) तद्राज—ते तद्राजाः (४।१।१७२)—(ते १।३।। तद्राजाः१।३।।) वे (१६६ सूत्र से लेकर १७२ तक जितने प्रत्यय कहे हैं, उनकी) 'तद्राज' संज्ञा होती है। **ञ्यादयस्तद्राजाः** (५।३।११९)—ञ्य ५।३।११२ से ११८ तक प्रत्ययों की भी 'तद्राज' संज्ञा होती है।

(६९) अभ्यास—पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४)—(पूर्वः १।१।। अभ्यासः १।१।।)—द्विर्वचन किये हुये दोनों में जो पूर्व, उसकी 'अभ्यास' संज्ञा होती है। जैसे—'हु हु ति' में पहिल की अभ्यास संज्ञा=जुहोति।

(७०) अभ्यस्त—उभे अभ्यस्तम् (६।१।५)-(उभे १।२।।अभ्यस्तम् १।१।।)—द्विर्वचन किये दोनों की 'अभ्यस्त' संज्ञा होती है। 'जुह्वति' में अभ्यस्त संज्ञा होने से ७।१।४ से झ् के स्थान में अन्त् न होकर अत् हो जाता है।

(७१) आम्रेडित—तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२)—(तस्य ६।१।। परम् १।१।। आम्रेडितम् १।१।।)—जिनका द्विर्वचन होता है, उनमें परम् =पीछेवाले की 'आम्रेडित' संज्ञा होती है। इनसे अतिरिक्त—

अपादान (१।४।२४), **सम्प्रदान** (१।४।३२), **करण** (१।४।४२), **अधिकरण** (१।४।४५), **कर्म** (१।४।४९), **कर्त्ता** (१।४।५४), **हेतु** (१।४।५५), ये सात कारकों की संज्ञायें हैं। **अव्ययीभाव** (१।४।५), **तत्पुरुष** (२।१।२१) **बहुव्रीहि** (२।२।२३), **द्वन्द्व** (२।२।२९) ये चार समास की संज्ञायें हैं। **तद्धिताः** (४।१।७६) से ५।४।१६० तक कहे हुए प्रत्ययों की 'तद्धित' संज्ञा होती है। तथा **कर्मप्रवचनीय** (१।४।८२)। इस प्रकार ये १४ भी संज्ञायें हैं। इनको मिलाकर सब ७०+१४=८४ संज्ञायें पाणिनि जी ने अष्टाध्यायी में मानी हैं। लगभग ५५ तो इन पाठों में काम आती हैं। सो जो-जो संज्ञासूत्र लगते चलें, समझकर उन पर पेन्सिल से नीचे चिह्न करते चलें। आवृत्ति से इनका अभ्यास होता चलेगा। बहुत कम काम में आनेवाली थोड़ी सी संज्ञाओं को पुस्तक पर से केवल समझ ही लेना चाहिये।

बीसवां पाठ

परिभाषा-प्रकरण

अब परिभाषा-सूत्रों को समझाते हैं—

परिभाषा का स्वरूप—परिभाषा-सूत्र उन सूत्रों को कहते हैं कि जो **परितो भाषन्ते**=अर्थात् जो झगड़ा पड़ने पर अच्छी तरह बताते हैं। दूसरे शब्दों में **निर्णय करनेवाले सूत्रों को 'परिभाषा-सूत्र'** कहते हैं। जैसे—चि तृच् में (७।३।८४)से गुण प्राप्त होता है। अब गुण हैं तीन—अ-ए-ओ। सो तीनों में से कौनसा हो? तीनों में झगड़ा होने लगा कि मैं होऊं, मैं होऊं, मैं होऊं, क्योंकि **गुण** कहा है। गुण नाम तीनों का है, चाहिए एक, दो कैसे हटें? सो अब निर्णय करनेवाले परिभाषा-सूत्र की आवश्यकता हुई। सो पाणिनि जी ने सूत्र बना दिया—

स्थानेऽन्तरतमः(१।१।४९)—(स्थाने ७।१।। अन्तरतमः १।१।।) **अर्थ**—षष्ठी विभक्ति से कहे हुए, जो किसी के स्थान में प्राप्त हों,उनमें जो सब से अधिक सदृशतम=समान हो,वह होवे। सो यहां इ के स्थान में सब से अधिक सदृशतम (=समान)होने से ए होकर चि+तृच्=चेतृ=चेता बनता है। इसी प्रकार स्तु से स्तोता है।

संज्ञा-परिभाषा की दो प्रकार की कार्यविधि

ये परिभाषा तथा संज्ञासूत्र दो प्रकार से काम करते हैं।**प्रथम पक्ष—स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) सूत्र गुण कार्य करनेवाले (७।३।८४) में पहुंच जाता है। **कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्**—अर्थात् जहां-जहां कार्य हो, वहीं-वहीं परिभाषा सूत्र तथा सज्ञा सूत्र पहुंच जाते हैं। इसको **'कार्यकाल पक्ष'** कहते हैं। जहां कार्य हुआ वहां पहुच गया।**दूसरा पक्ष है—यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्**—अर्थात् संज्ञा परिभाषा सूत्र जहां पढ़े हैं, वहीं कार्य करनेवाले सूत्र(७।३।८४ आदि)पहुंचकर अपना निर्णय कराते हैं। **दृष्टान्त**—नाई दो प्रकार के होते हैं—प्रथम वे जो गुच्छो (उस्तरे आदि का थैला) लिए गलियों में घूमते हैं—कोई हजामत करालो, कोई हजामत करालो, ऐसा बोलते हैं। यह **कार्यकाल पक्ष** कहलाता है। दूसरा दुकान पर लिखा रहता है—'केशकर्त्त-

नालय' (ऐसा हमने बम्बई तथा पूना में देखा) = यहां बाल काटे जाते हैं। जिन्हें क्षौर कराना होता है, वे वहां जाकर बाल बनवाते हैं। यह यथोद्देश पक्ष कहलाता है। सो संज्ञासूत्र और परिभाषासूत्र दो प्रकार के होते हैं।

अब हम क्रमशः परिभाषा-सूत्र बताते हैं—

(१) इको गुणवृद्धी (१।१।३)—(इकः ६।१॥ गुणवृद्धी १।२॥)—इसमें १।१।१, २ सूत्रों से वृद्धि और गुण की अनुवृत्ति है। सूत्र का अर्थ बना—गुणः वृद्धिः इकः गुणवृद्धी = गुण वृद्धि शब्दों से (अर्थात् गुण हो जावे, वृद्धि हो जावे, ऐसा जहां कहा हो वहां) इकः = इक् के स्थान में गुण वृद्धि हो। जैसे—'मेद्यति' यहां (७।३।८२) से गुण होता है। सो (१।१।५१ से) मिद् के द् के स्थान में न होकर इकार के स्थान पर हो जाता है। भेत्ता में (७।३।८६ से) भिद् अङ्ग के इ को गुण होता है।

(२) आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)—(आद्यन्तौ १।२॥ टकितौ १।२॥)—षष्ठी-निर्दिष्ट को कहे हुए टित् और कित् (आगम) क्रमशः आदि और अन्त में होते हैं, अर्थात् टित् आगम जिसको कहा हो वह उससे आदि में हो, और कित् अन्त में। पठ् तव्य—(७।२।३५) से इट् होकर पठ् इट् तव्य = पठ् इ तव्य = पठितव्य = पठितव्यम्। पच् शप् शानच् = पच् अ आन में (७।२।८२) से 'पच् अ' अङ्ग को मुक् आगम होता है। सो पच् अ मुक् आन = पचम् आन = पचमान सु = पचमानः बनता है।

(३) मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)—(मित् १।१॥ अचः ६।१॥ अन्त्यात् ५।१ ।परः १।१॥)—मित् आगम अचों में अन्त्य अच् से परे होता है भिद् + तिप् में रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८) से शप् के स्थान में श्नम् होता है। सो श् म् को इत् संज्ञा होकर मित् होने से भिद् के अन्त्य अच् इ से परे होता है। भि श्नम् द् ति = भिनत्ति बनता है।

(४) एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७)—(एचः ६।१॥ इक् १।१॥ ह्रस्वादेशे ७।१॥)—एच् के स्थान में इक् होवे ह्रस्वादेश करने में। जैसे—उपगो = उपगु, अतिरै—अतिरि। यहां (१।२।४७) से ह्रस्व होता है।

(५) षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८)—(षष्ठी १।१॥ स्थानेयोगा १।१॥)—अनियतयोगा = अनियत-सम्बन्धा = जिस षष्ठी का सम्बन्ध किसी से न जुड़ता हो, ऐसी षष्ठी स्थानेयोगा होती है। अर्थात् वहां स्थाने शब्द लगा लेना चाहिए। जैसे—**इको यण् अचि** (६।१।७४)—(इकः ६।१॥ यण् १।१॥ अचि ७।१॥) में 'इकः' षष्ठी है, इसका सम्बन्ध किसी से नहीं जुड़ रहा है। अतः 'इकः' का अर्थ होगा 'इकः स्थाने' = इक् के स्थान में यण् हो,

अच् परे हो तो, संहिता के विषय में। इको गुणवृद्धी में भी इकः (६।१) = इक् के स्थान में ऐसा अर्थ इसी सूत्र से होता है।

(६) स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) — (स्थाने ७।१॥ अन्तरतमः १।१॥) —जो-जो आदेश जिस-जिस के स्थान में प्राप्त हो, वह सदृशतम हो। अन्तरतम उसको कहते हैं जो सदृशतम हो = जो सब से अधिक मिलता हो।

सादृश्य चार प्रकार का है—स्थानकृत, अर्थकृत, प्रमाणकृत और गुणकृत।

(क) स्थानकृत—जो उच्चारण-स्थान आदेशी का हो वही आदेश का होना चाहिये। जैसे—दण्ड + अग्रम् = दण्डाग्रम, यहां कण्ठस्थानी दो अकारों के स्थान में (६।१।९९) से कण्ठस्थानवाला दीर्घ आकार ही होगा।

(ख) अर्थकृत—तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१)—भवताम, यहां तस् दो अर्थों को कहता है, तो उसके स्थान में ताम् भी दो अर्थों को कहनेवाला ही होगा।

(ग) प्रमाणकृत—एकमात्रिक स्थानी के स्थान में एकमात्रिक ही आदेश होगा. द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक। जैसे—अमुष्मै, अमूभ्याम्। यहां एकमात्रिक अ के स्थान में उ, तथा द्विमात्रिक आ के स्थान में ऊ आदेश ८।२।८० से प्राप्त होकर होता है।

(घ) गुणकृत—आन्तर्य उसको कहते हैं कि जो अल्पप्राण स्थानी हो तो उसके स्थान में अल्पप्राणवाला ही आदेश, और महाप्राणवाला स्थानी हो तो उसके स्थान में महाप्राणवाला ही आदेश होवे। जैसे—वाग् हसति = वाग्घसति। एचः इक् ह्रस्वादेशे = एच इग्घ्रस्वादेशे। त्रिष्टुप् हसति = त्रिष्टुब्भसति। यहां हकार के स्थान में झयो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६१ से) पूर्व सवर्ण आदेश की प्राप्ति में जैसा हकार नादवान् और महाप्राण गुणवाला है, उसके स्थान में आदेश भी वैसा ही होना चाहिए। यदि केवल महाप्राणवाला लें, तो ह के स्थान में ख प्राप्त होता है। यदि केवल नादवान् लें, तो ग प्राप्त होता है। ह महाप्राण और नादवान् दोनों गुणवाला है, अतः दोनों गुणवाला घ और भ होता है।

(७) उरण् रपरः (१।१।५०)—(उः ६।१, अण् १।१॥ रपरः १।१।)—जहां ऋकार के स्थान में अण् में से कोई अक्षर होने का प्रसङ्ग हो, वह होते-होते रपर (र परेवाला) हो जावे। कृ तृच् में गुण अ प्राप्त होते ही उसके रपर होने से अर् होकर कर् तृ = कर्तृ सु = कर्ता हर्ता बनता है। कृ + अक = कार् अक सु = कारकः। रपर होने से ऋ के साथ अर् आर् का स्थान कुछ अंश में मिल जाता है। ए ओ, ऐ औ का स्थान बिलकुल नहीं मिलता

(८) **अलोऽन्त्यस्य** (१।१।५१)—(अलः ६।१॥ अन्त्यस्य ६।१॥)—जहां षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान में आदेश कहें, वहां वह अन्त्य अल् के स्थान में हो। जैसे—तद् सु में **त्यदादीनामः** (७।२।१०२)—विभक्ति परे रहने पर त्यदादियों को 'अ' आदेश हो। सो यह अ किसके स्थान पर हो, इसके लिए यह परिभाषा है कि अन्त्य अक्षर तद् के द् के स्थान में होकर त अ सु=त सु=तस्। (७।२।१०६)से त् को स् होकर सः बन जाता है।

(९) **ङिच्च** (१।१।५२)—(ङित् १।१॥ च अ०)—ङित् आदेश भी अन्त्य के स्थान में हो। जैसे—कर्ता हर्ता में कर्तृ सु (७।१।९४) से ऋकार के स्थान में अनङ् होता है। यह अनेकाल् होने से (१।१।५४) से सब के स्थान में प्राप्त होता है। उसको बाधकर ङित् होने से अन्त्य के स्थान में हो जाता है।

(१०) **आदेः परस्य** (१।१।५३)—(आदेः ६।१॥ परस्य ६।१॥)—जो पर अर्थात् उत्तर को कार्य कहें, वह उसके आदि अक्षर को हो। यह सूत्र **तस्मादित्युत्तरस्य** (१।१।६६) का शेष है। **आसीनः**, यहां आस् आन सु=**ईदासः**(७।२।८३)—(ईत् १।१॥ आसः ५।१॥)आस् से परे आन को ईकार आदेश हो जावे। वह किसके स्थान में हो, यह जिज्ञासा उत्पन्न होने पर इस सूत्र ने कहा कि पर को कहा हुआ कार्य उसके आदि अक्षर के स्थान में हो। तो आस् ईन सु=आसीनः बन गया।

(११) **अनेकाल्शित् सर्वस्य** (१।१।५४)—(अनेकाल् १।१॥ शित् १।१॥ सर्वस्य ६।१॥)—अनेकाल् और शित् आदेश सब के स्थान में हो। जैसे—**अस्तेर्भूः**(२।४।५२)। यहां आर्धधातुक का विषय उपस्थित होने पर अनेक अलोंवाला भू आदेश सम्पूर्ण अस् धातु के स्थान में होकर अस् तव्य=भू तव्य=भू इट् तव्य=भवितव्य बनता है। 'धनानि' इसमें धन+जस् में **जश्शसोः शिः** (७।१।२०)से जस् के स्थान पर शि के शित् होने से वह सारे के स्थान में होकर 'धनानि' बनता है।

आगे स्थानिवत् का प्रकरण है। इसे हम प्रौढ़ छात्रों को भी समझा देते हैं। यदि छात्र चाहें, तो ये चार सूत्र भी उन्हें बताये जा सकते हैं। या इनको वे 'सन्धिविषय'[1] में से देख सकते हैं।

(१२) **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१।२।६१)—(प्रत्ययलोपे ७।१॥ प्रत्ययलक्षणम् १।१॥)—जहां प्रत्यय लोप हो जावे,वहां उस प्रत्यय को मान-

---

१. यह ग्रन्थ अजमेर से प्रकाशित है।

कर कोई कार्य प्राप्त हो,तो वह हो जावे। जैसे—अग्निचित्,यहां अग्निं चितवान (जिसने अग्नि का चयन कर लिया)इस अर्थ में **अग्नौ चेः**(३।२।९१)—(अग्नौ ७।१। चेः ५।१।।) यहां ३।२।८६ से **कर्मणि** की, और ८७ से **क्विप्** की, ३।१।९१ से **धातोः** की, ३।२।८४ से **'भूते'** की, तथा **प्रत्ययः, परश्च** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—अग्नि कर्म उपपद होने पर चि धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय हो, और वह परे हो। इससे अग्नि चि क्विप्=अग्नि चि व्=**वेरपृक्तस्य**(६।१।६५)से व् का लोप होकर—अग्नि चि रहा। अब क्विप् प्रत्यय के सर्वथा लोप हो जाने पर भी इस सूत्र से प्रत्ययलक्षण कार्य (पित् कृत्) मानकर **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (६।१।६९)—(ह्रस्वस्य ६।१।। पिति ७।१।। कृति ७।१।। तुक् १।१।।) से, क्विप् प्रत्यय पित् है और कृत् है, अतः ह्रस्व इ को तुक् **आद्यन्तौ टकितौ** (१।१।४५) से अन्त में होकर—अग्नि चि तुक्=अग्निचित् बना।

(१३) **न लुमताङ्गस्य** (१।१।६२) (न अ० ।। लुमता ३।१।। अङ्गस्य ६।१।।)—जहां लुमता=लुवाले=लुक् श्लु और लुप् इन शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन हुआ हो, वहां उस प्रत्यय के परे जिसको अङ्ग संज्ञा हो, उसको प्रत्ययलक्षण मानकर कार्य न हो। पूर्व सूत्र में जो सामान्य प्रत्ययलक्षण कार्य कहा है, उसका विशेष विषय में निषेध किया है। जैसे—गर्गाः, यहां **गर्गादिभ्यो यञ्** (४।१।१०५) इससे गोत्रापत्य में गर्ग+यञ्=गार्ग्यः, गार्ग्यौ। गर्ग यञ् जस् में **यञञोश्च** (२।४।६४) से बहुवचन में यञ् का लुक् होकर गर्ग+जस्=गर्गाःबनता है। यहां लुक् हुये यञ् प्रत्यय को लक्षण (निमित्त) मानकर ञित् होने से आदिवृद्धि और आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता है, सो नहीं होता। श्लु - जुहोति यहां श्लु होता है। लुप्—वरणाः यहां **वरणादिभ्यश्च** (४।२।८१) से लुप् होता है।।

—

इक्कीसवां पाठ

परिभाषा-प्रकरण (२)

(१४) **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य**[1] (१।१।६५)—'तस्मिन् इति'= सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट किया (पढ़ा) हुआ जो शब्द हो, उससे पूर्व जो शब्द या वर्ण हो, उसी को कार्य हो। अर्थात् उससे परे और व्यवधानवाले को न हो। जैसे—दधि+उदकम्=दध्युदकम्, मधु इदम्=मध्विदम्। यहां अच् के परे रहने पर पूर्व इ को **इको यणचि** (६।१।७४) से यण् हो जाता है। समिधः (सम् इ ध् अस्) में ध् का व्यवधान होने से इ के स्थान में य् नहीं होता।

(१५) **तस्मादित्युत्तरस्य** (१।१।६६)—जो पञ्चमी विभक्ति से निर्देश किया कार्य है, वह व्यवधानरहित उत्तर के स्थान में हो। जैसे—द्वीपम्। यहां ६।३।९६ से द्वि शब्द से उत्तर (परे) अप् को ईत् कहा है, सो **आदेः परस्य** (१।१।५३) से उसके आदि अक्षर अ के स्थान में हो जाता है। **'आदेः परस्य'** सूत्र इस सूत्र का शेष है। 'आसीनः' में आस् आन यहां ७।२। ८३ से आस् से उत्तर आन परे हो तो उसको ईत् कहा, सो उत्तर आन के आदि अक्षर आ के स्थान में होकर आसीन सु=आसीनः बना।

'आदेः परस्य'के विना भी इसका उदाहरण इस प्रकार है—तिङ्ङतिङः (८।१।२८) यहां **अनुदात्तं सर्वं** की अनुवृत्ति ८।१।१८ से है। सूत्र का अर्थ बना—अतिङ् से परे तिङ् सर्वानुदात्त (निघात) होता है। ओ॒द॒नं प॒च॒ति॒= ओ॒द॒नं प॑चति। यहां उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। आगे एकश्रुति होती है।

(१६) **स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा** (१।१।६७)—इस व्याकरणशास्त्र में शब्द का अपना रूप ग्रहण होता है, शब्द संज्ञा को छोड़कर। यहां यह समझना चाहिये कि लोक में 'अग्निमानय'=अग्नि को लाओ, ऐसा

---

१. अब हम यहां से आगे सूत्रों की विभक्तियों का निर्देश नहीं करेंगे। अध्यापकों को चाहिये कि वे आगे स्वयं बताते चलें। अथवा लेखक के अष्टाध्यायी-भाष्य में देख लें।

कहने पर कण्डे को या कोयले की आग लाई जाती है। अर्थात् अग्नि शब्द का अर्थ लाया जाता है, अग्नि शब्द नहीं लाया जाता। व्याकरणशास्त्र में पाणिनि जी ने कहा है कि हमारे शास्त्र में शब्द का अर्थ (आग वस्तु) नहीं लिया जाएगा, अपितु शब्द का स्वरूप ही लेना चाहिये। जैसे—**अग्नेर्ढक्** (४।२।३२) से अग्नि से ढक् प्रत्यय कहा है। सो अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होगा। कोई अबोध बालक अग्नि (अंगारे) से ढक् करने लगेगा, तो उसकी अष्टाध्यायी की पुस्तक वा कापी ही जल जायगी। अशब्दसंज्ञा का अर्थ है—शब्दसंज्ञा को छोड़कर। जहां किसी संज्ञा का निर्देश हो, वहां संज्ञा शब्द का रूप नहीं लेना, अपितु जिसकी या जिनकी वह संज्ञा की गई उनका ग्रहण होता है। जैसे—वृद्धि से उसका अर्थ बढ़ना नहीं लिया जायेगा, न ही वृद्धि इस शब्द का अपना रूप लिया जायेगा, अपितु व्याकरणशास्त्र में 'वृद्धि' कहने से 'आ-ऐ-औ' का ही ग्रहण होगा।

(१७) **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६८) इस सूत्र में **स्वं रूपं** की अनुवृत्ति आती है। सूत्र में च भी पढ़ा है, च का अर्थ है 'भी'। अण् और उदित् (उत्=ह्रस्व उकार इत् संज्ञक हो जिसका। जैसे कु, चु, टु आदि) अपने तथा सवर्णों का भी ग्राहक (ग्रहण करनेवाला) होता है। अण् से अ और ण्, तथा कु से क् और उ का ही ग्रहण पूर्व सूत्र 'स्वं रूपं' से प्राप्त था। तो यह सूत्र कहता है कि अण् से अ इ उ आदि और उनके सवर्णी आ ई ऊ का भी ग्रहण हो। कु से क-ख-ग-घ-ङ सब सवर्णों का ग्रहण होता है। यह पूर्व सूत्र का अपवाद ही समझना चाहिए। इस सूत्र में अण् प्रत्याहार लण् के णकार से लिया जाता है। इसलिए अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, य, व, ल ये सभी सवर्ण के ग्राहक होते हैं।

(१८) **तपरस्तत्कालस्य** (१।१।६९)—'तः परो यस्मात्' =त परे हो जिससे वह, तथा 'तादपि परस्तपरः'=त से जो परे हो वह भी तपर कहलाता है। तपर वर्ण तत्काल (उसी कालवाले का जिसे तपर किया है) का ग्रहण करनेवाला होता है। जैसे—**अतो भिस् ऐस्** (७।१।९) अत्=ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से परे भिस् के स्थान में ऐस् होता है। **आतो ङितः** (७।२।८१) में आत् से दीर्घ आकारान्त का ग्रहण होगा। यदि यह सूत्र न होता तो अत् से (१।१।६७) सूत्र से स्वरूप अ त् का ग्रहण होता। तपर न होता तो अ से आ का ग्रहण भी ७८ सूत्र से हो जाता। इन दोनों को बाध कर यहां तत्काल का ग्रहण हो गया। पहिले दोनों सूत्रों के साथ इसका यह सम्बन्ध है, सो समझ लेना चाहिए।

(१६) **आदिरन्त्येन सहेता** (१।१।७०)—(प्रत्याहार) सूत्रों में जो-जो आदि वर्ण है, वह अन्त्य इत्संज्ञक (हल्) के साथ मिलकर संज्ञा बन कर मध्यस्थ वर्णों और अपने रूप का भी ग्रहण करानेवाला होता है। जैसे—**अण्** से अ इ उ का, और **अक्** से अ इ उ ऋ लृ का ग्रहण होता है। यहां भी '**स्वं रूपं**' से अण् से इसका अपना स्वरूप अ और ण् का ही तो ग्रहण होता, तथा **अणुदित्०** से सवर्ण अ आ का ग्रहण होता। सो न होकर मध्यस्थ इ उ तथा अपने रूप अ का भी-ग्रहण होता है। यह भी पहिले सूत्रों का अपवाद है। इस सूत्र से स्वरूप और मध्य के वर्णों का ग्रहण होने पर **अणुदित्०** से सभी के सवर्णों का भी ग्रहण हो जाता है।

(२०) **येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७१)—जिस विशेषण के द्वारा विधि कही हो, वह विशेषण जिसके अन्त में हो, उसको कार्य होता है। जैसे—**अचो यत्** (३।१।९७) इसमें ३।१।९१ से धातोः की, तथा ३।१।१, २ से **प्रत्यय परश्च** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—अच् धातु से यत् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। अब अच् कहने से '**स्वं रूपं०**' से अपना रूप अ और च्=अच् लिया जाता। **अणुदित्०** से अच् अ, इ, उ, ऋ आदि तथा इनके सवर्णों आ-ई आदि का ग्रहण होता। **आदिरन्त्येन०** से अ से लेकर च् तक 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ औ' में से किसी धातु से यत् हो, ऐसा ग्रहण होता, सो यहां नहीं लेना चाहिए। यहां अच् धातु का विशेषण है। अतःअच् से यहां अच् जिस धातु के अन्त में हैं, उस अजन्त धातु का ग्रहण चाहिये। सो धातु से यत् हो, किससे, अचः=अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो। धातु विशेष्य है, अच् उसका विशेषण है। विशेष्य विशेषण होने से उक्त अर्थ बना। यह पहिले सूत्रों का भी बाधक है। यह स्वं रूपं प्रकरण के इन सूत्रों का रोचक विश्लेषण है। समझ में आ जाने पर बड़ा लाभदायक है।

ये प्रथमाध्याय प्रथम पाद के परिभाषा सूत्र हुए। आगे शेष प्रथमाध्याय में ये सूत्र हैं—

(२१) **अचश्च** (१।२।२८)—जहां-जहां व्याकरणशास्त्र में ह्रस्व दीर्घ प्लुत का विधान करें, वहां-वहां अच् ही के स्थान में हों। जैसे—**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (१।२।४७)—नपुंसक में वर्तमान प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है। जैसे—(रै) अतिरि, (नौ) अतिनु। यहां अच् ऐ और औ के स्थान पर ही ह्रस्व हुआ।

(२२) **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** (१।३।१०)—जहां-जहां पर

बराबर संख्यावालों का कार्य में सम्बन्ध करना हो, वहां-वहां यथासंख्य, अर्थात् जैसा उनका क्रम पढ़ा हो वैसा ही सम्बन्ध किया जावे। जैसे—एचो ऽयवायावः (६।१।७५) एच्=ए ओ ऐ औ चार हैं। सो उधर आदेश भी अय् अव् आय् आव् चार हैं। सो प्रथम के स्थान में प्रथम, द्वितीय के स्थान में द्वितीय, तृतीय के स्थान में तृतीय, और चतुर्थ के स्थान में चतुर्थ हो जाता है। इत्यादि अनेक सूत्रों में ऐसा ही समझ लेना चाहिये।

(२३) **स्वरितेनाधिकारः (१।३।११)**—स्वरित के चिह्न से अधिकार का बोध करना चाहिये। जो अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा लगाते हैं, वह उस वर्ण का स्वरित का चिह्न होता है। जैसे—प्र॑त्यय। प॑रश्च। धा॑तोः। क॑र्मण्यण् इत्यादि। जिस पर स्वरित का चिह्न किया हो, वह अधिकार कहां तक जावेगा, यह बात विशेष व्याख्यान से जानना। विदित रहे कि ये स्वरित के चिह्न पहिले अधिकारसूत्रों वा शब्दों पर रहते थे, पर सैकड़ों वर्षों से यह परम्परा लुप्त हो गई। अब चिह्न नहीं रहे। अब अधिकारों के ज्ञान के लिये हमारे अष्टाध्यायीभाष्य से सहायता लेनी चाहिये। वहां सर्वत्र लिखा है, सो वहां देख लें।

(२४) **विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२)**—तुल्य बल विरोध का नाम विप्रतिषेध है। जहां एक ही में दो कार्य प्राप्त हों, वहां विप्रतिषेध में पर को कार्य होना चाहिये। जो पृथक् प्रयोजनवाले दो कार्य एक विषय में एक काल में ही प्राप्त होते हैं, उसको **विप्रतिषेध** कहते हैं। जैसे—वृक्षाभ्याम्, यहां **सुपि च (७।३।१०२)** में **अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१)** की अनुवृत्ति आकर अर्थ बना—यञादि सुप् परे हो तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जावे। सो 'वृक्ष भ्याम्'=वृक्षाभ्याम् में दीर्घ हो जाता है। अब 'वृक्ष भ्यस्' में भी इसी ७।३।१०२ सूत्र से पहिले की तरह दीर्घ प्राप्त होता है। सो **बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३)** से बहुवचन में झलादि सुप् परे हो तो अ को ए हो जावे। सो दीर्घ और ए दोनों ही एक 'अ' के स्थान में, और एक ही काल में प्राप्त हुए। सो तुल्य बल विरोध=विप्रतिषेध होने अर्थात् दोनों कार्यों के निमित्त विद्यमान होने से दोनों में से कौन हो, इसका निर्णय इस परिभाषा सूत्र ने किया कि जो पर=पीछेवाला कार्य हो, सो होवे।

आगे **समर्थः पदविधिः (२।१।१)**, **अन्तादिवच्च (६।१।८२)**, **षत्वतुकोरसिद्धः (६।१।८३)**, **असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२)**, **पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१)** ये भी परिभाषा सूत्र हैं।

विशेष वक्तव्य

संज्ञा-प्रकरण तथा परिभाषा-प्रकरण के विषय में इतना विशेष समझना चाहिये कि प्रौढ़ पठनार्थी यदि इन दोनों प्रकरणों को प्रारम्भ में पढ़ने में विशेष कठिनाई का अनुभव करें, तो पाठों के अन्त में इन दोनों प्रकरणों को अच्छी तरह समझ लें। जहां-जहां बीच में परिभाषासूत्रों का काम पड़े, वहां-वहां इनकी व्याख्या यहां से समझ लेंवे। समझ लेना आवश्यक है, चाहे इस स्थान पर चाहे ४४ पाठों के अन्त में इन दोनों प्रकरणों को समझ लेवें।

यह संज्ञा परिभाषा प्रकरण पूरे हुये।

विदित रहे कि पूर्वोक्त संज्ञा और परिभाषा सूत्रों की व्याख्या बीच-बीच में जहां ये सूत्र लगे हैं, पूर्व तथा आगे भी की गई है, और यहां संज्ञा और परिभाषा इन दोनों प्रकरणों में भी। सो यह व्याख्या दो में से किसी एक स्थान से हटाई भी जा सकती है, पर कुछ पठनार्थियों के आग्रहवश पढ़नेवालों के सुभीते के लिये हमने रहने दी है। विद्वान् इसे पुनरुक्त दोष न समझें, क्योंकि यह सब प्रयास सुगमता से बोध कराने के हेतु ही है।

यहां पर हम यह बता देना चाहते हैं कि हमने संस्कृत में अधिकार और अनुवृत्ति के द्वारा अर्थ समझाने का यत्न किया है। विद्यार्थी उसी को बोल दे, तो हम पर्याप्त समझते हैं। परिमार्जित अर्थ संस्कृत में हमने जानकर नहीं लिखा कि विद्यार्थी उन अर्थों को रटने न लग जावें। हमारा ध्येय है—विद्यार्थी समझ लें, चाहे संस्कृत में चाहे हिन्दी में। अतः संस्कृत और हिन्दी के अर्थ में भेद है, ऐसे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। जो विरोध समझते हैं, वे वृत्ति रटनेवाले ही हो सकते हैं, दूसरे नहीं॥

दूसरा प्रकरण

बाईसवां पाठ

सन्धि-प्रकरण (१)

अब हम सन्धि-प्रकरण अध्याय ६ पाद १ में आये अत्यावश्यक (बहुत काम आनेवाले) **अच् सन्धि** के सूत्रों को पहले लेते हैं—

सर्व प्रथम अधिकार और अनुवृत्ति के चिह्न लगावें—

संहितायाम् का (६।१।७०) से ६।१।१५१ तक अधिकार है।

इको यणचि (६।१।७४) से 'अचि' की अनुवृत्ति १२६ तक है।

एकः पूर्वपरयोः (६।१।८१) का अधिकार १०७ तक है।

आद् गुणः (६।१।८४) से 'आत्' की अनुवृत्ति ९३ तक है।

एङि पररूपम् (६।१।९१) से पररूपम् की अनुवृत्ति ९६ सूत्र तक है।

अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घः की अनुवृत्ति १०२ तक है।

अमि पूर्वः (६।१।१०३) से 'पूर्वः' की अनुवृत्ति १०६ सूत्र तक है।

प्रकृत्याऽन्तःपादम् (६।१।१११) से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति १२४ तक है।

यह सामान्य अधिकारों की बात हुई। अब हम **अच्सन्धि** के सूत्रों को लेते हैं—

(१) **परः सन्निकर्षः संहिता** (१।४।१०८)—परः=अत्यन्त सन्निकर्षः=समीपता व मिलने को 'संहिता'[1] कहते हैं।

(२) **इको यणचि** (६।१।७४)—में 'संहितायाम्' का अधिकार होने से अर्थ बना—**इकः यण् (भवति) अचि संहितायाम्**=इक् के स्थान में यण् हो जाता है, अच् परे हो तो, संहिता (सन्धि) के विषय में। जैसे—यदि+

---

१. इस विषय में सामान्य नियम यह है —**संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥** अर्थात् एक पद में सन्धि नित्य अनिवार्य होती है। उपसर्ग और धातु में भी सन्धि नित्य होती है। समास में भी सन्धि नित्य होती है। वाक्य में वह विवक्षा (इच्छा) पर निर्भर होती है।

अपि=यद्यपि । मधु+अत्र=मध्वत्र । नारी+अत्र=नार्यत्र । कर्तृ+अत्र=कर्त्रत्र इत्यादि ।

(३) एचोऽयवायावः (६।१।७५) यहां अचि संहितायाम् की अनुवृत्ति और अधिकार है। अर्थ—एच् के स्थान में क्रमशः[1] ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय्, औ को आव् होता है, अच् परे रहने पर, संहिता करने में। जैसे—ने+अन=नयन=नयनम् । भो+इता=भविता । नै+अकः=नायकः । पौ=अकः=पावकः इत्यादि । तङानौ+आत्मनेपदम्=तङानावात्मनेपदम् ।

(४) एकः पूर्वपरयोः (६।१।८१)—पूर्व (पहिला) पर (आगे का) दोनों के स्थान में (दोनों को हटाकर) एक आदेश होता है। यह अधिकार है; जो ६।१।१०७ सूत्र तक जाता है।

(५) आद् गुणः (६।१।८४)—अचि संहितायां पूर्वपरयोः एकः पद आकर अर्थ बना—आद् अचि संहितायां पूर्वपरयोः एक गुणः (भवति)=अर्थात् अवर्ण से यदि अच् परे हो, तो पूव और पर दोनों के स्थान में गुण एकादेश हो जाता है। गुण—अदेङ् गुणः (१।१।२) से 'अ ए ओ' को कहते हैं । जैसे—सूर्य+उदयः=सूर्योदयः, परम+ईश्वरः=परमेश्वरः, तव+इदम्=तवेदम्, मम+इदम्=ममेदम्, ब्रह्म+ऋषिः=ब्रह्मर्षिः ।

(६) वृद्धिरेचि (६।१।८५) यहां पूर्व सूत्र से आद् की अनुवृत्ति है। अर्थ—आद् एचि संहितायां पूर्वपरयोः वृद्धिः एकः (भवति)—अवर्ण से परे एच् हो, तो पूर्व और पर दोनों के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । वृद्धिरादैच् (१।१।१) से 'आत् (आ) तथा ऐच्=ऐ औ' इन तीन अक्षरों की वृद्धि संज्ञा होती है । जैसे—परम+ऐश्वर्य्य=परमैश्वर्य्य ।

(७) एङि पररूपम् ६।१।९१ में ऊपर ६।१।८८ से 'उपसर्गात्' और 'धातौ' की अनुवृत्ति आती है।, ६।१।८१ से 'एकः पूर्वपरयोः' की, और ६।१।८४ से 'आत्' की अनुवृत्ति आती है। अनुवृत्ति जोड़कर स्वरूप यह बना—एङि पररूपम् आद् उपसर्गात् धातौ पूर्वपरयोः एकः। अर्थ बना—आत् उपसर्गात् एङि धातौ पूवपरयोः पररूपं एकः (आदेशो भवति)—अर्थात् अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु हो तो, पूर्व और पर के स्थान में पररूप एक आदेश हो जाता है। जैसे—उप+एलयति=उपेलयति। यहां वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश प्राप्त था, उसको बाध

---

१. क्रमशः अर्थं ,यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' (१।३।१०) परिभाषासूत्र से प्राप्त होता है। द्र०—पूर्व पृष्ठ १००, सूत्र संख्या २२।

(हटा) कर 'पररूप एकादेश' अर्थात् जैसा परले का रूप हो वैसा एक आदेश हो जावे । उप एलयति=उपेलयति, यहां पररूप 'ए' है, सो 'अ और ए' के स्थान में ऐ वृद्धि न होकर पररूप 'ए' हो जाता है ।

(८) **अतो गुणे** (६।१।९४) यहां भी ऊपर से **एकः पूर्वपरयोः** (६।१।८१)का अधिकार, ६।१।९३ से **अपदान्तात्** की अनुवृत्ति आती है । सूत्र का अर्थ वना—अपदान्तात् ५।१, गुणे, ७।१,पूर्वपरयोः ६।१, पररूपम् १।१ एकः १।१ (=एकादेशः) (भवति)—अर्थात् अपदान्त अकार से परे गुण (अ ए ओ) में से कोई हो, तो पूर्ववत् और पर के स्थान में पररूप गुण एक आदेश हो जाता है । जैसे—पठ्+अ+अन्ति=पठन्ति । यह हम पहिले ११ वें दिन के पाठ में भी बता चुके हैं । यहां शप् के अ और अन्ति के अ इन दोनों के स्थान में पर=पीछेवाला अ रहकर पठन्ति बन गया । पचे यजे—यहां 'पच् शप् इट्' में शप् का अ और ३।४।७९ से इट् के स्थान में हुआ 'ए', पच् शप् ए=पच् अ ए=पचे यजे बन जाता है । यहां भी ६।१।८५ से वृद्धि एकादेश प्राप्त था ॥

तेईसवां पाठ

सन्धि-प्रकरण (२)

आज हम अच् सन्धि के शेष आवश्यक सूत्र बताते हैं, जो सिद्धि के काम में अधिक आते हैं—

(९) **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।९७)—यहां पूर्ववत् 'संहितायाम्' 'एकः पूर्वपरयोः' तथा 'अचि' का अधिकार और अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ बना—अकः सवर्णे अचि पूर्वपरयोः दीर्घः एकः (भवति)—अक् प्रत्याहार से परे यदि सवर्ण अच् हो, तो पूर्व पर दोनों के स्थान में दीर्घ एकादेश हो जाता है। जैसे- तव+अत्र=तवात्र; यदि+इदम्=यदीदम्, भानु+उदयः =भानूदयः; पितृ+ऋणम्=पितॄणम्।

(१०) **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।९८) यहां ९७ से 'अकः' तथा पूर्ववत् 'अचि', 'दीर्घः' और एकः पूर्वपरयोः' आते हैं। सूत्र का अर्थ बना—प्रथमयोः अकः अचि पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णः एकः दीर्घ (भवति)—प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में यदि अक् प्रत्याहार से परे अच् हो, तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ (पहिले का सवर्ण दीर्घ) एकादेश हो जाता है। जैसे—अग्नि+औ=अग्नी; वायु+औ=वायू; पुरुष+शस्=पुरुष+अस्, पूर्ववत् पुरुषास् होकर **तस्माच्छसो नः पुंसि** (६।१।९९)--तस्मात्=उस दीर्घ किए हुए से परे शसः=शस को 'न' हो जावे पुल्लिङ्ग में। सो शस् के अन्त्य 'स्' के स्थान में **अलोऽन्त्यस्य** (१।१।५१)--षष्ठीनिर्दिष्ट=षष्ठी विभक्ति से कहा हुआ कार्य अन्त्य अल् के स्थान में होता है। इससे स् को न् हो जाता है=पुरुषान्, रामान्, अग्नीन्, वायून्, पितॄन्।

(११) **नादिचि** (६।१।१००)-- (न अ० ।। आत् ५।१।। इचि ७।१।।) ऊपर से प्रथमयोः पूर्वसवर्ण, दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् इन सब का अधिकार और अनुवृत्ति तो आती ही है। अर्थ यह बना—आत् प्रथमयोः इचि पूर्वपरयोः एकः सवर्णदीर्घ न (भवति)— अर्थात् अकार से परे प्रथमा द्वितीया विभक्ति में इच् प्रत्याहार में से कोई अक्षर हो, तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एक आदेश नहीं होता। पुरुष+औ में ९८ सूत्र से

पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त था, सो नहीं हुआ। पुनः वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि होकर —'पुरुषौ' बना।

(१२) अमि पूर्वः (६।१।१०३) यहां भी 'अकः', 'एकः पूर्वपरयोः' ऊपर से आते हैं। अर्थ बना – अकः अमि पूर्वपरयोः पूर्वः एकः (भवति)— अर्थात् अक् प्रत्याहार से परे अम् हो, तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्व एक आदेश हो जाता है। जैसे—पुरुष+अम्=पुरुषम्, अग्नि+अम्=अग्निम्, वायु+अम्=वायुम्।

(१३) सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४)—सम्प्रसारण (इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४४) से परे अच् हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे – वच+क्त में ६।१।१५ से 'व्' को 'उ' सम्प्रसारण होकर– उ अ च् त रूप बना। यहां 'उ अ' में इस सूत्र से पूर्वरूप होकर ('अ' के हट जाने से) उच् त=उक्त=उक्तः, उक्तवान् बन जाता है।

(१४) एङः पदान्तादति (६।१।१०५)—(एङः ५।१।।पदान्तात् ५।१।। अति ७।१।।) यहां ऊपर सूत्र से 'पूर्वः' की अनुवृत्ति आती है, 'एकः पूर्वपरयोः' की भी। अर्थ बना—पदान्तात् एङः अति पूर्वपरयोः पूर्वः एकः (भवति) – पद के अन्त में एङ् प्रत्याहार से परे ह्रस्व अकार हो, तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे—पुरुषो[1] अत्र= पुरुषोऽत्र। स्पष्ट करने के लिए ऽ ऐसा चिह्न कर दिया जाता है। रामो अत्र=रामोऽत्र।

(१५) ङसिङसोश्च (६।१।१०६) यहां १०५ से 'एङः' 'अति' की अनुवृत्ति आती है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है ही। सो अर्थ बन गया —एङः= एङ से परे ङसिङसोः अति=ङसि और ङस् का अत् हो, तो च=भी पूर्वपरयोः=पूर्व और पर के स्थान में पूर्वः=पूर्व एकः=एक आदेश हो जाता है। जैसे—अग्नि+ङस्=अग्ने अस्=अग्नेस्=अग्नेः; वायो+अस्= वायोस्=वायोः। यहां ङित् विभक्ति परे रहते घिसंज्ञक को घेर्ङिति (७।३।१११) से गुण होता है।

(१६) अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१०९)—(अतः ५।१।। रोः ६।१।। अप्लुतात् ५।१।। अप्लुते ७।१।।) यहां १०७ सूत्र से 'उत्' की अनुवृत्ति आती है, १०५ से अति की। सूत्र का अर्थ बना—अप्लुतात् अतः रोः उत् अप्लुते अति—अप्लुत (प्लुत त्रिमात्रिक को कहते हैं, जैसे ओ३म् में ओ प्लुत है, जो प्लुत नहीं वह अप्लुत) अकार से परे 'रु' के स्थान में 'उ' हो जाता है,

---

१. 'पुरुषो' रूप के लिए आगे संख्या १६ का सूत्र (६।१।१०९) देखें।

यदि अप्लुत अ परे हो तो। जैसे—पुरुष+सु=पुरुष+स्=पुरुष+रु=पुरुष रु अत्र=पुरुष उ अत्र। आद्गुणः (६।१।८४) स गुण होकर 'पुरुषो अत्र' बना। ऊपर के १०५ सूत्र से पूर्वरूप होकर—'पुरुषोऽत्र' हो गया।

(१७) हशि च (६।१।११०) यह सूत्र अच् सन्धि का नहीं है। यहां अतः रोः उत् की अनुवृत्ति और संहितायाम् का अधिकार आता है। अर्थ बना—अतः रोः हशि संहितायाम् उत् (भवति)—अतः=ह्रस्व अकार से परे रोः=रु के स्थान में 'उत्' हो जाता है, यदि हश् प्रत्याहार में कोई अक्षर परे हो तो। जैसे—पुरुष+सु गच्छति=पुरुष+स्=पुरुष+रु गच्छति=पुरुष+उ गच्छति। आद्गुणः (६।१।८४) से पुरुषो गच्छति, पुरुषो वदति, पुरुषो हसति इत्यादि बनेगा।

अच् सन्धि के दो आवश्यक सूत्र और समझ लेना चाहिये—

(१८) प्रकृत्याऽन्तःपादम्(६।१।१११)—(प्रकृत्या ३।१।। अन्तःपादम् अ०।।)। यहां 'एङः' और 'अति' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—एङः अति अन्तःपादम् प्रकृत्या (भवति)—पाद (ऋक् आदि के चरण) के अन्तः (मध्य) में एङ् से परे अत् हो, तो वह प्रकृतिरूप में रहता है, (अर्थात् सन्धि नहीं होती)। जैसे—सुजाते अश्व सूनृते। यहां (६।१।१०५) से पूर्वरूप प्राप्त था, सो न हुआ।

(१९) प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६।१।१२१)—अच् परे हो तो प्लुत और प्रगृह्य प्रकृति भाव से रह जाते हैं, अर्थात् सन्धि नहीं होती। जैसे—अग्नी अत्र, वायू अत्र। यहां इको यणचि (६।१।७४) से सन्धि में य् और व् प्राप्त थे।

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (१।१।११)—ईत् ऊत् एत् जिसके अन्त में हो ऐसे द्विवचन शब्द रूप की 'प्रगृह्य' संज्ञा होती है। इससे यहां प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि नहीं होती।

ये अच् सन्धि के आवश्यक सूत्र लिखे। इनका प्रयोग अगले दिन के पाठ में होगा। जिसमें प्रायः इन सब सूत्रों का अर्थ सुदृढ़ हो जायेगा। अच् सन्धि के अन्य सूत्र जो लगें, वे "सन्धिविषय" में देख लेवें॥

—

चौबीसवां पाठ

'पुरुष' शब्द के रूप

आज हम पुरुष शब्द के सब रूपों की सिद्धि करना चाहते हैं। 'पुरुषः' की सिद्धि हम पहिले (६वें पाठ में) करा चुके हैं।

आगे पूर्ववत् (१।२।४५ से) प्रातिपदिक संज्ञा होकर, तथा पूर्ववत् सब सूत्र लगाकर पुरुष+औ हुआ। इसमें पहिले **आद् गुणः** (६।१।८४) से गुण की प्राप्ति होती है। उसको बाधकर **वृद्धिरेचि** (६।१।८५) से वृद्धि को प्राप्ति होती है। उसको बाधकर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।६८) से पूर्व-सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति होती है। उसको नादिचि(६।१।१००)ने बाध दिया। अतः पुनः **वृद्धिरेचि** (६।१।८५) से वृद्धि होकर—**पुरुषौ** बना।

पुरुष+जस् में चुटू (१।३।७) से ज् की इत्संज्ञा, **तस्य लोपः** (१।३।६) से लोप होकर पुरुष+अस् बना। यहां **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।६८)—अक् प्रत्याहार में से किसी अक्षर से परे प्रथमा और द्वितीया विभक्ति का अच् हो, तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है। इससे पुरुषास् बना। पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—**पुरुषाः** ऐसा रूप बन गया।

पुरुष+अम् में **अमि पूर्वः**(६।१।१०३) से पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होकर—**पुरुषम्** बना।

पुरुष+औट् में ट् की इत्संज्ञा होकर पुरुष+औ=पूर्ववत् **पुरुषौ** बना।

पुरुष+शस् में **लशक्वतद्धिते** (१।३।८) से 'श्' की इत्संज्ञा होकर पुरुष+अस् बना। **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।६८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर पूर्ववत् पुरुषास् हुआ। अब **तस्माच्छसो नः पुंसि** (६।१।६६)—उस पूर्व-सवर्ण दीर्घ किये हुए से आगे शस् के सकार को पुंल्लिङ्ग में न् आदेश हो जाता है। इस तथा **अलोऽन्त्यस्य** (१।१।५१)से अन्त्य स् के स्थान में नकार होकर **पुरुषान्** बना। यहां पुरुषान् में न् को ण् ८।४।१,२ से प्राप्त होता है। सो **पदान्तस्य** (८।४।३६)—पद के अन्त में नकार को णकार नहीं होता। इस सूत्र में नहीं हुआ। यह भी समझ लेना चाहिये।

पुरुष+टा में **चुटू** (१।३।७) से ट् की इत्संज्ञा और लोप होकर

यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) से पुरुष की अङ्ग संज्ञा होकर टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२) लगा। इसमें अतो भिस ऐस् (७।१।९) से अतः को, (६।४।१) से अङ्गस्य की अनुवृत्ति और अधिकार आता है। अर्थ—अदन्त[1] अङ्ग से परे टा ङसि और ङस् को 'इन' 'आत्' और 'स्य' यथाक्रम आदेश हो जावे। सो 'टा' के स्थान में 'इन' आदेश होकर—पुरुष+इन। आद् गुणः (६।१।८४) से गुण, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से अ ए ओ गुण में से ए गुण होकर पुरुषेन बना। अब रषाभ्यां नो णः समानपदे (८।४।१) तथा अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२), से न को ण होकर—पुरुषेण हो गया।

पुरुष+भ्याम् में सुपि च (७।३।१०२) सूत्र लगा। इसमें अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१), का तथा अङ्गस्य (६।४।१) का अधिकार आकर अर्थ बना अतः अङ्गस्य यञि सुपि दीर्घः (भवति) = अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाये, यदि यञादि[2] सुप् परे हो तो। इससे दीर्घ होकर—पुरुषाभ्याम्।

पुरुष+भिस्—अतो भिस ऐस् (७।१।९) में अङ्गस्य (६।४।१) का अधिकार है। अर्थ बना—अदन्त अङ्ग से परे भिस् के स्थान में ऐस् हो। सो पुरुष+ऐस् हुआ। अब वृद्धिरेचि (६।१।८५) से पुरुषैस्। पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—पुरुषैः।

पुरुष+ङे - ङेर्यः (७।१।१३) में अतः अङ्गस्य की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—अदन्त अङ्ग से परे 'ङे' के स्थान में 'य' हो जावे। पुरुष+य में य को सुप् मानकर सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ प्राप्त हुआ। पर 'य' तो सुपों में है नहीं, वहां ङे है। इसलिये स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१।१।५५)—(आदेश=आनेवाले को कहते हैं, स्थानी=जिसके स्थान पर कोई हो।) अर्थ है—आदेश स्थानिवत्=स्थानी के तुल्य माना जावे, अल्विधि को छोड़कर। सो यहां 'ङे' सुप् था, अतः इस सूत्र से ङे के स्थान पर होनेवाला 'य' भी सुप् माना गया। तब दीर्घ होकर—पुरुषाय बना।

पुरुष+भ्याम्=पुरुषाभ्याम् पूर्ववत्।

पुरुष+भ्यस् में सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ प्राप्त होता है। उधर बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से एत् प्राप्त है। अतः झलि सुपि बहुवचने एत्—अदन्त अङ्ग को एत् हो जावे, यदि बहुवचन में झलादि सुप्

---

१. यहां भी 'अतः' से अदन्त अर्थ १।१।७१ सूत्र के नियम से लिया गया है।

२ यञ् से यञादि कैसे लिया, इसके लिए ४१वें पाठ पृष्ठ ६० की टि० ७ देखें।

परे हो तो। सः दोनों की प्राप्ति में कौन हो, इस झगड़े का निर्णय करने के लिए अगला यह परिभाषासूत्र (निर्णय करनेवाला) लगा—विप्रतिषेधे परं कार्यम (१।४।२)। इसने कहा—जहां एक ही साथ विप्रतिषेध (=परस्पर विरोधी कार्य) प्राप्त हो, वहां पर (पीछेवाला) कार्य हो जाया करे। यतः सुपि च (७।३।१०२) से बहुवचने झल्येत (७।३।१०३) परे=आगे है, अतः दीर्घ न होकर एत् होकर पुरुषेभ्यः बन गया।

पुरुष+ङसि—पूर्ववत् टाङसि० (७।१।१२) से आत् होकर पुरुष+आत्। सवर्णदीर्घ (६।१।९७) से होकर—पुरुषात् बना।

आगे पुरुषाभ्याम्, पुरुषेभ्यः पूर्ववत्।

पुरुष+ङस् को पूर्ववत् (७।१।१२ से) स्य होकर—पुरुषस्य बना।

पुरुष+ओस्—ओसि च (७।३।१०४) यहां अतः एत् अङ्गस्य की अनुवृत्ति है। अर्थ—ओस परे हो, तो भी अदन्त अङ्ग को ए हो जावे। पुरुषे+ओस. एचोऽयवायावः (६।१।७५) से ए को अय् होकर पुरुषय्+ओस्= पुरुषयोस्। पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—पुरुषयोः बना।

पुरुष+आम्—ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) यहां आमि अङ्गस्य की अनुवृत्ति है। ह्रस्वनद्यापः अङ्गस्य आमि नुट् (भवति)—ह्रस्व नदी और आप् अङ्ग से परे यदि आम् हो, तो उसे नुट् का आगम होता है। टित् होने से आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से आम के आदि में आ गया। पुरुष+नुट्+आम, इत्संज्ञा होकर पुरुष न् आम्=पुरुष+नाम्। नामि (६।४।३) में ६।४।१ से अङ्गस्य की, और दीर्घः की ६।३।११० से अनुवृत्ति आती है। अर्थ—नाम् परे हो तो अजन्त अङ्ग को दीर्घ हो। पुरुषानाम्, आगे पूर्ववत् (८।४।१,२) से न को ण होकर—पुरुषाणाम् बना।

---

१. यहां आम् को नुट् का आगम होना है। आमि में तो सप्तमी है। सो उसे नुट् कैसे होगा? 'आमि में सप्तमी होने से 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य [१।१।६६] से पूर्व को नुट् होना चाहिये। परन्तु 'ह्रस्वनद्यापः' में पञ्चमी होने से तस्मादित्युत्तरस्य' [१।१।६६] के नियम से उत्तर 'आम्' को नुट प्राप्त होता है। दोनों में से किसको नुट् हो, इस विरोध में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम् [१।४।२] के नियम से दोनों में पर 'तस्मादित्युत्तरस्य' के नियम की प्रवृत्ति होने से जहां पञ्चमी-निर्दिष्ट कार्य हो, वहां उत्तरवाले को कार्य होता है। इससे आमि सप्तमी विभक्ति षष्ठी विभक्ति में बदल जाती है। उसे षष्ठी मानकर उसको नुट् का आगम हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये।

पुरुष+ङि—पुरुष+इ पूर्ववत् (६।१।८४) से गुण होकर—पुरुषे बना।

पुरुष+ओस्=पुरुषयोः पूर्ववत्।

पुरुष+सुप्=पुरुष+सु, बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) स एत् होकर पुरुषे+सु। आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—पुरुषेषु बना।

सम्बोधन में—सम्बोधने च (२।३।४७)—सम्बोधन में भी प्रथमा होती है। पुरुष+सु में एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४९)—सम्बोधन के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा होती है। इससे सु की सम्बुद्धि संज्ञा होकर एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) यहां ६।१।६४ से लोपः, तथा ६।१।६६ से अपृक्तं हल् की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—एङ् तथा ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के अपृक्त हल् का लोप हो जाता है। इससे स् का लोप होकर हे पुरुष बना। आगे हे पुरुषौ, हे पुरुषाः पूर्ववत् बने।

पाठक ध्यान से देखें कि अच् सन्धि के पूर्व लिखे सूत्रों का 'पुरुष' शब्द की सिद्धि में कितना अधिक काम पड़ा, और कैसे ये रूप सुगृहीत हो गये। किस समय क्या बताना, यह भी एक मनोवैज्ञानिक विषय है॥

———

पच्चीसवां पाठ

शेष हल्सन्धि तथा विसर्गसन्धि

प्रसङ्गतः हल्सन्धि और विसर्गसन्धि का भी कुछ ज्ञान अवश्य हो जाना चाहिये। इसमें हम **चोः कुः** (८।२।३०), **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९), **वावसाने** (८।४।५५) सूत्रों को ९वें दिन के पाठ में 'वाक्' 'वाग्', और 'वाग्भ्याम्' की सिद्धि में बता चुके है। **झलां जश्झशि** (८।४।५२) को १४वें दिन के पाठ में 'रुन्धः' की सिद्धि में, तथा **झषस्तथोर्धोऽधः** (८।२।४०) को भी वहीं बताया गया है। **अभ्यासे चर्च** (८।४।५३) को 'जुहोति' की सिद्धि में १३वें दिन के पाठ में लिख आये हैं। **आदेशप्रत्यययोः** (७।३।५९) को 'वाक्षु' तथा 'पुरुषेषु' की सिद्धि में, **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (८।४।१), तथा **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (८।४।२) को 'क्रीणाति' तथा 'पुरुषेण' की सिद्धि में बता चुके हैं।

इस प्रकार हल्सन्धि के जो सूत्र बताये जा चुके हैं, उन्हें छोड़कर अन्य सूत्र क्रमशः समझा देने चाहियें—

(१) **मोऽनुस्वारः** (८।३।२३)—इसमें ८।३।२२ से हलि की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** (८।१।१६) का अधिकार है ही। अर्थ बना—**हलि पदस्य मः अनुस्वारः (भवति)**—अर्थात् पद[1] के अन्त में मकार के स्थान में अनुस्वार होता है, यदि हल् परे हो तो। पुरुष+अम्=पुरुषम् वदति=पुरुषं वदति, रामं वदति।

(२) **नश्चापदान्तस्य झलि** (८।३।२४)—**मोऽनुस्वारः** ऊपर से आता है। अर्थ हुआ—अपदान्त मकार और नकार को अनुस्वार हो जावे, यदि झल् परे हो तो। जैसे—पुम्+सु=पुंसु। मीमान्+सते=मीमांसते।

अब विसर्गसन्धि के कुछ सूत्र भी बता देने चाहियें—

इसमें (३) **ससजुषो रुः** (८।२।६६), तथा (४) **खरवसानयोर्विसर्जनीयः**

---

१. यहां भी **येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७१) से पद से पदान्त अर्थ पूर्ववत् लिया जाता है। ऐसा ही अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

(८।३।१५) तो पहले ९वें पाठ में बता चुके हैं। अब (५) **हशि च** (६।१।११०)—हश् परे रहने पर अत् से परे 'रु' को 'उ' हो जाता है। जैसे—पुरुषस् (रु=उ) गच्छति=पुरुषो गच्छति; पुरुषो हसति।

(६) **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** (८।३।१७)—यहां ८।३।१६ से रोः की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—**भोभगोअघोअपूर्वस्य रोः य् अशि (भवति)**—रु को य् हो जाये, अश् प्रत्याहार में कोई अक्षर परे हो तो, यदि उस रु से पहले 'भो, भगो, अघो तथा अकार' इनमें से कोई हो। जैसे—पुरुष रु आगच्छति=पुरुष य् आगच्छति। पुरुषा रु आगच्छन्ति=पुरुषा य् आगच्छन्ति। अब इस य् का लोप—

(७) **लोपः शाकल्यस्य** (८।३।१९) से हो जाता है। यहां ८।३।१७ से सब पदों की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—शाकल्य आचार्य के मत में ऊपर कहे य् व् का लोप हो जाये, अश् परे हो तो। इसी प्रकार पुरुषास् इच्छन्ति=पुरुषा य् इच्छन्ति=पुरुषा इच्छन्ति। पुरुषा उत्तिष्ठन्ति, पुरुषा ऋच्छन्ति इत्यादि। जब य् का लोप नहीं होता, उस पक्ष में पुरुषाय् आगच्छन्ति आदि ऐसा रहेगा।

(८) **हलि सर्वेषाम्** (८।३।२२)—यहां ८।३।१७ सारे सूत्र की अनुवृत्ति आती है। अर्थ हुआ—हल् परे हो, तो '**भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि**' से रु के स्थान में जो य् हो, उसका सब आचार्यों के मत में लोप हो जाये। सो पुरुष+जस्=पुरुष+अस्=पुरुषारु गच्छन्ति=पुरुषाय् गच्छन्ति=**पुरुषा गच्छन्ति** ऐसा रूप हो गया। इसी प्रकार **पुरुषा हसन्ति** इत्यादि।

(९) **विसर्जनीयस्य सः** (८।३।३४)—यहां ८।३।१५ सूत्र से '**खरि**' की मण्डूकप्लुति न्याय से अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना–खर् प्रत्याहार में कोईसा अक्षर परे हो, तो विसर्जनीय के स्थान में सकार आदेश हो जाता है। जैसे—पुरुषः तरति=**पुरुषस्तरति**।

(१०) **वा शरि** (८।३।३६)—शर् परे हो, तो विसर्जनीय को विसर्जनीय विकल्प करके हो, पक्ष में स् रहेगा। जैसे—पुरुषः शेते। पुरुषस् शेते =**पुरुषश्शेते**, यहां—

(११) **स्तोः श्चुना श्चुः** (८।४।३९)—सकार और तवर्ग को शकार और चवर्ग हो जावे, शकार और चवर्ग के योग में। इससे स् को श् हो गया।

(१२) **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५९)—पहिले बता चुके हैं।

(१३) **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि** (८।३।५८)—यहां ऊपर से ८।३।४७

से इण्कोः का अधिकार आता है । तथा ५६ से 'सः', ५५ से 'मूर्धन्यः की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—यदि नुम् विसर्जनीय तथा शर् प्रत्याहार में से किसी का भी व्यवधान बीच में हो, तो भी इण् और कवर्ग से परे स् के स्थान में मूर्धन्य आदेश हो जावे । जैसे—**यजुष्षु, हविष्षु** ।

हल्सन्धि तथा विसर्गसन्धि के और जो-जो सूत्र लगें, उन्हें समझा देना चाहिए । पठनार्थी सन्धिविषय में देख लेवें ।

अब की बार हमने सन्धि का एक चित्र (चार्ट) इस पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट सं० १ में दिया है । सन्धि का अभ्यास करने के लिये पठनार्थी उस चित्र को अवश्य देखें, और अभ्यास करें । इससे सन्धि-विषय में परम लाभ होगा ॥

छब्बीसवां पाठ

कृत् प्रत्यय (१)

सामान्य विषय

अब हम कृत् प्रत्ययों का विषय उठाते हैं—

हमारे पठनार्थी समझ चुके हैं कि **धातोः** (३।१।९१) का अधिकार (३।४।११७) तक है। **प्रत्ययः परश्च** (३।१।१,२) का अधिकार ५।४।१६० तक जाता है।[1] यह भी समझ चुके हैं कि **तिङ्शित् सार्वधातुकम्** (३।४।११३) —धातु से आनेवाले प्रत्ययों में तिङ् (१८) तथा शित् (जिसका श् इत् हो) वे प्रत्यय 'सार्वधातुक' कहलाते हैं। **आर्धधातुकं शेषः** (३।४।११४)—धातु से आनेवाले तिङ् शित् से शेष बचे हुए प्रत्यय 'आर्धधातुक' संज्ञावाले हो जाते हैं। उधर **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४)—सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर इगन्त अङ्ग को गुण हो जाता है। अङ्ग की लघु उपधा को सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर **पुगन्तलघूपधस्य च** (७।३।८५) से गुण हो जाता है। **अदेङ्गुणः** (१।१।२) तथा **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) से भू को 'भो', चि को 'चे', नी को 'ने' होता है। यह तो गुण हुआ।

ऐसे ही ७।२।११४ से ११८ तक वृद्धि का प्रकरण है। **अचो ञ्णिति** (७।२।११५) में ७।२।११४ से **वृद्धिः** की अनुवृत्ति है, और **अङ्गस्य** (६।४।१) का अधिकार है ही। अर्थ हुआ—**अचो अङ्गस्य ञ्णिति वृद्धिः (भवति)** —ञित् णित् परे हो, तो अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है। जैसे—कृ+ण्वुल् =कृ+वु=७।१।१ से वु को अक=कृ अक होता है। यहां कृ के ऋ को **उरण् रपरः** (१।१।५०) से रपर होकर आर् वृद्धि होने से कार्+अक=कारक+सु =कारकः बना। इसी प्रकार **अत उपधायाः** (७।२।११६) में ११५ से **ञ्णिति** तथा ११४ से **वृद्धिः** की अनुवृत्ति आती है। (६।४।१) से **अङ्गस्य** का अधिकार है। **अङ्गस्य उपधायाः अतः वृद्धि (भवति) ञ्णिति परतः**=ञित् णित् परे हो, तो अङ्ग की उपधा अत्=ह्रस्व अकार को वृद्धि होती है। जैसे—पठ् ण्वुल्=पठ् वु=पठ+अक=पाठ् अक=पाठक सु=पाठकः बनता है।

---

१. देखो पृष्ठ ३१, ३२।

आगे गुण तथा वृद्धि का निषेध कब होता है, यह दर्शाते हैं—

जहां कित् गित् ङित् प्रत्यय होगा, वहां **क्ङिति च** (१।१।५) से गुण तथा वृद्धि का निषेध हो जाता है। सो कृत् प्रत्ययों के परे या तो गुण होगा या वृद्धि, अथवा गुण-वृद्धि का निषेध। इतनी बात सब कृत् प्रत्ययों में काम की है। गुण वृद्धि तथा गुण वृद्धि का निषेध ये दोनों जान लेने पर आगे यह जान लेना चाहिये कि यह धातु सेट् (इट् सहित) है या अनिट् (इट्रहित) है। धातुपाठ में पठित उदात्त धातुएं सेट् है,अनुदात्त धातुएं अनिट् हैं। सूची में देख लेने से भी झट पता लग जाता है कि अमुक धातु किस गण की है, और आत्मनेपदी है या परस्मैपदी, तथा सेट है या अनिट्। यह सब सूची में दिये गये निर्देशों से पता लग जाता है। **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (७।२।१०) से लेकर ७।२।३४ तक अनिट् अर्थात् इन सूत्रों से सेट् धातु भी अनिट् हो जाते हैं, यह **'अनिट्-प्रकरण'** है। और **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (७।२।३५) यहां **अङ्गस्य** (६।४।१) का अधिकार है। **वलादेः आर्धधातुकस्य इट्(भवति)** =वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है। इससे आगे ७८ तक 'सेट्-प्रकरण' है।३५से आगे अनिट् धातु भी वहां-वहां सेट् हो जाते हैं,ऐसा समझना चाहिये। सेट्-अनिट् प्रकरण सारा का सारा बस इतने में ही समाप्त है। जो २-३ में ही सारा पढ़ा और समझा जा सकता है।

यहां एक बात और समझ लेने की है कि **कृदतिङ्** (३।१।९३)से ३।४ ११७ तक तिङ् (१८) को छोड़कर धातु से आनेवाले प्रत्यय 'कृत्' कहलाते हैं। उधर **कृत्याः**(३।१।९५)से १३२ सूत्र तक'कृत्य'भी कहलाते हैं। **कर्त्तरि कृत्**(३।४।६७)—यहां **धातोः** का अधिकार है। **धातोः कृत् कर्त्तरि(भवति)** —धातु से कृत् प्रत्यय कर्त्ता में होते हैं। आगे के सूत्र इसके अपवाद हैं, जिन का विधान आगे लिखते हैं—**लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः**(३।४।६९)यहां **कर्त्तरि** की अनुवृत्ति है, **धातोः** का अधिकार है ही। **अर्थ—लः** (लट्, लिट् आदि)अकर्मक धातुओं से कर्त्ता और भाव में होते हैं,और सकर्मक धातुओं से कर्त्ता और कर्म में होते हैं। यह हम पहिले भी १०वें पाठ में लिख चुके हैं। भाव और कर्म का अधिक विवेचन आगे ४२ वें पाठ में देखें। अगला सूत्र है—**तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** (३।४।७०)**अर्थ—तयोः**=उन दोनों कर्म और भाव में, एव=ही कृत्य क्त और खल् अर्थवाले प्रत्यय होते हैं। इससे कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म में ही होते हैं, यह बात सिद्ध हुई॥

———

सत्ताईसवां पाठ

कृत् प्रत्यय (२)

प्रत्यय-माला[1]

अब हम उन प्रत्ययों को दिखाते हैं, जो धातु से ही आते हैं—

प्रत्यय-विधायक सूत्र	पठादि धातुओं से बना रूप
१. तव्य–तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६	पठितव्यम्, चेतव्यम्, कर्तव्यम्
२. अनीयर—,, ,, ,,	पठनीयम्, चयनीयम्, करणीयम्
३. यत्–अचो यत् ३।१।९७	चेयम्, नेयम्
४. ण्यत्–ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४	पाठ्यम्, पाक्यम् (पाच्यम्), कार्यम्
५. ण्वुल्–ण्वुल्तृचौ ३।१।१३३	पाठकः, पाचकः, कारकः
६. तृच्— ,, ३।१।१३३	पठिता, चेता, कर्त्ता
७. क्त—निष्ठा ३।२।१०२	पठितः, चितः, कृतः
८. क्तवतु—,, ,,	पठितवान्, चितवान्, कृतवान्
९. घञ्—भावे ३।३।१७	पाठः, पाकः
१०. अच्—एरच् ३।३।५६	चयः, जयः, नयः
११. क्तिन्–स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४	पठितिः, पक्तिः, चितिः, कृतिः
१२. ल्युट्–ल्युट् च ३।३।११५	पठनम, पचनम्, चयनम्, करणम
१३. तुमुन्–समानकर्तृकेषु तुमुन् ३।३।१५८	पठितुम् (इच्छति), चेतुम् (इच्छति) कर्तुम्···
१४. क्त्वा–समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३।४।२१	पठित्वा, चित्वा, कृत्वा
१५. शतृ–लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३।२।१२४	पठन्, दीव्यन्, जयन्, भवन्
१६. शानच्—,, ,,	पचमानः, नयमानः

अब इनकी सिद्धि निम्न प्रकार जानें—

(१) तव्य—पठ् की **भूवादयो धातवः** (१।३।१) से धातु संज्ञा होकर, **धातोः** (३।१।९१) के अधिकार में **तव्यत्तव्यानीयरः** (३।१।९६)—धातु से तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्यय हो जाते हैं। जैसे—पठितव्यम्, वदितव्यम्,

---

१. प्रत्ययमाला से सामान्यतया णिजन्त, सन्नन्त आदि अर्थ लिया जाता है। हमने यहां प्रत्ययमाला का प्रत्यय-समूहमात्र अर्थ लिया है।

करणीयम् । इससे तथा प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से पठ्+तव्य बनकर आर्द्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से आर्धधातुक संज्ञा होकर, यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) से अङ्ग संज्ञा होकर, यह सेट् धातु है, अतः आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५) से 'इट्' आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से 'तव्य' के आदि में होकर—पठ्+इट्+तव्य=इत् संज्ञा और लोप होकर पठ्+इ+तव्य=पठितव्य बना। कृदतिङ् (३।१।९३) से कृत्संज्ञा होकर कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर, स्वौजसमौट्··· सुप् (४।१।२) से पूर्ववत् सु की उत्पत्ति होकर पठितव्य+सु=पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'पठितव्यम्'[1] हो गया । कृत्याः (३।१।९५) से तव्य की कृत्यसंज्ञा भी होती है । अतः तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०) के नियम से कर्म में होकर पठितव्यम्=पढ़ा जाना चाहिये, इसका ऐसा अर्थ होता है । चि+तव्य में सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) यह सूत्र अधिक लगकर गुण, अदेङ् गुणः (१।१।२) से अ ए ओ प्राप्त हुए । स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से इ को ए गुण होकर चेतव्यम्, नेतव्यम् आदि बन गये । 'कृ+तव्य' में भी गुण प्राप्त हुआ, तो ऋ के स्थान में 'अ ए ओ' तीन गुण प्राप्त हुए, उरण् रपरः (१।१।५०)—उः=ऋ के स्थान में जब अण् (अ इ उ) में से कोई अक्षर प्राप्त हो तभी वह रपर=रपरेवाला हो जावे। सो 'अर्, ए,ओ' गुण प्राप्त हुए । ऋ को (१।१।४९) से अर् गुण होकर कृ को कर् होकर 'कर्त्तव्य' बना । आगे पूर्ववत् कर्त्तव्यम् बना । चि, नी, कृ ये अनिट् धातु हैं, इनसे इट् नहीं होता । क्योंकि एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०) सूत्र से इनसे इट् का निषेध हो जाता है । यहां (७।२।७) से 'नेट्' की अनुवृत्ति आकर सूत्र का अर्थ बना—अङ्गस्य उपदेशे एकाचः अनुदात्तात् धातोः इट् न (भवति)—अर्थात् अङ्गसम्बन्धी उपदेश में एकाच् अनुदात्त धातु से इट् (आगम) नहीं होता । अनीयर्, ण्वुल्, ल्युट् ये वलादि नहीं, अतः इनको इट् नहीं होता ।

तव्य, अनीयर्, यत्, ण्यत् प्रत्यय कृत्यसंज्ञक होने से भाव कर्म में होते हैं । घञ्, क्तिन्, ल्युट् ये तीनों 'भावे' (३।१।१८) के अधिकार में होने से भाव में होते हैं । शेष ण्वुल्, तृच्, क्तवतु, शतृ आदि ये सब कर्त्ता में होते हैं । यह समझ लेना चाहिये, ताकि उदाहरणों के अर्थ भी साथ-साथ समझ में आते चलें ।।

---

१. पठितव्य+सु, यहां 'अतोऽम्' (७।१।२४) से अदन्त नपुंमकलिङ्ग अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अम्' आदेश, और उसको पूर्वरूप होता है ।

अट्ठाईसवां पाठ

कृत् प्रत्यय (३)

(२) **अनीयर्**—३।१।९६से यहां पूर्ववत् अनीयर् होकर पठ्+अनीयर्= पठनीयम् । इसमें पठ् अनीय में कोई सूत्र नया न लगकर-पठनीय=पठनीयम् बना । पच् से **पचनीयम्** । यहां च+अनीय में अनीय (३।४।११४ से) आर्द्धधातुक होने पर ७।३।८४ से गुण होकर=चे+अनीय, (६।१।७६) से अय् होकर=चयनीय=**चयनीयम** बन जाता है । जि से **जयनीयम्** । नी से **नयनीयम** । यहां णीञ् धातु के आदि ण् **को णो नः** (६।१।६३)—धातु के आदि णकार को नकार होता है । इससे नी होकर **नयनीयम्** बनता है । कृ से ७।३।८४ से गुण होकर और १।१।५० से पूर्ववत् रपर होकर करणीय=**करणीयम्** बन जाता है । ऐसे ही अन्य धातुओं से छात्र स्वयं बना सकते हैं ।

(३) **यत्—अचो यत्** (३।१।९७)यहां ९१ सूत्र से **धातोः**,३।१।१,२ से **प्रत्ययः,परश्च** का अधिकार आता है । सूत्र का अर्थ बना—**अचः धातोः यत् प्रत्ययः परश्च(भवति)**—अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है,और वह परे होता है । अचः से अजन्त कैसे लिया गया, सो इसमें **येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७१)—जिस विशेषण के द्वारा विधि की जावे, वह अपने अन्तवाले को बताता है । 'अचः' पञ्चमी है, 'धातोः' भी पञ्चमी है । कैसे धातु से ? अचः=अजन्त से । यह तदन्त विधि सर्वत्र ऐसे ही समझ लेनी चाहिये ।

सो यहां अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है । अतः यह प्रत्यय हलन्त (पठ् पच्)से नहीं होगा । हलन्त में ३।१।१२४ से ण्यत् प्रत्यय हो जाता है । यह भेद छात्र को ध्यान में रख लेना है ।

सिद्धि—चि यत्, जि यत्, नी यत्, यत् के आर्द्धधातुक होने से ७।३।८४ से गुण होकर चेय, जेय, नेय बना । पूर्ववत् **चेयम्, जेयम्, नेयम्** बन गया ।

(४) **ण्यत्—ऋहलोर्ण्यत्** (३।१।१२४)—यहां भी पूर्ववत् **धातोः प्रत्ययः,परश्च** का अधिकार है। अर्थ बना—ऋकारान्त और हलन्त धातुओं,

ण्ये (यहां 'धातोः'में पंचमी विभक्ति है,इससे 'ऋहलोः' षष्ठी भी पंचमी मान ली जाती है) 'ण्यत्' हो। इससे ण्यत् होकर पठ् ण्यत्=पठ् य; पच् ण्यत् = पच् य। पठ् और पच् में १।१।६४ से उपधा संज्ञा, और ७।२।११६ से अ के स्थान में आ वृद्धि होकर—**पाठ्यम्** बनता है। पाच्+य में **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७।३।५२) अर्थ—**चकारजकारयोः कवर्गादेशो भवति घिति ण्यति च प्रत्यये परतः**=चकार जकार के स्थान में कवर्गादेश हो जाता है, घित् और ण्यत् प्रत्यय परे हो तो। इस से पाच् के च् को क् प्राप्त होने पर **ण्य आवश्यके** (७।३।६५)—आवश्यक अर्थ में ण्य परे रहने पर चवर्ग को कवर्ग होता है,अन्यत्र नहीं। इस नियम से आवश्यक अर्थ में क् होकर **अवश्यपाक्यम्** बनता है। अन्यत्र क् न होने से **पाच्यम्** (=पकाने योग्य) प्रयुक्त होता है।

(५) ण्वुल्—**ण्वुल्तृचौ** (३।१।१३३) यहां भी पूर्ववत् **धातोः, प्रत्ययः, परश्च** का अधिकार है। अर्थ बना—धातु (सब धातुओं) से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय(**कर्त्तरि कृत्** ३।४।६७ से कर्त्ता में)हो जाते हैं,और वह परे होते हैं। पठ् ण्वुल् में ण् और ल् की इत् संज्ञा होकर—'पठ् वु'में **यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (१।४।१३)से अङ्ग संज्ञा, और **युवोरनाकौ** (७।१।१)—अङ्गसम्बन्धी यु के स्थान में 'अन' और वु के स्थान में 'अक' हो जावे। इस से वु को अक होकर—'पठ् अक' में ७।२।११६ से पूर्ववत् उपधा को वृद्धि होकर पाठ्+अक=पाठक=**पाठकः** बन गया। इसी प्रकार पच् से **पाचकः**, यज् से **याजकः** बनेगा। चि ण्वुल्=चि वु=चि अक में (७।२।११५) से वृद्धि होकर 'चै अक', ६।१।७५ से आय् होकर चायक=**चायकः** (=चुननेवाला)बनता है। जि से **जायकः**,नी से **नायकः** बना। कृ से १।१।५० से पूर्ववत् रपर होकर कार् अक=**कारकः** बन जाता है। इसी प्रकार सब धातुओं से छात्र स्वयं बना लेगा।

(६) तृच्—इसमें सब अधिकार पूर्ववत् आकर 'पठ् तृच्' में तृच् के ३।४।११४ से आर्द्धधातुक होने से जैसे तव्य में इट् होता है, वैसे ही यहां भी ७।२।३५ से इट् होकर—पठितृ बना। १।२।४६ से प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'पठितृ सु' में **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च** (७।१।९४) यहां ६।४।१ से '**अङ्गस्य**',७।१।९२ से '**असम्बुद्धौ**',तथा ९३से'**अनङ् सौ**' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—ऋकारान्त-उशनस्-पुरुदंसस्-अनेहस् इन अङ्गों को 'अनङ्' हो जावे, सम्बुद्धिभिन्न सु परे हो तो। सो इस से १।१।५२ से पठितृ के ऋ के स्थान में अनङ् होकर पठित् अनङ्=पठित् अन्=पठितन्। पठितन् सु में १।१।४२ से सु की सर्वनामस्थान संज्ञा होकर **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ**

(६।४।८) यहां **अङ्गस्य, नोपधायाः**, तथा ६।३।११० से **दीर्घः** पदों की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना=सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो। इसमें 'पठितन् स्' का 'पठितान् स्' होकर ६।१।६६ से स् का लोप, १।४।१४ से पदसंज्ञा, तथा **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (८।२।७) यहां **पदस्य** का अधिकार है। अर्थ—प्रातिपदिक पद के अन्त के नकार का लोप हो। इस से लोप होकर—**पठिता** (=पढ़नेवाला) बन गया। पच् धातु के अनिट् होने से ७।२।१० से इट् का निषेध, ८।२।३० से कुत्व होकर **पक्ता** बनता है। चि तृच्, जि तृच्, नी तृच् में तृच के आर्द्धधातुक होने से ७।३।८४ से गुण होकर **चेतृ जेतृ नेतृ** बन जाते हैं। कृ से १।१।५० से पूर्ववत् रपर होकर **कर्तृ** बनता है। आगे पूर्ववत् सब सूत्र लगकर **चेता, जेता, नेता, कर्त्ता** बन जाते हैं। ऐसे ही अन्य धातुओं से भी।

(७) **क्त—निष्ठा** (३।२।१०२) यहां **धातोः, प्रत्ययः, परश्च** का अधिकार तो पूर्ववत् आता ही है। इसमें ३।२।८४ से **भूते** का अधिकार भी है। अर्थ बना—**धातोः भूते निष्ठाप्रत्ययः परश्च भवति**=धातु से भूतकाल में निष्ठाप्रत्यय होता है, और वह परे रहता है। यहां **क्तक्तवतू निष्ठा** (१।१।२५) से क्त और क्तवतु दोनों की निष्ठा संज्ञा होती है। इससे क्त होकर पठ् क्त=पठ् त, पूर्ववत् इट् होकर पठ् इट् त=पठित। पूर्ववत् प्रातिपदिक सज्ञा होकर **पठितः** बना। पच् धातु के अनिट् होने से, तथा **पचो वः** (८।२।५२) से त के स्थान में व होकर '**पक्वः**' बनता है। चि क्त=चित, जित, नीत। त के आर्द्धधातुक होने से ७।३।८४से प्राप्त होनेवाला गुण **क्ङिति च** १।१।५ से नहीं होता। सु आदि आकर **चितः, जितः, नीतः, कृतः** बन गये।

(८) **क्तवतु**—इसमें क्त के समान सब सूत्र लगते हैं। चितवत्, जितवत्, नीतवत् बने। क्वतु कर्त्ता में होता है। आगे 'चितवत् सु' में **अत्वसन्तस्य चाधातोः** (६।४।१४) ऊपर से **अङ्गस्य** (६।४।१), **उपधायाः** (६।४।७), **दीर्घः** (६।३।११०), **असंबुद्धौ** (६।४।८) की अनुवृत्ति आती है। अर्थ हुआ—धातु भिन्न अतु और अस् जिसके अन्त में हो, उस अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो, सम्बुद्धि भिन्न सु परे रहने पर। इस से दीर्घ होकर, तथा **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (७।१।७०) से नुम् होता है। इसमें ७।१।५८ से **नुम्** की, तथा **अङ्गस्य** (६।४।१) की अनुवृत्ति और अधिकार आता है। सूत्र का अर्थ बना—धातुवर्जित उगित् अङ्ग तथा अञ्चति को नुम् का आगम हो, यदि सर्वनामस्थान परे हो तो। इस से चितवान्त् सु=चितवान्त् स्, ६।१।६६से स् का लोप होकर चितवान्त् रहा। **संयोगान्तस्य लोपः** (८।२।२३) यहां **पदस्य** (८।१।१६) का अधिकार है। अर्थ—संयोगान्त पद का लोप हो जाता है। इससे त् का लोप होकर **चितवान् बनता है। पठितवान्, जितवान्, नीतवान्, कृतवान्** और ८।२।५२ से पूर्ववत् **पक्ववान्** बनते हैं॥

उनतीसवां पाठ

कृत् प्रत्यय (४)

(९) घञ्—भावे (३।३।१८) यहां धातोः, प्रत्ययः, परश्च का अधिकार है। अर्थ बना—धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। पठ् घञ् में घ् ञ् की इत्संज्ञा तथा लोप होकर 'पठ् अ'। इसमें अत उपधायाः (७।२।११६) से उपधा को वृद्धि होकर—पाठ् अ=पाठ में पूर्ववत् सु होकर पाठः बना। पच्+घञ् में पूर्ववत् सब कार्य होकर पाच् अ में ७।३।५२ से कुत्व होकर पाक् अ=पाक सु=पाकः बना। घञन्त पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता हैं।

(१०) अच्—एरच् (३।३।५६) यहां भावे (३।३।१८), अकर्तरि च कारके (३।३।१९), धातोः, प्रत्ययः, परश्च की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—इकारान्त धातु से भाव, और कर्त्ता से भिन्न कारक में अच् प्रत्यय होता है। चि अच्=चि अ, ७।३।८४ से गुण होकर चे अ=चय् अ=चय सु=चयः। जि अच्=जयः। नी अच्=नयः बनता है। यह घञ् का अपवाद है, अर्थात् इकारान्त धातु से भाव में घञ् न होकर अच् ही होता है, ऐसा समझना चाहिये। अजन्त भी पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

(११) क्तिन्—स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४), यहां भी भावे, अकर्त्तरि च कारके, धातोः प्रत्ययः परश्च इन का अधिकार और अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना–धातु से स्त्रीलिङ्ग भाव, और कर्त्ता से भिन्न कारक में क्तिन् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। पठ् क्तिन्=पठ्ति में पूर्ववत् इट् होकर पठिति। चि से चिति, जि से जिति, नी से नीति, कृ से कृति। प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आकर पठितिः, चितिः, जितिः, नीतिः, कृतिः, पक्तिः रूप बनते हैं। यह क्तिन्नन्त स्त्रीलिङ्ग में ही होता है।

(१२) ल्युट्—ल्युट् च (३।३।११५), यहां ११४ सूत्र से नपुंसके भावे की अनुवृत्ति आती है, धातोः आदि की भी पूर्ववत्। अर्थ बना—धातु से नपुंसक लिङ्ग भाव में ल्युट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। पठ ल्युट्=पठ् यु, ७।१।१ से यु के स्थान में अन=पठ् अन=पठन सु=पठनम् (धन शब्द के समान पठनम् बनता है)। ल्युट्प्रत्ययान्त नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

(१३) **तुमुन्—समानकर्तृकेषु तुमुन्** (३।३।१५८), यहां **इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ** (३।३।१५७) से **इच्छार्थेषु** की, तथा **धातोः** आदि की पूर्ववत् अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ बना—समान कर्त्तावाले इच्छार्थक धातु उपपद होने पर धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। इच्छति पठितुम्—पठ् तुमुन्। तुमुन् ३।४।११४ से आर्द्धधातुकसंज्ञक है। अतः ७।२।३५ से पूर्ववत् इट् होकर—पठ् इट् तुमुन्=पठ् इ तुम्=**पठितुम्** बना। इसकी १।२।४६ से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आया, तो **कृन्मेजन्तः** (१।१।३८),यहां ३६ सूत्र से **अव्ययम्** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—मकारान्त और एजन्त कृत् की अव्यय संज्ञा होती है। सो मकारान्त कृदन्त होने से पठितुम् को इससे अव्यय संज्ञा हुई। सो यहां प्रातिपदिक संज्ञा होने परआये हुये सु का **अव्ययादाप्सुपः**(२।४।८२)अर्थ—अव्यय से परे आप् और सुप्कालुक् हो जाता है। सो पठितुम् रह गया। यहां इच्छति और पठितुम् का कर्त्ता एक ही है। इसी प्रकार चि से **चेतुम्**, जि से **जेतुम्**, पच् से **पक्तुम्**, कृ से **कर्तुम्** बनता है।

(१४) **क्त्वा—समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (३।४।२१) यहां ३।४।१८ से **क्त्वा** की अनुवृत्ति आती है, **धातोः** आदि की पूर्ववत्। सूत्र का अर्थ बना—समान कर्त्तावाले दो धातुओं में से पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा प्रत्यय हो जाता है। **पठित्वा गच्छति**—यहां पठ् और गम् दोनों धातुओं का कर्त्ता एक ही है। पढ़ कर जाता है, सो पढ़ना पूर्वकाल में है। अतः इस सूत्र से पठ् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर पठ् क्त्वा=पठ् त्वा,सेट् होने से पूर्ववत्७।२।३५ से इट् होकर—पठ् इट् त्वा=पठ् इ त्वा=**पठित्वा** बना। १।२।४६ से प्रातिपदिक संज्ञा होकर'पठित्वा सु'हुआ। **क्त्वातोसुन्कसुनः** (१।१।३९),यहां ३६ से **अव्ययम्** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—क्त्वा तोसुन् और कसुन जिनके अन्त में हों, उनकी भी अव्यय संज्ञा होती है। सो पठित्वा सु, २।४।८२ से सु का लुक् होकर—पठित्वा (=पढ़कर)बना। इसी प्रकार **चित्वा, जित्वा, नीत्वा, कृत्वा, पक्त्वा** जानने चाहियें।

(१५) **शतृ**—'पठत्' में पठ् धातु से शतृ प्रत्यय होता है। सूत्र है—**लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकणे** (३।२।१२४)। यहां **धातोः प्रत्ययः परश्च** का अधिकार है ही। ऊपर **वर्त्तमाने लट्** (३।२।१२३) से **वर्त्तमाने** की भी अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—**धातोः वर्त्तमाने लटः शतृशानचौ अप्रथमासमानाधिकरणे (भवतः)**—धातु से परे वर्त्तमान काल में लट् के स्थान में शतृ और शानच् प्रत्यय होते हैं, जहां प्रथमासमानाधिकरण न

हो। विदित रहे कि परस्मैपदी धातुओं से शतृ प्रत्यय होता है, और आत्मनेपदी धातुओं से शानच् प्रत्यय होता है। **तङानावात्मनेपदम्** (१।४।९९) से आन की आत्मनेपदसंज्ञा बता चुके हैं। पठ् शतृ में ऋ की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२) से, तथा श् की **लशक्वतद्धिते** (१।३।८) से इत्संज्ञा और लोप होकर—पठ्+अत्, इसमें शतृ के शित् होने से **तिङ्शित् सार्वधातुकम्** (३।४।११३) से सार्वधातुक संज्ञा होकर **कर्त्तरि शप्** (३।१।६८) से शप् आकर पठ्+शप्+अत्, इस अवस्था में इत्संज्ञा लोपादि होकर पठ्+अ+अत् में **अतो गुणे** (६।१।९४) से पररूप होकर—पठत् बना। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर पठत्+सु ऐसा बना। **सुडनपुंसकस्य** (१।१।४२) से 'सु' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। पठत् में जो अत् है, वह शतृ के ऋकार की इत्संज्ञा होने से उगित् है। अतः इसमें **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (७।१।७०) से नुम् होता है। पठत् के उगित् होने से नुम् हुआ, जो **मिदचोऽन्त्यात्परः** (१।१।४६) से मित् होने से अन्त्य अच् से परे हुआ। बना—पठ नुम्त् सु=पठन्त् स्। **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** (६।१।६६) से सु के स् का लोप होकर पठन्त् बना। **संयोगान्तस्य लोपः** (८।२।२३), यहां **पदस्य** (८।१।१६) का अधिकार है। अर्थ—पद के अन्त में जो संयोग हो, उसके अन्त का लोप हो जावे। इससे अन्त के तकार का लोप होकर **पठन्** बना। आगे **पठन्तौ, पठन्तः। पठन्तम्। पठन्तौ।** आगे नुम् नहीं होता, अतः **पठतः** बना। पच् धातु का **पचन्, पचन्तौ, पचन्तः।** यज् धातु का **यजन्, यजन्तौ, यजन्तः** बना।

(१६) **शानच्**—पच् धातु आत्मनेपदी भी है। अतः पच् से परे (३।२।१२४) से **शानच्** आकर—पच्+शप्+शानच्=पच्+अ+आन रहा। अब सूत्र लगा **आने मुक्** (७।२।८२)—इसमें ६।४।१ से **अङ्गस्य** की, तथा ७।२।८० से **अतः** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—'अतः'=अदन्त अङ्ग से 'आने'=आन परे हो, तो अङ्ग को 'मुक्'=मुक् का आगम हो। कित् होने से **आद्यन्तौ टकितौ** (१।१।४५) से अन्त में होकर पच्+अ+मुक्+आन=पच्+अ+म्+आन='पचमान' बना। इसी प्रकार 'यज्' के भी आत्मनेपदी होने से 'यजमान' हुआ। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आया। तथा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर **पचमानः यजमानः** बन गया।

अब लगभग सभी २००० धातुओं से आगे इन १५-१६ प्रत्ययों को लगाकर जिस धातु के भी रूप चाहो बना सकते हो। नियम ऊपर २५ वें

पाठ के आरम्भ में बता ही चुके हैं। इस प्रकार विना रटे २००० × १५ = ३०००० लगभग तीस हज़ार शब्द बन जायेंगे या नहीं ? जिस-जिस धातु में कुछ विशेष होगा, वह पुस्तक देखकर समझ लो। यह प्रताप है इस अष्टाध्यायी-पद्धति का। व्याकरण का मुख्य प्रयोजन यही है कि किस धातु से कौन प्रत्यय होकर कौन रूप बनता है। उधर किस प्रातिपदिक से कौन प्रत्यय होकर कौन रूप बनता है। इस प्रत्ययमाला (प्रत्ययसमूह) के सम्बन्ध में सारभूत यह है कि धातु सेट् है या अनिट्। यदि प्रत्यय वलादि आर्द्धधातुक है तो सेट् धातु से इट् होगा, नहीं तो नहीं होगा। यदि सार्वधातुक है तो शप् श्यन् आदि गण के अनुसार प्रत्यय आवेंगे। सार्वधातुक आर्द्धधातुक में गुण होगा, ञित् णित् होने पर वृद्धि। यदि प्रत्यय कित् या ङित् है, या कित्वत् ङित्वत् है, तो क्ङिति च (१।१।५) से गुण वा वृद्धि का निषेध हो जायेगा। कौन धातु आत्मनेपदी या परस्मैपदी है, तथा सेट् है या अनिट्, यह बात रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ तथा वैदिक यन्त्रालय अजमेर के छपे धातुपाठ की सूची में से देख सकते हैं। प्रौढ़ों को रटने का कोई काम नहीं।

हमारा निश्चित मत है कि इन १५, १६ प्रत्ययों को समझ लेने पर अष्टाध्यायी तृतीय अध्याय के सब कृत् प्रत्यय (तिङन्त को मिलाकर) १५-२० दिन में समझ कर पढ़े जा सकते हैं। व्याकरणशास्त्र का मुख्य प्रयोजन यही है। उधर प्रातिपदिकों से सुप्, स्त्री और आवश्यक तद्धित प्रत्यय १५-२० दिन में पढ़कर समझे जा सकते हैं। इतने में व्याकरण का मुख्य विषय लगभग समाप्त हो जाता है। यही सब से अधिक काम में आता है।

१५ से २६ पाठों का सिंहावलोकन

१५ वें पाठ में कारक और विभक्ति का प्रकरण है। जिसमें अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण तथा कर्म इन ५ कारकों और इनकी विभक्तियों को अच्छी तरह समझाया गया है।

१६ वें पाठ में शेष कारक कर्म-हेतु-कर्त्ता (तथा सम्बोधन और सम्बन्ध भी) पूर्ववत् दर्शाये गये हैं।

१७ वें पाठ में समास की व्याख्या संक्षेप से की गई है।

१८ वें पाठ में प्रथमाध्याय के तृतीय पाद तक आये ३० संज्ञा सूत्रों की व्याख्या दिखाई गई है।

१९ वें पाठ में आगे शेष ३५ संज्ञा सूत्रों की व्याख्या, तथा अन्त में

अन्य कुछ संज्ञाओं का भी परिचय दिया गया है ।

२० वें पाठ में १३ परिभाषा-सूत्रों की व्याख्या है ।

२१ वें पाठ में शेष ११ परिभाषा-सूत्रों की व्याख्या तथा विशेष वक्तव्य है ।

२२ वें पाठ में हमने अच्सन्धि के ५ सूत्रों के अर्थ-उदाहरण बताये, जिसमें सिद्धि का कुछ भी काम नहीं ।

२३ वें पाठ में अच्सन्धि के सब आवश्यक सूत्र बताये गये हैं ।

२४ वें पाठ में पूव २२ और २३ पाठ में पढ़े अच्सन्धि के सूत्र पुरुष शब्द के सब रूपों की सिद्धि द्वारा प्रत्यक्ष (स्पष्ट) समझ में आ जाते हैं । सो पुरुष शब्द के सब रूपों को सिद्धि २४ वें दिन के पाठ में दर्शाई गई है ।

२५ वें पाठ में हल्सन्धि के सूत्रों का अभ्यास, तथा विसर्गसन्धि के कुछ-एक आवश्यक सूत्र बताये गये हैं ।

२६ वें पाठ में कृत् प्रत्ययों के सामान्य नियम बताये गये ।

२७ वें पाठ में १६ कृत् प्रत्ययों का सामान्य रूप, तथा तव्यप्रत्ययान्त की सिद्धि ।

२८ वें पाठ में अनीयर्-यत्-ण्यत्-ण्वुल्-तृच्-क्त-क्तवतु इन सात प्रत्ययों के विधायक सूत्रों की व्याख्या, तथा इनके उदाहरणों की सिद्धि दर्शाई गई ।

२९ वें पाठ में घञ्-अच्-क्तिन्-ल्युट्-तुमुन् क्त्वा-शतृ शानच् इन आठ प्रत्ययों के सम्बन्ध में पूर्ववत् सूत्रों की व्याख्या तथा उदाहरणों की सिद्धि दर्शाई गई है ।

इनका ज्ञान हो जाने से लगभग २०००धातुओं के रूप इन १५ प्रत्ययों से छात्र बना सकता है । और शेष सब प्रत्ययों को स्वयं स्वाध्याय से जान सकता है ।

पठनार्थी को यहां पहुचकर व्याकरण के मुख्य प्रयोजन का ज्ञान होता है ॥

तीसवां पाठ

स्त्री-प्रत्यय

आज हम स्त्री-प्रत्यय बताते हैं। लिङ्ग लोक-व्यवहार के आश्रित हैं, अर्थात् किस शब्द का कौनसा लिङ्ग है, यह लौकिक व्यवहार से ही जाना जाता है। यही पाणिनि पतञ्जलि आदि ऋषियों का सिद्धान्त है। **लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रत्वाल्लिङ्गस्य (महाभाष्य)**—अर्थात् लिङ्ग का शासन=शिक्षा पूर्णतया नहीं की जा सकती, क्योंकि लिङ्ग लोक के आश्रित है। जैसे हिन्दी में 'मेरा पुस्तक' या 'मेरी पुस्तक' दोनों प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। संस्कृत में 'पुस्तक' शब्द नपुंसकलिङ्ग है, ग्रन्थ पुल्लिङ्ग है। पुस्तिका स्त्रीलिङ्ग में होता है। यद्यपि शास्त्रकारों ने लक्षण बनाने का यत्न किया है, तथापि लिङ्गबोधक लक्षण पूर्णतया नहीं बनाये जा सकते हैं। जाया=पत्नी, दारा=पत्नी, इनमें जाया स्त्रीलिङ्ग है, और दारा पुल्लिङ्ग है। आदि काल से जैसा व्यवहार चला आता है, उसी के आधार पर लिङ्ग जाना जाता है। वैसे लिङ्ग-ज्ञान के लिए पाणिनि मुनि ने लिङ्गानुशासन ग्रन्थ बनाया भी है। अष्टाध्यायी में स्त्रीप्रत्यय **स्त्रियाम्**(४।१।३)से **देवयज्ञि** (४।१।८२) तक हैं।

अजाद्यतष्टाप् (४।१।४)—**अजादि-अतः टाप् प्रातिपदिकात्** (**प्रत्ययः परश्च स्त्रियाम्**)—अज आदि शब्दों,तथा अतः=अदन्त(=ह्रस्व अकारान्त) शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय हो जाता है। इससे अजा=बकरी, अश्वा =घोड़ी, कोकिला=कोयल, देवदत्ता, दक्षा, संस्कृता, सत्या, श्रेष्ठा आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में बनेंगे।

'अज' प्रातिपदिक से **अजाद्यतष्टाप्** (४।१।४) से टाप् होकर अज+टाप् में **चुटू** (१।३।७)से ट् की, तथा **हलन्त्यम्** (१।३।३) से प् की इत्संज्ञा, और (१।३।९ तथा १।१।५९) से लोप होकर अज+आ बना। अब **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।९७)—अक् से उत्तर सवर्ण अच् परे हो, तो पूर्व पर के स्थान में दीर्घ एकादेश होता है। इस से सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर—'**अजा**' शब्द बना। इसी प्रकार लता विद्या आदि शब्दों में भी समझना चाहिए।

कुमार=कुमारी, ब्राह्मण=ब्राह्मणी, नर्त्तकी, रजकी, खनकी, सुन्दरी, गौरी आदि शब्द बनते हैं। इनकी सिद्धि इस प्रकार है—

कुमार से स्त्रीलिङ्ग में **वयसि प्रथमे** (४।१।२०) से ङीप् होता है। कुमार+ङीप्।

ब्राह्मण से यहां **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (४।१।६३)—जातिवाची प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय हो, यदि वह शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही नियत न हो, और यकार जिसकी उपधा में न हो। इससे यहां ङीष् होता है। ब्राह्मण+ङीप्।

गौर से **षिद्गौरादिभ्यश्च**(४।१।४१)—से ङीष् होकर—गौर+ङीष्; नर्तक+ङीप् बना।

इन सब में इत् संज्ञा और लोप होकर कुमार+ई, ब्राह्मण+ई, गौर +ई, नर्तक+ई रहा। अब **यस्येति च** (६।४।१४८), यहां ६।४।१४७ से लोपः की, **नस्तद्धिते** (६।४।१४४) से तद्धिते की, तथा **भस्य**(६।४।१२९)से भस्य की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—(इ+अ=य) भसंज्ञक इवर्ण तथा अवर्ण का लोप हो जाता है, ईत्=दीर्घ ईकार तथा तद्धित परे रहने पर। इससे इन शब्दों के अन्तिम अ का लोप होकर=कुमारी, ब्राह्मणी, गौरी, नर्तकी ऐसे प्रयोग बन गये। अभी स्त्री-प्रत्यय का इतना ज्ञान ही पर्याप्त है॥

इकत्तीसवां पाठ

तद्धित-प्रकरण

तद्धित-प्रकरण का भी सामान्य ज्ञान कराये देते हैं। तद्धित का अधिकार **तद्धिताः** (४।१।७६) से **निष्प्रवाणिश्च** (५।४।१६०) तक जाता है। साथ ही **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (४।१।१) का अधिकार भी ५।४।१६० तक जाता है। **प्रत्ययः, परश्च** (३।१।१,२) का अधिकार भी आ रहा है।

तद्धित-प्रकरण में **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४।१।८३) सूत्र से अण् की अनुवृत्ति (४।४।२) तक जाती है। **तस्यापत्यम्** (४।१।९२) का अधिकार ४।१।१७६ तक जाता है। **शेषे** (४।२।९१) से शेषे का अधिकार ४।३।१३४ तक जाता है। **प्राग्वहतेष्ठक्** (४।४।१) से ठक् प्रत्यय की अनुवृत्ति ४।४।७४ तक जाती है।

'भरत' की प्रातिपदिक संज्ञा होकर, **तस्यापत्यम्** (४।१।९२) इस अर्थ में—**उत्सादिभ्योऽञ्** (४।१।८६)—उत्सादि षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है। इससे अञ् होकर भरत+अ, **तद्धितेष्वचामादेः** (७।२।११७)—यहां पर **अङ्गस्य** की ६।४।१ से, **ञ्णिति** की ७।२।११५ से, **वृद्धिः** की ७।२।११४ से अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ हुआ—**ञ्णिति तद्धितेषु अङ्गस्य अचाम् आदेः वृद्धिः** (भवति)—ञित् णित् तद्धित प्रत्यय परे हों, तो अङ्ग के अचों में से आदि (पहिले) अच् को वृद्धि हो। **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) से आ, ऐ, औ तीनों प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) से अ के स्थान में आ वृद्धि होकर भारत+अ बना। **यस्येति च** (६।४।१४८) से अ का लोप होकर—'भारत' बना। इसी प्रकार 'कुत्स' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में **ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** (४।१।११४)—ऋषिवाचक, अन्धक, वृष्णि और कुरु-कुलवाची शब्दों से अण् प्रत्यय होता है। (७।२।११७) से अण् परे औ वृद्धि होकर—कौत्स बना। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आया= **भारतः, कौत्सः** बन गया।

एक और उदाहरण लें—दधि (दही) शब्द से 'दही में संस्कृत किया हुआ (शाक आदि)' इस अर्थ में—दाधिकम् शब्द बनता है। **दध्नि संस्कृतम्**

=दाधिकम् । दधि की प्रातिपदिक संज्ञा होकर **दध्नष्ठक्**(४।२।१७)—यहां **संस्कृतं भक्षाः** (४।२।१५) की, तथा ४।२।१३ से तत्र की अनुवृत्ति आकर अर्थ बना –सप्तमी समर्थ दधि प्रातिपदिक से **'संस्कृतं भक्षाः'** (=तैयार किया खाने योग्य पदार्थ) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। इससे ठक् होकर दधि+ठक्। **यस्मात् प्रत्ययविधि०** (१।४।१३) से अङ्ग संज्ञा होकर **ठस्येकः** (७।३।५०) से ठ के स्थान में इक हो जाता है— दधि+इक। **किति च** (७।२।११८) यहां **तद्धितेष्वचामादेः** और वृद्धि की अनुवृत्ति आकर अर्थ हुआ –तद्धित कित् परे हो, तो भी अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जावे। इससे वृद्धि होकर दाधि+इक, यहां पुनः **यस्येति च** (६।४।१४८) से इ का लोप होकर—दाधिक बना। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर—दाधिक+सु=**दाधिकम्** बना।

मथुराया अयम्=**माथुरः**, इसमें 'मथुरा' प्रातिपदिक से **तस्येदम्** (४।३।१२०)—षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से 'इदम्' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। इससे अण् होकर मथुरा+अण्=मथुरा+अ, पूर्ववत् आदि वृद्धि (७।२।११७) से होकर माथुर+अ, **यस्येति च** (६।४।१४८) से पूर्ववत् लोप होकर माथुर्+अ=माथुर। पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा होकर माथुर+सु =**माथुरः** (मथुरा का) बना। **'शालीयः'**—शालायां भवः, यहां पहिले शाला के आदि अच् 'आ' की **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) से वृद्धि संज्ञा होकर **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१।१।७२) से शाला की वृद्ध संज्ञा होकर, **वृद्धाच्छः** (४।२।११३) से भवः (=होनेवाला) अर्थ में छः प्रत्यय होता है। शाला+छ =**आयनेयीनीयियः०** (७।१।२) से छ को ईय=शाला+ईय। पूर्ववत् **यस्येति च** (६।४।१४८) से अ का लोप होकर शालीय+सु=**शालीयः** बनता है। इस समय इतना ही तद्धित-ज्ञान पर्याप्त है॥

बत्तीसवां पाठ

(१) सुबन्त-प्रकरण (७।३।१०१ से)

अब हमें कुछ प्रकरण ऐसे जान लेने चाहियें, जिनका सुबन्त तथा तिङन्त की सिद्धियों में अत्यधिक उपयोग होता है। इसमें हम पहिले सुबन्त विषय को लेते हैं।

प्रथम प्रकरण ७।३।१०१ से ११६ तक १६ सूत्रों का एक बहुत सुसम्बद्ध सुबन्त प्रकरण है, सो समझ लेना है। यह बड़े ही काम का है।

(१) अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) इस प्रकरण में तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके (७।३।९५) से सार्वधातुके की अनुवृत्ति आती है। **अङ्गस्य** (६।४।१,का अधिकार बराबर आ रहा है।'अत'की अनुवृत्ति १०४ तक जाती है। अर्थ—**अतः अङ्गस्य**=अदन्त अङ्ग को, **दीर्घः**(भवति)=दीर्घ हो जाता है,**यञि सार्वधातुके**=यञादि सार्वधातुके परे हो तो। उदाहरण—**पठामि, पठावः, पठामः**। इसकी पूरी सिद्धि १०-११ वें पाठ में बता चुके हैं।

(२) सुपि च(७।३।१०२)इसमें अतो दीर्घो यञि की अनुवृत्ति पूरी आती है। अर्थ बना—**अतः अङ्गस्य यञि सुपि च दीर्घः** (भवति)=अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है, यञादि सुप् परे हो तो। जैसे—**पुरुषाभ्याम्, रामाभ्याम्**। इसकी सिद्धि भी २४ वें पाठ में बता चुके हैं।

(३) बहुवचने झल्येत्(७।३।१०३)यहां १०२ सूत्र से दीर्घ प्राप्त था, इससे एत्=एकार हो जाता है। इस सूत्र में 'अतः' और 'सुपि' को, तथा **अङ्गस्य** (६।४।१) की अनुवृत्ति आती है। 'एत्' की अनुवृत्ति १०६ तक है। सूत्र का अर्थ बना—**अतः अङ्गस्य एत् भवति बहुवचने झलि सुपि**=अत्=अदन्त अङ्ग के अकार के स्थान में एत् (ए) हो जाता है, यदि बहुवचन में झलादि सुप् परे हो तो। जैसे—**पुरुषेभ्यः, रामेभ्यः**। यहां भ्यस् के यञादि होने से १०२से दीर्घ प्राप्त था, और झलादि बहुवचन होने से १०३ से एत्। दोनों प्राप्त हुए। दोनों दीर्घत्व और एत् एक अकार के स्थान में नहीं हो सकते। सो यहां विप्रतिषेधे परं कार्यं (१।४।२) से जहां विप्रतिषेध (दो विरोधी कार्य एक समान प्राप्त होते) हों, वहां पर (=पीछे वाले) का कार्य हो जाता है (पहिले वाले का नहीं होता) । इस नियम में पर होने

से एत् होता है। जैसे—पुरुषेभ्यः। इसकी सिद्धि भी २४वें पाठ में बता चुके हैं।

(४) ओसि च (७।३।१०४) इसमें 'अतः' 'सुपि' और 'एत्' की अनुवृत्ति, और अङ्गस्य' का अधिकार है। अर्थ बना—अतः अङ्गस्य ओसि सुपि च एत् (भवति) = अदन्त अङ्ग के अ को ए हो जावे, यदि ओस् सुप् परे हो तो। जैसे—पुरुष+ओस्=पुरुषे ओस्। एचोऽयवायावः (६।१।७५) से 'ए' के स्थान में 'अय्' होकर पुरुषय्+ओस्=पुरुषयोस्=पुरुषयोः। इसकी सिद्धि भी पूर्व २४ वें पाठ में दर्शा चुके हैं।

(५) आङि चापः (७।३।१०५) यहां 'एत्' 'ओसि च' और 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—आबन्तस्य अङ्गस्य च एत् (भवति) आङि ओसि च (परतः) = आबन्त अङ्ग को एकार हो जाता है, यदि आङ् तथा ओस् परे हो तो। आङ्=टा तृतीया एकवचन का नाम पुराने आचार्यों का है। आप् अकारान्त स्त्रीलिङ्गवाची प्रत्यय है। सो विद्या+टा=विद्या+आ, इस सूत्र से विद्ये+आ, यहां एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अय् होकर—विद्यय्+आ=विद्यया, विद्या+ओस्=विद्ययोः। इसी प्रकार लतया, मालया; लतयोः मालयोः आदि बनते हैं।

(६) संबुद्धौ च (७।३।१०६) यहां 'आपः, एत, अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—आपः अङ्गस्य सम्बुद्धौ च एत् (भवति) = आप् अन्तवाले अङ्ग को एकार हो, सम्बुद्धि परे होने पर भी। जैसे—विद्या+सु= हे विद्ये। एङ्ह्रस्वात्० (६।१।६७) से सम्बुद्धि के स् का लोप हो जाता है।

(७) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७।३।१०७) यहां 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति है, जो १०८ तक है। अर्थ बना—सम्बुद्धौ=सम्बुद्धि परे हो, तो अम्बार्थनद्योः =अम्बा के अर्थवाले और नदीसंज्ञकों (१।४।३-६) को ह्रस्वः (भवति)= ह्रस्व हो जाता है। जैसे—हे अम्ब, हे कुमारि। यहां कुमारी की यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३) से नदी संज्ञा होती है। सूत्र का अर्थ हुआ—यू=ईकारान्त तथा ऊकारान्त स्त्रीलिङ्गवाची शब्दों की नदी संज्ञा होती है। अतः यहां सम्बुद्धि में ह्रस्व हो गया।

(८) ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८) 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—सम्बुद्धौ ह्रस्वस्य अङ्गस्य गुणः (भवति) = सम्बुद्धि परे हो, तो ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है। जैसे—अग्नि+सु, मति+सु, वायु+सु, धनु+सु यहां स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से ए ओ गुण होकर अग्ने+स्, मते+स्, वायो+स्, धनो+स्। एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) यहां ६४

से ६८ तक **लोप** की अनुवृत्ति है, ६६ से हल् की अनुवृत्ति भी है । अर्थ बना—**एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः अपृक्तं हल् लोपः (भवति)**=एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के अपृक्त हल् का लोप हो जाता है । इससे हे **अग्ने**, हे **मते**, हे **वायो**, हे **धेनो** रूप बने ।

(९) **जसि च** (७।३।१०९) इसमें '**ह्रस्वस्य**' और '**गुणः**' की अनुवृत्ति है । अर्थ बना—**ह्रस्वस्य जसि च गुणः** (भवति)=ह्रस्वान्त अङ्ग को जस् परे रहने पर भी गुण हो जाता है । जैसे—अग्नि+जस्, मति+जस्= अग्नि+अस्, मति+अस्= अग्ने+अस्, मते+अस् । **एचोऽयवायावः** (६।१। ७५) से 'ए' के स्थान में 'अय्' होकर—अग्नय्+अस्, मतय्+अस्= **अग्नयः मतयः** हो गया ।

(१०) **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** (७।३।११०) इसमें '**गुणः**' की अनुवृत्ति है । अर्थ बना—**ऋतः (अङ्गस्य) गुणः भवति ङिसर्वनामस्थानयोः** (परतः)=ऋकारान्त अङ्ग को गुण होता है, यदि ङि और सर्वनामस्थान परे हो तो । जैसे कर्त्तृ+ङि (**उरण्रपरः, स्थानेऽन्तरतमः**) से अर् गुण होकर =कर्त्तर्+इ=**कर्त्तरि** । सर्वनामस्थान में—कर्त्तर्+औ, कर्त्तर्+अस्, (यहां ६।४।११ से उपधा को दीर्घ होकर—**कर्त्तारौ**, **कर्त्तारः** आदि रूप बनते हैं ।

(११) **घेर्ङिति** (७।३।१११)—**घेः अङ्गस्य गुणः** (**भवति**) **ङिति सुपि** (**परतः**)=घि संज्ञावाले अङ्ग को गुण हो जाता है, ङित् सुप् परे हो तो । **शेषो घ्यसखि** (१।४।७)—शेष (ह्रस्व इवर्णान्त उवर्णान्त जो स्त्र्याख्य =स्त्री को कहनेवाले नहीं, और जो स्त्र्याख्य नदीसंज्ञक नहीं) की घि संज्ञा होती है, सखि शब्द को छोड़कर । इससे 'अग्नि', 'वायु' की 'घि' संज्ञा होती है । अग्नि+ङे, वायु+ङे, इस अवस्था में ७।३।१११ से गुण होकर— अग्ने+ङे=अग्ने+ए, ६।१।७५ से अय् होकर=**अग्नये** । वायो+ए= **वायवे** बना । 'ङिति की अनुवृत्ति ११५ तक जाती है ।

(१२) **आण् नद्याः** (७।३।११२) यहां 'ङिति' की अनुवृत्ति है । अर्थ बना—**नदीसंज्ञकात् अङ्गात् ङित आट्** (**आगमः भवति**)=नद्यन्त अङ्ग से (यहां अङ्गस्य=अङ्गात् विभक्तिविपरिणाम से समझना चाहिये) परे ङित् प्रत्यय को आट् का आगम होता है । टित् होने से (१।१।४५) से आदि में होता है । जैसे—कुमारी+ङे (१।४।३ से नदी संज्ञा होकर)= कुमारी+ए=इससे आट् होकर कुमारी+आट+ए, कुमारी+आ+ए= कुमार्या+ए । यहां **आटश्च** (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर—**कुमार्य्यै**, **कुमार्य्याः** बना । इनकी पूरी सिद्धि आगे आवेगी । यहां सूत्रों का अर्थ उदाहरण ही समझ लेना है ॥

तेतोसवां पाठ

सुबन्त–प्रकरण(२)

पूर्व व्याख्यात सुबन्त-प्रकरण से आगे

(१३) **याडापः** (७।३।११३) यहां **घेर्ङिति** (७।३।१११) से ङिति की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—**आपः अङ्गस्य ङिति याट् (आगमः भवति)**=आबन्त अङ्ग से ङित् परे होने पर उसको 'याट्' का आगम होता है। यह टित् होने से आदि में होता है। जैसे—विद्या ङे=विद्या याट् ङे=विद्या या ए=**वृद्धिरेचि**(६।१।८५) से या ए=यै वृद्धि होकर=**विद्यायै**। पूर्ववत् ङसि ङस् में याट् होकर **विद्यायाः**, **विद्यायाः** बना।

(१४) **सर्वनाम्नः स्याड् ढ्रस्वश्च** (७।३।११४) इस में ङिति, आपः की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—**आपः सर्वनाम्नः अङ्गात् ङिति स्याट् ह्रस्वश्च (भवति)**=आबन्त सर्वनाम अङ्ग से परे (यहां भी अङ्गस्य का विभक्ति विपरिणाम होकर अङ्गात् अर्थ हो जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिये) ङिति=ङित् को (यहां भी **तस्मादित्युत्तरस्य** (१।१।६६) सूत्र से ङिति सप्तमी को षष्ठी मान लिया जाता है, यह बात यहां इस प्रकरण में समझ लेने की है) स्याट का आगम और ह्रस्व भी होता है।

यहां **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१।१।२६)—सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है। इस सूत्र से सर्व की सर्वनाम संज्ञा और स्त्रीलिङ्ग में टाप् (सर्वा) होकर 'स्याट्' स्त्रीलिङ्ग में हो जाता है। जैसे—सर्वा ङे=सर्वा स्याट् ङे=सर्व स्या ए=सर्वस्या ए=**सर्वस्यै** बना।

(१५) **विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्** (७।३।११५) इस में **स्याट् ह्रस्वश्च**,ङिति की अनुवृत्ति है। अर्थ—**द्वितीयातृतीयाभ्याम् अङ्गाभ्यां ङिति विभाषा स्याट् ह्रस्वश्च (भवति)**=द्वितीया और तृतीया शब्दों से परे ङित् हो, तो स्याट् और ह्रस्व विकल्प करके होते हैं। जैसे—द्वितीया ङे= द्वितीया स्याट् ङे=द्वितीया स्या ए=द्वितीयस्या ए=पूर्ववत् वृद्धि होकर **द्वितीयस्यै, तृतीयस्यै**। दूसरे पक्ष में **याडापः** (७।३।११३) से याट् होकर **द्वितीयायै, तृतीयायै** रूप बनता है।

(१६) **ङेराम् नद्याम्नीभ्यः** (७।३।११६)—**नदी-आप्-नीभ्यः अङ्गेभ्यः ङेः (स्थाने) आम् (भवति)**=नद्यन्त आबन्त और नी से परे ङि के स्थान में 'आम्' होता है। जैसे—कुमारी ङि,विद्या ङि, सेनानी ङि—कुमारी आम्,

विद्या आम्=(याट् ७।३।११३ से) विद्या याट् आम्=विद्या या आम्=विद्यायाम्। कुमारी+आम् इसमें आण्नद्याः(७।३।११२)से आट् होता है—कुमारी आ आम्=कुमार्याम्, सेनान्याम्। इसमें एरनेकाचो० (६।४।८२) से यण् होता है।

(१७) इदुद्भ्याम् (७।३।११७) ङेराम् अङ्गस्य की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—अङ्गसंज्ञक ह्रस्व इकारान्त उकारान्त नदीभ्यः=नदीसंज्ञकों से परे ङि को आम् हो जाता है। जैसे—मत्याम्, धेन्वाम्। यहां भी ७।३।११२ से आट् होता है।

(१८) औदच्च घेः (७।३।११८ (औत् १।१॥ अत् १।१॥ च अ०। घेः ६।१॥) इसमें 'इदुद्भ्याम्' की अनुवृत्ति है। अर्थ—इदुद्भ्याम् ङेः औत् भवति घेः अत् च (अन्तादेशः भवति)=ह्रस्व इकारान्त उकारान्त से परे 'ङि' के स्थान में 'औत्' होता है, और घिसंज्ञक को अत् अन्तादेश हो जाता है। जैसे—अग्नि ङि, वायु ङि=अग्नि औ, वायु औ, अग्न् अ औ=वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि होकर अग्नौ, वाय् अ औ=वायौ बना।

(१९)आङो नाऽस्त्रियाम्(७।३।११९)यहां घेः की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—इदुद्भ्याम् घेः आङः ना (भवति) अस्त्रियाम्=।घसंज्ञक ह्रस्व इकारान्त उकारान्त अङ्ग से परे आङ् (टा) के स्थान में 'ना' आदेश होता है, स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता। जैसे—अग्नि टा, वायु टा=अग्नि ना, वायु ना=अग्निना, वायुना।

पाठक देखें कि सुबन्त की सिद्धि के ये सूत्र एक ही स्थान पर परस्पर सम्बद्ध होने से अल्प परिश्रम से समझ में आ रहे हैं। इनका उपयोग आगे सुबन्त विषय पढ़ने में अत्यन्त सहायक है। इसी प्रकार अगला प्रकरण भी समझ लें।

दूसरा सुबन्त प्रकरण

अब सुबन्त विषय का दूसरा प्रकरण भी, जो एक ही स्थान पर परस्पर सम्बद्ध और बहुत उपयोगी है, सहजता से समझने योग्य है—

(१) अतो भिस ऐस् (७।१।९) इसमें अङ्गस्य का अधिकार है। इसी प्रकार आगे के सब सूत्रों में समझना। अर्थ बना—अतः अङ्गस्य भिस ऐस् भवति=(यहां इस प्रकरण में 'अतः' विशेषण में पञ्चमी होने से 'अङ्गस्य' विशेष्य की भी पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। और 'अतः' पद १।१।७१ से पदन्तात् हो जाता है।) अर्थ हुआ—अदन्त अङ्ग से परे भिस् के स्थान में ऐस् हो जावे। यहां से अत की अनुवृत्ति ७।१।१८ तक जाती है। जैसे—

पुरुष भिस्, राम भिस्=पुरुष ऐस्, राम ऐस् । फिर ६।१।८५ से वृद्धि एकादेश होकर पुरुषैस्=रामैस्=पुरुषैः, रामैः बना । सिद्धि २४वें पाठ में है ।

(२) **टाङसिङसामिनात्स्याः** (७।१।१२)—**अतः अङ्गात् टा-ङसि-ङसाम् इन-आत्-स्याः (आदेशाः भवन्ति)**—अदन्त अङ्ग से परे टा ङसि ङस् इनके स्थान में क्रम से इन, आत्, स्य आदेश होते हैं । जैसे—पुरुष टा=पुरुष इन (६।१।८४ से) गुण होकर पुरुषेन, (८।४।१,२ से) णत्व होकर **पुरुषेण** पुरुष ङसि=पुरुष आत्=**पुरुषात्** । पुरुष ङस्=पुरुष स्य=**पुरुषस्य**, ऐसे रूप बन जाते हैं ।

(३) **ङेर्यः** (७।१।१३) 'अतः' 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति है ही । अर्थ बना—**अतः अङ्गात् ङेः यः (भवति)**=अदन्त अङ्ग से परे ङे के स्थान में य होता है । पुरुष ङे=पुरुष य (**सुपि च** ७।३।१०२ से) दीर्घ होकर **पुरुषाय** बना ।

(४) **सर्वनाम्नः स्मैः** (७।१।१४) इसमें 'अतः' और 'ङेः' की अनुवृत्ति आती है । अर्थ बना—**अतः सर्वनाम्नः अङ्गात् ङेः स्मै (भवति)**=अदन्त सर्वनाम अङ्ग से परे ङे के स्थान में स्मै होता है । यह १३ सूत्र से प्राप्त य का अपवाद है । जैसे सर्व ङे=सर्व स्मै=**सर्वस्मै, विश्वस्मै** । सर्वनाम्नः, की अनुवृत्ति १७ तक जाती है ।

(५) **ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ** (७।१।१५)—'अतः' 'सर्वनाम्नः,' 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति से अर्थ बना—**अतः सर्वनाम्नः अङ्गात् ङसिङ्योः स्मात् स्मिनौ (भवतः)**=अदन्त सर्वनाम अङ्ग से परे ङसि के स्थान में स्मात् और ङि के स्थान में स्मिन् क्रम से हो जाता है । जैसे—सर्व ङसि=सर्व स्मात्=**सर्वस्मात्** । सर्व ङि=सर्व स्मिन्=**सर्वस्मिन्** ।

(६) **जसः शी** (७।१।१७) 'अतः' 'सर्वनाम्नः', 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति है ही । अर्थ बना—अदन्त सर्वनाम से परे जस् को शी आदेश होता है । जैसे—सर्व जस्=सर्व शी=सर्व ई (६।१।८४ से) गुण होकर **सर्वे, विश्वे** बना । 'शी' की अनुवृत्ति १९ तक जाती है ।

(७) **औङ आपः** (७।१।१८)—**आपः अङ्गात् औङः शी भवति**=आवन्त अङ्ग से परे औङ् (औ तथा औट्) के स्थान में 'शी' हो जाता है । औङ् यह औ औट् की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है । जैसे—विद्या औ=विद्या शी=विद्या ई, (६।१।८ से) गुण होकर **विद्ये** बना ।

(८) **नपुंसकाच्च** (७।१।१९) 'औङः' और 'शी' की अनुवृत्ति है । अर्थ बना—नपुंसक अङ्ग से परे औङ् के स्थान में 'शी' हो जाता है । धन

औ=धन शी=धन ई, (६।१।८४ से) गुण होकर **धने** बना।

(९) **जश्शसोः शिः** (७।१।२०) **'नपुंसकात्'** की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—**नपुंसकात् जश्शसोः शिः (भवति)**—नपुंसक लिङ्ग से परे जस् और और शस् के स्थान में 'शि' आदेश हो जाता है। धन जस्, धन शस्—धन शि, यहां ७।१।२० से होनेवाले शि की **शि सर्वनामस्थानम्** (१।१।४१) से सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। इससे शि की सर्वनामस्थान संज्ञा होकर **नपुंसकस्य झलचः**(७।१।७२) यहां ७० से **सर्वनामस्थान** की, तथा **अङ्गस्य** (६।४।१) की, तथा ७।१।५८ से **नुम्** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—नपुंसकलिङ्ग झलन्त और अजन्त अङ्ग को नुम् का आगम होता है, सर्वनाम परे हो तो। इससे नुम् होकर धन शि—धन नुम् शि—धनन् इ ६।४।८ से दीर्घ होकर धनान् इ—**धनानि** बना।

(१०) **षड्भ्यो लुक्**(७।१।२२) २० सूत्र से जस् और शस् की अनुवृत्ति है। यहां **ष्णान्ता षट्** (१।१।२३)—षकरान्त और नकारान्त संख्यावाची शब्दों की षट् संज्ञा होती है। अर्थ बना—षट्संज्ञक से परे जस् और शस् का लुक् होता है। **षट्** सन्ति, **षट्** पश्य। **पञ्च** सन्ति, **पञ्च** पश्य। यहां **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (८।२।७)—प्रातिपदिक पद के अन्त के नकार का लोप हो जाता है।

(११) **स्वमोर्नपुंसकात्** (७।१।२३)—नपुंसक अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' का लुक् हो जाता है। मधु सु=**मधु** वर्तते। मधु अम्=**मधु** पश्य।

(१२) **अतोऽम्** (७।१।२४) **'नपुंसकात्' 'स्वमोः'** की अनुवृत्ति आने से अर्थ बना—**अतः नपुंसकात् स्वमोः अम् (भवति)**=अदन्त नपुंसक लिङ्ग अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' के स्थान में 'अम्' हो। जैसे धन सु=धनम्। धन अम्=**धनम्** बना। यहां **अमि पूर्वः** (६।१।१०३) से पूर्वरूप होता है॥

चौंतीसवां पाठ

सुबन्त (३)

धन-विद्या-अग्नि-वारि-मति-धेनु-कुमारी के रूपों की सिद्धि

धन अदन्त नपुंसक लिङ्ग शब्द है। विद्या आबन्त(=आप् अन्तवाला) स्त्री-लिङ्गवाची शब्द है। अग्नि ह्रस्व इकारान्त पुंलिलङ्ग, वारि ह्रस्व इकारान्त नपुंसकलिङ्ग, मति और धेनु ह्रस्व इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिङ्ग, कुमारी दीर्घ ईकारान्त ङीबन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द है।

धन (१)

इसके रूप प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में **धनं धने धनानि। धनं धने धनानि** बनते हैं,जो पूर्व ३३वें पाठ के ७।१।२४,१९, २०तीन सूत्रों के उदाहरणों में बता चुके हैं। शेष सब रूप पुरुष शब्द के समान चलते हैं—**धनेन धनाभ्याम् धनैः। धनाय धनाभ्याम् धनेभ्यः। धनात् धनाभ्याम् धनेभ्यः। धनस्य धनयोः धनानाम्। धने धनयोः धनेषु।**

(२) विद्या

विद्या की प्रातिपदिक संज्ञा (१।२।४६ से) होकर **अजाद्यतष्टाप्**[1] (४।१।४)से स्त्रीलिङ्ग में टाप्, विद्या टाप्,विद्या आ=विद्या। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्, स्वौजस्०** (४।१।१,२) सब सूत्र पूर्ववत् लगकर विद्या सु बना। 'उ' की (१।२।२,९) से इत्संज्ञा और लोप होकर विद्या स् हुआ। **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** (६।१।६६) से हल्, ङी और आप् से परे अपृक्त (१।२।४१ से अपृक्त संज्ञा) हल् का लोप होकर **विद्या** रह गया। विद्या औ में (७।१।१८) से औ के स्थान में शी होकर विद्या शी=विद्या ई। यहां **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।९८)से पहिले पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ, जिसको **नादिचि** (६।१।१००) ने बाध दिया। फिर (६।१।८४)से गुण होकर **विद्ये** बना। विद्या जस्=विद्या अस्=६।१।९८से विद्यास्=पूर्ववत् **विद्याः**। विद्या अम्=६।१।१०३ से **विद्याम्**। **विद्ये** पूर्ववत्। विद्या शस्=विद्या अस्=

---

१. देखो—पाठ ३०, पृष्ठ ३०, १२८।

विद्याः । विद्या टा में ७।३।१०५ से एत् होकर विद्ये आ=६।१।७५ से अय् होकर विद्यय् आ=**विद्यया**। विद्या भ्याम्=**विद्याभ्याम्**। विद्या भिस्=**विद्याभिः**। विद्या ङे=विद्या ए=७।३।११३ से याट्, टित् होने से (१।१।४५ से) आदि में होकर विद्या याट् ए=विद्या या ए=विद्याया ए (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश होकर **विद्यायै** । **विद्याभ्याम्** । **विद्याभ्यः** । विद्या ङसि, पूर्ववत् याट्=विद्या याट् अस्=विद्या या अस्=विद्यायास्=**विद्यायाः** । **विद्याभ्याम्** । **विद्याभ्यः** । विद्या याट् ङस्=**विद्यायाः** । विद्या ओस्=७।३।१०५ से एत् होकर विद्ये ओस्=६।१।७५ से अय होकर विद्यय् ओस्=**विद्ययोः** । विद्या आम् में **ह्रस्वनद्यापो नुट्** (७।१।५४) में ५२ से 'आमि' की अनुवृत्ति आती है । अर्थ बना—**ह्रस्व-नदी-आपः अङ्गस्य आमि नुट्** (भवति)=ह्रस्व, नदीसंज्ञक और आबन्त अङ्ग से परे (१।१।६७) आम् को (आम् शब्द को षष्ठी मानकर) नुट् का आगम होता है । टित् होने से आदि में होकर विद्या नुट् आम्=विद्या न् आम्=**विद्यानाम्** बना । विद्या ङि=७।३।११६ से ङि को आम्, विद्या आम्, ६।३।११३ से याट्=विद्या याट् आम्=विद्या या आम्=**विद्यायाम्** । विद्या ओस् पूर्ववत् **विद्ययोः**। विद्या सुप्=**विद्यासु** । सम्बोधन में एत् होकर विद्ये स्, यहां **एण्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (६।१।६७)—एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है । इससे स् का लोप होकर हे विद्ये। विद्या औ=हे विद्ये पूर्ववत्। विद्या जस्=हे **विद्याः** पूर्ववत् ।

पाठक देखें—यहां ३२, ३३ पाठ के ही सूत्र प्रायः लगे हैं । उन सूत्रों के अर्थ, उदाहरण और विद्या शब्द की सिद्धि कैसी सरलता से हृदय में बैठ जाती है ।

(३) अग्नि

इस पुंल्लिङ्ग 'अग्नि' शब्द से पूर्ववत् सब सूत्र लगकर सु आया । अग्नि स्=**अग्निः** । पुरुषः से एक भी सूत्र अधिक नहीं लगा (पाठ ९वां देखें) । अब अग्नि औ=६।१।९८ से पूर्वसवर्ण दीर्घ (देखें पाठ २३) होकर **अग्नी** । अग्नि जस्=यहां ७।३,१०९ से गुण होकर अग्ने अस्=६।१।७५ से **अग्नयः** बना (देखो पाठ ३२) । अग्नि अम्=६।१।१०३ से पूर्वरूप होकर **अग्निम्** (देखो पाठ २३) **अग्नी** । अग्नि शस्=यहां भी ६।१।९८ से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर अग्नीस्, ६।१।९९ से न् होकर **अग्नीन्** (देखो पाठ ९) । १।४।७ से घि संज्ञा होकर अग्नि टा=७।३।११९ से 'ना' होकर **अग्निना** (देखो पाठ ३३) । अग्नि भ्याम्=**अग्निभ्याम्**, **अग्निभिः** । अग्नि ङे=७।

३।१११ से गुण होकर अग्ने ए ६।१।७५ से अय् होकर **अग्नये अग्निभ्याम्**। **अग्निभ्यः**। अग्नि ङसि=पूर्ववत् ७।३।१११ से गुण होकर अग्ने अस्, **ङसिङसोश्च** (६।१।१०६) में १०५ से 'एङः' और 'अति' की, १०३ से 'पूर्वः' की अनुवृत्ति, तथा ८१ से **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार आता है। अर्थ बना —एङ् से ङसि और ङस् का अत (ह्रस्व अकार) परे हो, तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एका देश हो। इस से अग्मे अस्=अग्नेस् बना। पूर्व-वत् पद संज्ञा और विसर्जनीय होकर **अग्नेः**। **अग्निभ्याम्**। **अग्निभ्यः**। अग्नि ङस्=पूर्ववत् **अग्नेः**। अग्नि ओस्=६।१।७४ के यण् होकर अग्न्योस्= **अग्न्योः**। अग्नि आम्=७।१।५४ से नुट् होकर अग्नि नुट् आम्=अग्नि न् आम्=अग्नि नाम् (६।४।३) से दीर्घ होकर **अग्नीनाम्** बना (देखो पाठ २२)। अग्नि ङि=७।३।११८ से ङि को औ और इ को अकार होकर **अग्नौ** (देखो पाठ ३३)। **अग्न्योः**। अग्नि=सुप् अग्नि सु=८।३।५९ से मूर्धन्य आदेश होकर **अग्निषु**। सम्बोधन में—अग्नि सु—७।३।१०८ से गुण होकर अग्ने स्, ६।१।६७ से सम्बुद्धि के हल् स् का लोप होकर **हे अग्ने** (देखो पाठ ३३)। **हे अग्नी**। **हे अग्नयः** पूर्ववत्।

पुंलिङ्ग वायु शब्द के रूपों में भी सब सूत्र यही लगेंगे।

(४) वारि

इससे आगे ह्रस्व इकारान्त लिङ्ग 'वारि' शब्द के रूप भी प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति में—**वारि वारिणी वारीणि**। **वारि वारिणी वारीणी** बनते हैं। इनमें वारि सु, वारि अम् में **स्वमोर्नपुंसकात्** (७।१।२३) यहां ७।१।२२ से **लुक्** की, तथा **अङ्गस्य** (६।४।१) को अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे सु और अम् का लुक् हो जावे। लुक् होकर **वारि** बना। 'वारि औ' में **नपुंसकाच्च** (७।१।१९)—नपुंसक से परे ओङ् को शी हो जावे। इससे शी होकर वारि शी=वारि ई, **इकोऽचि विभक्तौ** ७।१।७३ से नुम् होकर वारि नुम् ई=वारि न् ई=वारिनी= **वारिणी** बना। जस्, वारि शस्=७।१।२० के शि और १।१।४१ से सर्व-नाम स्थान संज्ञा होकर **नपुंसकस्य झलचः** (७।१।७२) से नुम् होकर वारि नुम् शि=वारि न् इ=वारिन् इ, ६।४।४।८ से दीर्घ होकर वारीनि=णत्व होकर **वारीणि** बनता है।

वारि टा (७।३।११९) से ना होकर वारिना=**वारिणा**, **वारिभ्याम्** **वारिभिः**। वारि ङे=७।१।७३ से नुम् होकर वारिन ए=वारिने=**वारिणे**,

वारिभ्याम्, वारिभ्यः बना। वारि ङसि पूर्ववत् नुम् होकर वारिन् अस्= वारिणः, वारिभ्याम्, वारिभ्यः। वारि नुम् ङस्=वारिन् अस्=वारिणः, वारि ओस् में वारि नुम् ओ=वारिन् ओस्=वारिणोः। वारि आम् में ७।२।७३ से नुम् प्राप्त है, और **ह्रस्वनद्यापो नुट्** (७।१।५४) से नुट् प्राप्त है। **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (१।४।२) से पर कार्य नुम् ही पाया, पर **नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन** (७।१।८७ वा०) इस वार्तिक के बल से नुम् को बाधकर पूर्व कार्य नुट् हो जाता है। वारि नुट् आम्=वारिन् आम्=वारिनाम्=(६।४।३) से वारीनाम्=**वारीणाम्** बना। वारि ङि पूर्ववत् नुम् होकर वारि नुम ङि=वारिन् इ=वारिनि=**वारिणि**। वारिणोः। वारि सुप्=वारिसु (८।३।५९) से षत्व होकर **वारिषु**। जिनके मत में सम्बोधन होता है उनके मत में **हे वारे वारि, हे वारिणी, हे वारीणि** बनता है।

इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग उकारान्त 'मधु' शब्द के रूपों में भी ये ही सूत्र लगेंगे।

(५) मति

मति ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग है। अतः इसके रूप ङे, ङसि, ङस् और ङि इन चार ङित् प्रत्ययों में दो-दो बनेंगे। क्योंकि **ङिति ह्रस्वश्च** (१।४।६) से ङित् में विकल्प करके नदी संज्ञा होती है। ऊपर से **यू स्त्र्याख्यौ, इयङुवङ्स्थानौ अस्त्री वा** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—**ह्रस्वश्च यू स्त्र्याख्यौ इयङुवङ्स्थानौ अस्त्री ङिति वा नदीसंज्ञकौ (भवतः)**=ह्रस्व इकारान्त उकारान्त स्त्रीवाची, दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त इयङ् उवङ् स्थानी[1] (स्त्री को छोड़कर) ङित् परे रहने पर विकल्प से नदीसंज्ञक हों, पक्ष में घि संज्ञा होती है। सो पूर्वोक्त चार प्रत्ययों में इसके रूप नदी संज्ञा पक्ष में 'कुमारी' के समान बनेंगे, शेष घि संज्ञा में सब रूप 'अग्नि' शब्द के समान हो चलेंगे। रूप ये बनते हैं, सूत्र पूर्ववत् लगा लें—मति सु=**मतिः**, मति औ =**मती**। मति जस्=गुण (७।३।१०९ से) होकर **मतयः**। **मतिम्**। **मती**। **मतीः** यहां ६।१।९८ से पूर्वसवर्ण दीर्घ होता है। ६।१।९९ से न् नहीं होता, क्योंकि 'न्' पुंल्लिङ्ग में होता है, यह स्त्रीलिङ्ग है। मति टा=केवल ६।१। ७४ से यण् होकर=**मत्या**। **मतिभ्याम्**। **मतिभिः**। मति ङे (१।४।६ से

१. जिन में ईकार ऊकार के स्थान में अच् परे रहने पर (६।४।७७) से इयङ् उवङ् होते हैं, वे इयङ् उवङ् स्थानी कहाते हैं।

विकल्प करके नदी संज्ञा होती है)—(७।३।११२) से आट् आगम होकर मति आट् ङे=मति आ ए=मत्या ए (६।१।८७) से पूर्ववत् वृद्धि एकादेश होकर मत्यै बना। घि संज्ञा में अग्नि के समान (७।३।१११) से गुण होकर मतये। मति भ्याम्=मतिभ्याम्। मतिभ्यः। मति ङसि=पूर्ववत् आट् होकर =मति आट् ङसि=मति आ अस्=मत्याः पूर्ववत्। दूसरे पक्ष में अग्नि के समान ७।३।१११ से गुण होकर मते अस् (६।१।१०६) से पूर्वरूप होकर मतेस्=मतेः। मतिभ्याम्। मतिभ्यः। मति ङस् =पूर्ववत् मत्याः मतेः दो रूप बने। मति आस्=मत्योः। मति आम्=पूर्ववत् अग्नि की तरह मतीनाम्। मति ङि, नदी संज्ञा में मति आम्=मति आ आम्(७३११६ से)= मत्या आम्=मत्याम्। घि संज्ञा में ७।३।११८ से मतौ। मति ओस्= मत्योः। मति सुप्=मति सु, (८।३।५९ से) मूर्धन्य आदेश होकर= मतिषु। हे मते, हे मती, हे मतयः अग्नि के समान सब सूत्र लगे।

(६) धेनु

धेनु स्त्रीलिङ्ग के सब रूप भी मति के समान हैं। सूत्र सब वे ही लगते हैं जो मति में लगे हैं। रूप ये होंगे—धेनुः, धेनू, धेनवः। धेनुम्, धेनू, धेनूः। धेन्वा, धेनुभ्याम्, धेनुभिः। धेन्वै धेनवे, धेनुभ्याम्, धेनुभ्यः। धेन्वाः धेनोः, धेनुभ्याम्, धेनुभ्यः। धेन्वाः धेनोः, धेन्वोः, धेनूनाम्। धेन्वाम् धेनौ, धेन्वोः, धेनेषु। हे धेनो, हे धेनू, हे धेनवः।

(७) कुमारी

कुमार प्रातिपदिक से (४।१।२०) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर कुमार +ङीप्=कुमार+ई=कुमारी (देखो पृष्ठ १२९)

इसकी नदी संज्ञा १।४।३ से होती है। कुमारी+सु=कुमारी+स् (६।१।६६)से स् का लोप होकर कुमारी। कुमारी+औ प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (७।१।९८)से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है। पर दीर्घाज्जसि च(६।१।१०१) से निषेध हो जाता है। यहां न इचि पूर्वसवर्णः की अनुवृत्ति आकर अर्थ बना—दीर्घ से जस् और इच् परे रहने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता। ६।१।७४ से यण् होकर कुमार्यौ। कुमारी+जस्=कुमारी अस्= कुमार्यस्=कुमार्यः। कुमारी अम् (६।१।१०३ से) पूर्वरूप होकर कुमारीम्। कुमारी औ=कुमार्यौ। कुमारी शस्—(६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर कुमारीः। कुमारी टा=कुमारी आ=कुमार्या। कुमारीभ्याम। कुमारीभिः। कुमारी ङे=७।३।११२ से आट् होकर=कुमारी

आट्=ङे=कुमारी आ ए यण् होकर कुमार्या ए=(६।१।८७ से) वृद्धि होकर **कुमार्यै। कुमारीभ्याम्। कुमारीभ्यः।** कुमारी ङसि=कुमारी आ अस्=यण् (६।१।७४) होकर **कुमार्याः। कुमारीभ्याम्। कुमारीभ्यः।** कुमारी ङस्=पूर्ववत् कुमारी आट् ङस्=कुमारी आ अस्=**कुमार्याः।** कुमारी ओस्=यण् होकर **कुमार्योः।** कुमारी आम्=नदीसंज्ञक होने से (७।१।५४ से) नुट् होकर कुमारी नुट् आम्=कुमारी नाम्=कुमारीनाम्=(८।४।१,२) से णत्व होकर **कुमारीणाम्।** कुमारी ङि ७।१।११६ से आम्, ११२ से आट्=कुमारी आट् आम्=कुमारी आ आम=**कुमार्याम्। कुमार्योः।** कुमारी सुप्=८।३।५९ से मूर्द्धन्य होकर **कुमारीषु।** सम्बोधन से नदी संज्ञा होने से कुमारी सु=७।३।१०३ से ह्रस्व होकर तथा ६।१।६७ से स् का लोप होकर **हे कुमारि, हे कुमार्यौ, हे कुमार्यः** पूर्ववत्।

(८) सर्व

सर्वनाम (सब का नाम अर्थात् जो वह तू मैं सबके लिए व्यवहृत होते हैं) शब्दों के रूप अर्थ के अनुसार तीनों लिङ्गों में चलते हैं। सो हम यहां सर्वशब्द के रूप तीनों लिङ्गों में दिखाते हैं:—

(१) **सर्व पुंल्लिङ्ग**—सर्वः सु=**सर्वः।** सर्व औ=**सर्वौ।** सर्व जस्=**सर्वे।** यहां जसः शी (७।१।१७) तथा आद् गुणः (६ १।७४) से सर्वे बना। सर्व अम् **सर्वम्।** सर्व औट् **सर्वौ।** सर्व शस्=**सर्वान्।** सर्व टा=सर्व इन=सर्वेन=**सर्वेण। सर्वाभ्याम्। सर्वैः।** सर्व ङे यहां सर्वनाम्नः स्मै (७।१।१४) से ङे को स्मै आदेश होकर **सर्वस्मै। सर्वाभ्याम्। सर्वेभ्यः।** सर्व ङसि यहां ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७।१।१४) से स्मात् होकर **सर्वस्मात्। सर्वाभ्याम्। सर्वेभ्यः।** सर्व ङस्=**सर्वस्य।** सर्व ओस्=सर्वे ओस्=**सर्वयोः।** सर्व आम् यहां आमि सर्वनाम्नः सुट् (७।१।५२), सर्व साम् यहां (७।३।१०३) से ए होकर सर्वे साम्=(८।३।५९) से षत्व होकर **सर्वेषाम्।** सर्व ङि=सर्व स्मिन् **सर्वस्मिन्। सर्वयोः।** सर्व सु=**सर्वेषु।** सम्बोधन में **हे सर्व, हे सर्वौ, हे सर्वे** पूर्ववत्।

(२) **स्त्रीलिङ्ग** सर्वा के रूप विद्या की तरह चलकर **सर्वा, सर्वे, सर्वाः। सर्वाम्, सर्वे, सर्वाः। सर्वया, सर्वाभ्याम्, सर्वाभिः।** सर्वा ङे में सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (७।३।११४) से सर्व स्याट् ङे=सर्वस्याए (वृद्धिरेचि ६।१।८५) **सर्वस्यै, सर्वाभ्याम्, सर्वाभ्यः।** सर्वा ङसि=सर्व स्याट् अस=**सर्वस्याः, सर्वाभ्याम्, सर्वाभ्यः।** सर्वा ङस्=सर्व स्याट् अस्=**सर्वस्याः,**

सर्वयोः। सर्वा आम्=सर्वा सुट् आम्=सर्वा साम्=सर्वानाम्। सर्वा ङि=सर्व स्याट् ङि=सर्वस्या आम्=सर्वस्याम्, सर्वयोः, सर्वासु। सम्बोधन में—हे सर्वे, हे सर्वे, हे सर्वाः पूर्ववत् 'विद्या' के समान जानें।

(३) नपुंसक सर्व शब्द—सर्व सु, सर्व अम्=सर्वम्, सर्वे, सर्वाणि। सर्वम्, सर्वे, सर्वाणि। आगे पुंलिङ्ग सर्व की तरह सब रूप चलते हैं।

इस प्रकार ३२, ३३, ३४ पाठ परस्पर सम्बद्ध हैं। सूत्र समझ लेने से सिद्धि और सिद्धि समझ लेने से सूत्रार्थ पूरा-पूरा समझ में आ जाता है अजन्त शब्दों की सिद्धि का यह प्रकरण मुख्य समझना चाहिये। इसके समझ लेने से पाठकों का ज्ञान कहीं से कहीं पहुंचता है। इसी प्रकार अन्य 'कर्तृ' इत्यादि अजन्त शब्दों की सिद्धि 'नामिक' से समझ लेनी चाहिये।

पैंतीसवां पाठ

(१०) लकारों के सामान्य सूत्र

अब हम लट्-लिट्-लुट्-लृट् आदि दस लकारों के उन सामान्य सूत्रों का परिचय देंगे, जो प्रायः सब धातुओं से १० लकारों में एक जैसे बार-बार लगते हैं। इनके जान लेने से १० लकारों की सिद्धि बहुत ही सरल हो जावेगी।

यह प्रकरण लस्य[1] (३।४।७७) से ११७ अर्थात् पाद वा अध्याय के अन्त तक है।

(१) लस्य (३।४।७७) इसका अधिकार ३।४।११७ तक है। अर्थ—लस्य=ल सम्बन्धी अर्थात् लकार के स्थान में—

(२) तिप् तस् झि, सिप् थस् थ, मिप् वस् मस्, तातां झ, थासाथां ध्वम्, इड् वहि महिङ् (३।४।७८) यहां 'धातोः' 'परश्च' का अधिकार है ही, लस्य का भी है। अर्थ बना—धातोः(परस्य) लस्य (स्थाने) तिप् तस् झि सिप् थस् थ मिप् वस् मस् त आताम् झ थास् आथाम् ध्वम् इट् वहि महिङ् इत्येते आदेशाः (भवन्ति)—धातु से परे ल् के स्थान में तिप् तस् झि इत्यादि १८ आदेश होते हैं। जैसे—पठ् लट्= पठ् ल्=१८ तिबादि (आगे एकवचन में तिप् कैसे रह गया, यह पूर्व १० वें पाठ में पूरा लिख चुके हैं)=पठ् तिप्=पठ् शप् तिप्=**पठति**।

(३) टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) (टितः ६।१॥ आत्मनेपदानाम् ६।३॥ टेः ६।१॥ ए १।१॥)—टित् लकार (लट्-लिट्-लुट्-लृट्-लेट्-लोट्) सम्बन्धी आत्मनेपदसंज्ञक त आताम् आदि ९ आदेशों की 'टि' को 'ए' हो जाता है। जैसे—एध् लट्=एध् त=एध् शप् त=एध् अ त, इस सूत्र से त के 'अ' की अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) से 'टि' संज्ञा होकर अ को ए हुआ=एध् अ ते=**एधते**। एध् अ अन्ते में पूर्ववत् (अतो गुणे से) पूर्व रूप होकर **एधन्ते** बना।

---

१. लट् लिट् आदि सभी लकारों में अकारादि स्वर तथा ट् ङ् की इत्संज्ञा और लोप होने पर 'ल्' सामान्य रूप बचता है। उस में उच्चारणार्थ 'अ' जोड़ कर (ल बना कर) षष्ठी के एकवचन का यह रूप है।

(४) **थासः से** (३।४।८०) यहां ७९ से टितः की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—**टितः थासः से (भवति)**=टित् (लकारों) के थास् के स्थान में 'से' होता है। जैसे —एध् शप थास्=एध् अ से=**एधसे**।

(५) **लिटस्तझयोरेशिरेच्** (३।४।८१) (लिटः ६।१।। तझयोः ६।२।। एश् इरेच् १।१।।) —**लिटः तझयोः एशइरेचौ (भवतः)**=लिट् लकार) के त और झ के स्थान में क्रम से एश् और इरेच् हो जाते हैं। जैसे—पच् धातु उभयपदी है। इसके लिट् में पच् त=इस सूत्र से त के स्थान में 'एश्' शित् होने से **अनेकाल्शित् सर्वस्य** (१।१।५४) अनेकाल् और शित् सब के स्थान पर होता है। इससे सम्पूर्ण 'त' के स्थान में 'एश्' होकर लिट् में द्विर्वचन (अगले ३६ वें पाठ में देखें) पच् पच् एश् (६।४।१२०) से एत्व और अभ्यास लोप होकर=पेच् ए=**पेचे**। पेच् इरेच्=पेच् इरे=**पेचिरे**। 'लिटः' की अनुवृत्ति ८२ तक जाती है।

(६) **परस्मैपदानां णल्-अतुस्-उस्-थल्-अथुस्-अ-णल्-व-माः** (३।४। ८२) यहां '**लिटः**' की ८१ से अनुवृत्ति है। अर्थ बना **लिटः**=लिट् के **परस्मैपदानां**=परस्मैपदों (तिप् तस् झि, सिप् थस् थ, मिप् वस् मस्) ९ के स्थान में क्रम से णल् अतुस् उस्, थल् अथुस् अ, णल् व म ये ९ आदेश हो जाते हैं। यथाक्रम के लिए **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** (१।३।१०)— **समानाम्**=बराबर संख्यावालों में **अनुदेशः**=पीछे कहा जानेवाला (आदेश) **यथासंख्यम्**=नम्बरवार (यथाक्रम) **भवति**=होता है।

इस प्रकार तिप् आदि के स्थान में णल् आदि ९ क्रमवार होते हैं। जैसे— **पपाच** यहां तिप् के स्थान मे णल् हुआ। आगे **पेचतुः,पेचुः** इत्यादि।

(७) **लोटो लङ्वत्** (३।४।८५)—लोट् को लङ्वत् कार्य होता है, अर्थात् लङ् लकार को कहे हुए कार्य लोट् लकार को भी हो जाते हैं। इस लिए तस् आदि के स्थान में (३।४।१०१ सूत्र से) कहे गये ताम् तम् आदि आदेश लोट् में भी होते हैं। पठ् शप् तस्=पठ् अ ताम्=**पठताम्** बना।

(८) **एरुः** (३।४।८६) यहां '**लोटः**' की (३।४।८५) से अनुवृत्ति है। अर्थ बना—**लोटः एः उः (भवति)**=लोट् सम्बन्धी 'इ' के स्थान में 'उ' हो जाता है। पठ तिप्=ति को तु=**पठतु**। पठ अन्ति=**पठन्तु** बनें।

(९) **सेर्ह्यपिच्च**(३।४।८७)—**लोटः सेः हि अपित् च(भवति)**=लोट् के सि (सिप्) के स्थान में हि होता है, और वह अपित् भी हो जाता है। जैसे—**स्तुहि**। अपित् होनें से **सार्वधातुकमपित्** (१।२।४) से ङित्वत् होता

है, और क्ङिति च (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है।

(१०) **मेर्निः** (३।४।८९)—लोट् सम्बन्धी 'मि' (मिप्) के स्थान में 'नि' आदेश हो जाता है। जैसे पठ् शप् मिप्=पठ् अ मि=पठ् अ नि यहां **आडुत्तमस्य पिच्च** (३।४।९२) से आट् होकर—पठ् शप् आट् नि=पठ् अ आ नि=६।१।९७ से सवर्ण दीर्घ होकर **पठानि** ऐसा बना।

(११) **आमेतः** (३।४।९०) 'लोटः' की अनुवृत्ति ८५ से है। अर्थ बना—लोटः एतः आम् (भवति)=लोट् सम्बन्धी ए के स्थान में 'आम्' हो जाता है। जैसे—एध् शप् त=७९ से ए होकर एध् अ ते। पुनः इस सूत्र से ए के स्थान पर आम् कर देने से ते के स्थान में ताम् हो गया=**एधताम्**।

(१२) **सवाभ्यां वामौ** (३।४।९१) 'लोटः, एतः' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—लोटः सवाभ्यां एतः वामौ (भवतः)=लोट् के स् और व् से परे ए के स्थान में क्रम से व और अम् हो जाता है। जैसे—**एधस्व, एधध्वम्** यहां एध् शप् थास्=८० सूत्र से 'से' होकर=एध् अ से=इस सूत्र से 'ए' के स्थान में 'व' होकर **एधस्व**। एध् शप् ध्वम्=७९ से ए होकर एध् शप् ध्वे=इस सूत्र से ए के स्थान में 'अम्' होकर एध् अ ध्वम्=**एधध्वम्** बना।

(१३) **आडुत्तमस्य पिच्च** (३।४।९२) (आट् १।१।। उत्तमस्य ६।१।। पित् १।१।। च अ०)—लोटः उत्तमस्य आट् पित् च (भवति)=लोट् के उत्तम (पुरुष) को आट् (का आगम) होता है, और वह पित् भी हो जाता है। जैसे—**पठानि, पठाव, पठाम**। यहां पठ् शप् वस्=पठ् अ वस्, इस सुत्र से आट् टित् होने से (१।१।४५ से) आदि में होकर पठ अ आट् वस्=पठ् अ आ वस्। ८५ से लङ्वद्भाव से ङितलकार माना जाने से ९९ से वस् मस् के स् का लोप होकर=पठ् अ आ व=**पठाव, पठाम**। **करवाव, करवाम** में आट् के पित् होने से गुण हो जाता है।

(१४) **एत ऐ** (३।४।९३)—**लोटः उत्तमस्य**=लोट् के उत्तम पुरुष सम्बन्धी एतः=एत् के स्थान में 'ऐ' होता है। जैसे—**करवै** (पूरी सिद्धि यहां नहीं की)।

(१५) **नित्यं ङितः** (३।४।९९) यहां ९७ से लोपः की और ९८ से उत्तमस्य सः की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—ङितः उत्तमस्य सः नित्यं लोपः (भवति)=ङित् (लकारों) के उत्तम पुरुष के स् का लोप नित्य होता है। इससे वस् मस् का व म रहा। जैसे—लङ् में अट् पठ् शप् वस्=अ पठ् अ वस् (७।३।१०१ से) दीर्घ होकर—अ पठ आ वस्=इस

सूत्र से स् का लोप होकर अपठ्आव—अपठाव, अपठाम बना।

(१६) इतश्च (३।४।१००) इस में ऊपर से 'ङितः' 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—ङितः इतः लोपः (भवति)=ङित् (लङ् लिङ् आदि लकारों) के इत्=इ का लोप होता है। जैसे—लङ् में अट् पठ् शप् तिप्=अ पठ् अ ति=इस सूत्र से 'ति' के इकार का लोप होकर अपठ् अत् =अपठत् बना।

(१७) तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१)—इसमें 'ङित्' की अनुवृत्ति है। अर्थ—ङित् लकारों के तस् को ताम्, थस् को तम्, थ को त, मिप् को अम् ये आदेश यथासंख्य हो जाते हैं। लङ् में—अट् पठ् शप् तस्=अ पठ् अ ताम्=अपठताम्। अ पठ् अ थस्=अ पठ् अ तम्= अपठतम् बना। इसी प्रकार अपठत और अपठम् भी समझना चाहिये।

—

छत्तीसवां पाठ

लकार (२) तथा अभ्यास

(१८) **लिङः सीयुट्** (३।४।१०२)—लिङ् को सीयुट् का आगम हो। अगला सूत्र परस्मैपद को यासुट् का आगम करता है। अतः यह सूत्र शेष बचे आत्मनेपद में सीयुट् करता है। एध शप् त—सीयुट् टित् होने से आदि में आया—एध् शप् सीयुट् त। **सुट् तिथोः** (३।४।१०७)—लिङ् सम्बन्धी तकार थकार को सुट् का आगम होता है। इससे त को सुट् होकर—एध् शप् सीयुट् सुट् त होकर सीयुट् सुट् दोनों के स् का लोप **लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य** (७।२।७९) से होता है। यहां ७।२।७६ से **सार्वधातुके** की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ बना—सार्वधातुके परे हो, तो लिङ्सम्बन्धी अनन्त्य (जो अन्त में नहीं उस) सकार का लोप हो। इससे सीयुट्-सुट् दोनों के स् का लोप होता है। एध् अ ईय् त=(६।१।८४ से) गुण होकर एधेय् त=**लोपो व्योर्वलि** (६।१।६४)—वकार यकार का लोप हो जावे, वल् परे हो तो। इससे य् का लोप होकर=**एधेत**। लिङ् की अनुवृत्ति ३।४।१०८ तक जाती है।

(१९) **यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च** (३।४।१०३) इसमें 'लिङः' की अनुवृत्ति है। अर्थ—**लिङः परस्मैपदेषु यासुट् (भवति), उदात्तः ङित् च (भवति)**=लिङ् के परस्मैपद प्रत्ययों में यासुट् (आगम) हो जाता है, और वह उदात्त और ङित्वत् भी हो जाता है। जैसे—पठ् शप् तिप्=यासुट् तिप् को होने से (१।१।४५ से) आदि में होकर पठ् शप् यासुट् तिप्=पठ् अ यास् ति। **सुट् तिथोः** (३।४।१०७) से सुट् होकर—पठ् अ यास् सुट् ति। **लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य** (७।२।७९) से स् तथा (३।४।१०० से) ति के इ का लोप होकर पठ् अ या त् रहा। **अतो येयः** (७।२।८०)—अदन्त अङ्ग से परे सार्वधातुक या के स्थान में इय् आदेश होता है। इससे अदन्त अङ्ग से परे या के स्थान में इय् होकर पठ् अ इय् त्, ६।१।८४ से गुण होकर पठेय् त्=६।१।६४ से य् का लोप होकर **पठेत्** बना।

(२०) **किदाशिषि** (३।४।१०४) **'लिङः' 'यासुट्'** की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—आशिषि लिङ् में यासुट् कित्वत् होता है। जैसे—**इज्यात्**, यहां कित् होने से ६।१।१५ से यज् को सम्प्रसारण हो जाता है, जो आगे बताया जायेगा।

(२१) **झस्य रन्** (३।४।१०५)—लिङः=लिङ् के 'झ' (आत्मनेपद के प्रथम बहुवचन) के स्थान में 'रन्' होता है। जैसे पचेरन् यजेरन्। यहां पच् शप् लिङ्=पच् शप् सीयुट् झ=पच् शप् सीयुट् रन=पचेय् रन् (६।१।७४) से य् का लोप होकर **पचेरन्** बना। इसी प्रकार **यजेरन्**।

(२२) **इटोऽत्** (३।४।१०६) 'लिङः' की अनुवृत्ति है। अर्थ—लिङः इटः अत् भवति=लिङ् सम्बन्धी इट् (आत्मनेपद का उत्तम एकवचन) के स्थान में अत् होता हं। जैसे—पच् अ ईय् इट्=पच् अ ईय् अ=**पचेय**।

(२३) **सुट् तिथोः** (३।४।१०७) लिङः की अनुवृत्ति है। अर्थ—लिङः तिथो सुट् (भवति)=लिङ् सम्बन्धी तकार थकार को सुट् का आगम हो। जैसे—पठ् शप् यासुट् सुट् तिप्=पठ् अ यास् स् त्=(७।२।७९) से दोनों स् का लोप होकर **अतो येयः** (७।२।८०) से इय् होकर पूर्ववत् **पठेत्** बना।

(२४) **झेर्जुस्** (३।४।१०८) (झेः ६।१॥ जुस् १।१।) इसमें 'लिङ्' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—लिङः झेः जुस् (भवति)=लिङ् के झि को जुस् आदेश होता है। पठ् शप् यास् जुस्=पठ् अ या उस्=पठ् अ इय् उस् =पठेयुस्=**पठेयुः**।

(२५) **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च** (३।४।१०९) यहां झेर्जुस् की अनुवृत्ति है। सिच् अभ्यस्त और विदि से परे झि को जुस् आदेश होता है। जैसे—अकार्षुः, अचैषुः (पूरी सिद्धि पीछे करेंगे)।

इससे आगे (२६) **तिङ् शित् सार्वधातुकम्** (३।४।११३) (२७) **आर्द्धधातुकं शेषः** (३।४।११४) सार्वधातुक और आर्द्धधातुक संज्ञा के सूत्र विदित ही हैं। इसी प्रकरण में (२८) **लिट् च** (३।४।११५) और (२९) **लिङ् आशिषि** (३।१।११६) से क्रमशः लिट् और आशीर्लिङ भी आर्द्धधातुक संज्ञक होते हैं। यह प्रकरण समझ लेने पर दस लकारों की सिद्धि अत्यन्त सरल हो जाती है। दस लकारों की पूरी सिद्धि अभी आगे करनी है।

पाठक देखें कि दस लकारों के सम्बन्ध में बड़ी सामग्री पाणिनि जी ने एक ही जगह रखी हुई है। ये सूत्र लकारों की सिद्धि में अनिवार्य और परम आवश्यक हैं।

द्वित्व-प्रकरण

लिट् या श्लु आदि में धातु को द्वित्व या द्विर्वचन (एक के स्थान में दो हो जाना) होता है। द्विर्वचन=द्वित्व होने पर जो दो बनते हैं, उनमें से पहिले की 'अभ्यास' संज्ञा **पूर्वोऽभ्यासः** (६।१।४) से होती है। यह अभ्यास

का प्रकरण ७।४।५८ से ९७ तक है। काम में आने वाले इन दोनों प्रकरणों की कुछ जानकारी हो जानी चाहिये। सो द्वित्व प्रकरण इस प्रकार है—

(१) **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१) यह अधिकार सूत्र है। अर्थ—**प्रथमस्य एकाचः द्वे (भवतः)**=प्रथम (पहिले) एकाच् (एक अच हो जिसमें) को द्विर्वचन होता है, अर्थात् दो हो जाते हैं। यह अधिकार ६।१।१२ तक जाता है।

(२) **अजादेर्द्वितीयस्य** (६।१।२) यहां 'एकाचः' आ रहा है। अर्थ बना—**अजादेः द्वितीयस्य एकाच द्वे (भवतः)**=अजादि के द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन होता है। यह भी अधिकार है, जो १२ वें सूत्र तक जाता है।

जैसे **जुहोति** की सिद्धि १३ वें पाठ में है। हु शप् तिप् **जुहोत्यादिभ्यः श्लुः** (२।४।७५) से शप् को श्लु=अदर्शन होता है=हु तिप्, **श्लौ** (६।१।१०) सूत्र से द्विर्वचन होने लगा, तो **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१) से प्रथम एकाच् 'हु' को द्विर्वचन होकर हु हु ति बनता है।

(३) **पूर्वोऽभ्यासः** (६।१।४)—द्वित्व हुए अर्थात् दोनों में से पूर्व=पहिले की 'अभ्यास' संज्ञा होती है। हु हु ति में पहिले 'हु' की अभ्यास संज्ञा हो जाती है। इसको अभ्यास के सब कार्य हो जावेंगे। अभ्यास का यह प्रकरण ७।४।५८ से ९७ तक है। ७।४।६१ से हु को चवर्ग झु हो कर **अभ्यासे चर्च** (८।४।५३) से झु को जु होकर जु हु ति=(७।३।८४ से) गुण होकर **जुहोति** बना। जो १३ वें पाठ मे आप समझ चुके हैं।

(४) **उभे अभ्यस्तम्** (३।१।५)—जो दो हुए हैं उनकी एक साथ अर्थात् 'हु हु' दोनों की '**अभ्यस्तम्**=अभ्यस्त संज्ञा होती है। यहां जुहुझि में ७।१।३ से झ् के स्थान में अन्त् प्राप्त था। अभ्यस्त संज्ञा होने से **अदभ्यस्तात्** (७।१।४)—अभ्यस्त से परे झ् के स्थान में अत् होता है। सो यहां जु हु झि=जुहु अत् इ=**जुह्वति** बना। यहां पहिले यण्, फिर गुण प्राप्त होता है। (१।२।४) से ङित्वत् होकर गुण का निषेध होकर **हुश्नुवोः सार्वधातुके** (६।४।८७) से 'यण्' होकर **जुह्वति** बनता है। यह रूप भी १३ वें पाठ में सिद्ध कर चुके हैं।

(५) **लिटि धातोरनभ्यासस्य** (६।१।८) (लिटि ७।१। धातोः ६।१।। अनभ्यासस्य ६।१।।) यहां **एकाचो द्वे प्रथमस्य** का अधिकार है। अर्थ बना—**लिटि अनभ्यासस्य धातोः प्रथमस्य अजादेः द्वितीयस्य एकाचः द्वे(भवतः)**=लिट् परे हो तो अनभ्यासवाले धातु के प्रथम, अजादि हो तो द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन होता है। जैसे—पठ् लिट्=पठ णल्=पठ पठ णल्=प पठ् अ=

७।२।११६ से वृद्धि होकर **पपाठ** बन जाता है। पूरी सिद्धि पीछे होगी।

(६) **सन्यङोः** (६।१।९) — सनन्त यङन्त धातु के प्रथम एकाच् को, अजादि के द्वितीय को द्वित्व हो। पठ् सन्=पठ् पठ् सन्=प पठ् स=पि पठ् इ स=पि पठ् इ ष शप् तिप्=**पिपठिषति** बना। यङ् में **पापठ्यते**। इसको सिद्धि भी पीछे होगी।

(७) **श्लौ** (६।१।१०)—श्लु होने पर धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो। जैसे—हु शप् तिप्, **जुहोत्यादिभ्यः श्लुः** (२।४।७५) से शप् को श्लु होकर—हु ति। **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** (१।१।६०)—प्रत्यय के अदर्शन को श्लु कहते हैं। हु ति में इस **श्लौ** सूत्र से द्विर्वचन होकर—हु हु ति,पूर्ववत् **जुहोति** बन गया।

(८) **चङि** (६।१।११)—चङ् परे हो तो प्रथम एकाच् और अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है। जैसे—पठ् (णिजन्त)से लुङ् में **अपीपठत्**, और पच् से **अपीपचत्** बनता है। सिद्धि आगे होगी।

अभ्यास-प्रकरण

(१) **अत्र लोपोऽभ्यासस्य** (७।४।५८)—'अभ्यासस्य'की अनुवृत्ति यहां से पाद के अन्त ७।४।९७ तक जाती है। **अङ्गस्य** का अधिकार है ही।

(२) **ह्रस्वः** (७।४।५९)—**अभ्यासस्य अङ्गस्य**=अङ्ग के अभ्यास को ह्रस्व हो जाता है। जैसे—दा दा ति=**ददाति**। पा पा+णल्,**आत औ णलः** (७।१।३४)—आकारान्त अङ्ग से परे णल् को औ होता है। **पपौ**।

(३) **हलादिः शेषः**(७।४।६०)—**अभ्यासस्य अङ्गस्य**=अङ्ग के अभ्यास का **आदिः**=पहिला हल् शेष रहता है (शेष हलों का लोप हो जाता है)। पठ् पठ् णल्=प पठ् अ=**पपाठ**। यहां **अत उपधायाः**(७।२।११६) से वृद्धि होती है।

(४) **शर्पूर्वाः खयः** (७।४।६१)—शर्पूर्व अभ्यास में खय् शेष रहता है। स्पर्ध् लिट्=स्पर्ध् त=स्पर्ध् स्पर्ध् त=प स्पर्ध् त=प स्पर्ध् एश्=प स्पर्ध् ए=**पस्पर्धे**।

(५) **कुहोश्चुः** (७।४।६२) यहां **'अभ्यासस्य'** की अनुवृत्ति है। अर्थ बना—**अभ्यासस्य कुहोः चुः** (भवति)=अभ्यास के कवर्ग और हकार को चवर्ग हो जाता है। जैसे—**जुहोति**। यहां झुहु ति=जु हु ति=**जुहोति**। चकार में कृ कृ णल्—कृ कृ अ=चकार अ=चकार बना।

(६) **उरत्** (७।४।६६) **अभ्यासस्य** की अनुवृत्ति है। ऋकारान्त अभ्यास के ऋ को अ हो जाता है। जैसे—कृ कृ णल्=कर् कार् अ=(उरण् रपरः १।१।५० से रपर,७।४।६०से रेफ की निवृत्ति होकर)=क कार् अ= चकार् अ=चकार।

(७) **भवतेरः**(७।४।७३)—**अभ्यासस्य** आता है। भवति=भू धातु के अभ्यास को 'अ'हो जावे। भू भू णल्=भ भू अ=भ भू व् अ=ब भूव् अ= **बभूव**। शेष पूरी सिद्धि आगे बतावेंगे।

(८) **सन्यतः** (७।४।७९) ऊपर (७।४।७६)से यहां **इत्** की अनुवृत्ति आती है। **सनि अभ्यासस्य अतः इत्** (भवति)=सन् परे हो तो अभ्यास के अत्=ह्रस्व अकार को इत्=ह्रस्व इकार हो जाता है। जैसे—पठ् पठ् सन्=पपठ् इट् स=पिपठ् इष=पिपठिष शप् तिप्=पिपठिष अ ति= पिपठिषति।

३० से ३६ पाठों का सिंहावलोकन

३०वें पाठ से लेकर ३६वें पाठ तक का सिंहावलोकन कर लेना चाहिए। ३०वें में **स्त्री-प्रत्यय** के अतिसामान्य सूत्रों को समझाया। ३१वें में **तद्धित की प्रक्रिया** का बोधमात्र कराने के लिये कुछ एक सूत्र बताये। ३२वें पाठ में ७।३।१०१ से ११९ तक के सुबन्त के पुरुष, धन, विद्या, अग्नि, मति, वारि, वायु, धेनु, मधु, कुमारी शब्दों की सिद्धि में लगनेवाले एक ही स्थान में पढ़े हुए सूत्रों को समझाया। ३३व पाठ में ७।१।९ से २० तक के पुरुष, सर्व (सर्वनाम), धन (नपुंसकलिङ्ग) की सिद्धि में अधिकतर लगने-वाले सूत्रों को समझाया। आगे ३४वं पाठ में हमने नया कुछ नहीं किया, केवल पहिले बताए हुए सूत्रों को समझाते हुए पुरुष को छोड़कर (क्योंकि इसकी सब सिद्धि २४वें पाठ में पहिले बता चुके हैं) शेष **विद्या, धन, अग्नि, वायु,** वारि, मधु, **मति, धेनु, सर्व,** तथा **कुमारी** के रूपों की सिद्धि के सब सूत्रों को, जो ३२वें तथा ३३वें पाठ में आ चुके थे, कार्यरूप में लगाकर उन का प्रत्यक्ष ज्ञान और महत्व दर्शाया है। आगे ३५वें और३६वें पाठ में हमने लकारों में सामान्यतया लगनेवाले सूत्रों का परिचय कराया है। उनमें से कुछ एक सूत्र ऐसे भी हैं, जिनका उदाहरणमात्र दिया, सिद्धि आगे के लिए छोड़ दी है, जो आगे अवश्य ही आवेगी। अभी कठिन पड़ती। पाठक इसकी चिन्ता में न पड़ें॥

सैंतीसवां पाठ

तिङन्त (१) परस्मैपद (भू)

हम पहले सब लकारों में लगनेवाले सामान्यसूत्र ३५वें तथा ३६वें पाठ में अर्थसहित बता चुके हैं। यहां हम अनेक हितैषियों के आग्रह से तिङन्त की सिद्धि का प्रकार कुछ धातुओं वा विशेषकर भू एध की सिद्धि का प्रकार सब लकारों में दर्शाये देते हैं। सामान्य सूत्र तो हमारे पठनार्थी पढ़ ही चुके हैं, अतः उन्हें कुछ कठिनाई न होगी।

(१)—लट्

इस वर्तमान काल (लट्) में पठति भवति की सिद्धि हमारा पठनार्थी १०, ११वें पाठ में पढ़ चुका है। उसे पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं। पठ् शप् तिप्=पठति, भू शप् तिप्=भवति बनता है। पच् का **पचति**, पत् का **पतति**, तप् का **तपति**, वद् का **वदति**, यज् का **यजति** बन ही जावेगा।

२—लिट्

बभूव

भू — **भूवादयो धातवः (१।३।१), धातोः (३।१।९१), परोक्षे लिट् (३।२।११५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२),**

भू लिट् — पूर्ववत् अनुबन्ध लोप होकर,

भू ल् — **लस्य (३।४।७७), तिप्तस्झि० (३।४।७८)** आदि सूत्र पूर्ववत् लगकर,

भू तिप् — **परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः (३।४।८२)** से तिप् के स्थान में णल् होकर, **हलन्त्यम् (१।३।३)** से ल्, और **चुटू (१।३।७)** से ण् की इत् संज्ञा, और (१।३।९) से लोप होकर **अङ्गस्य (६।४।१)** के अधिकार में **भुवो वुग् लुङ्लिटोः (६।४.८८)** से अजादि लुङ् या लिट् परे रहते वुक् का आगम, **आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)** से कित् होने से अन्त में होकर,

भू वु क् अ — 'उ' और 'क्' की इत्संज्ञा और लोप होकर,

भू व् अ — **लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८)**, **एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)** से 'भुव' को द्विर्वचन होकर,

भूव् भूव् अ	**पूर्वोऽभ्यासः** (६।१।४) से अभ्यास संज्ञा होकर, **हलादिः शेषः** (७।४।६०) से 'व्' की निवृत्ति, और **ह्रस्वः** (७।४।५९) से ह्रस्व होकर
भु भूव् अ	**भवतेरः** (७।४।७३) से भू के अभ्यास को अ होकर
भ भूव् अ	**अभ्यासे चर्च** (८।४।५३) से अभ्यास के झल् को जश आदेश अर्थात् भ् को ब् होकर
बभूव	बना।

इसी प्रकार **बभूवतुः** में भू तस् को ३।४।८२ से अतुस् होकर तथा पूर्ववत् सारे कार्य होकर—बभूवतुस्=**बभूवतुः** बन गया। भू झि,झि को (३।४।८२) से उस् होकर **बभूवुः** बन गया।

भू सिप्=भू थल्, यहां **लिट् च** (३।४।११५) से थल् की आर्द्धधातुक संज्ञा, तथा **आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः** (७।२।३५), **आद्यन्तौ टकितौ** (१।१।४५) से इट् आगम होकर, तथा पूर्ववत् सब कार्य होकर—बभूव् इट् थल् =**बभूविथ** बन गया।

भू थस्=भू अथुस्=**बभूवथुः** बना।

भू थ=भू अ, पूर्ववत् सब कार्य होकर **बभूव** बन गया।

भू मिप्=भू णल्=**बभूव**। भू वस्=भू व=बभूव् व, पूर्ववत् इट् का आगम होकर **बभूविव** बन गया। इसी प्रकार भू मस्=भू म=बभू इट् म =**बभूविम** बन गया।

पठ् धातु से पठ् णल्, द्विर्वचनादि पूर्ववत् होकर 'प पठ् अ'। **अतः उपधायाः** (७।२।११६) से वृद्धि होकर—**पपाठ** बना। पच् धातु से **पपाच** बनेगा।

प पठ् अतुस, यहां **अत एकहल्मध्येऽनादेशा०** (६।४।१२०) से अभ्यास-लोप तथा एत्व होकर=पेठतुस्=**पेठतुः**, **पेठुः**, **पेचतुः**, **पेचुः** बन गया। आगे भी **थलि च सेटि** (६।४।१२१) से एत्व अभ्यासलोप होकर—**पेठिथ**। **पेठथुः पेठ**, **पपाठ-पपठ पेठिव**, **पेठिम** रूप पूर्ववत् बन जायेंगे। **णलुत्तमो वा** (७।१।९१)—उत्तम पुरुष का णल् विकल्प से णित्वत् माना जाता है। अतः णित् पक्ष में उपधा को वृद्धि तथा दूसरे पक्ष में वृद्धि न होकर **पपाठ-पपठ** दो रूप बनेंगे। पच् के **पेचिथ** (भारद्वाज नियम से इट्[1]) **पपक्थ**, **पेचथुः**,

---

१. **'ऋतो भारद्वाजस्य'** (७।२।६३) सूत्र का यह अर्थ है कि भारद्वाज आचार्य के मत में अनिट् धातुओं के थल् में इट् का निषेध केवल ऋकारान्त धातुओं से ही

पेच । पपाच-पपच, पेचिव, पेचिम (क्रादि नियम से इट्[1]) ।

३—लुट्

भू	**भूवादयो०** (३।३।१), **धातोः** (३।१।९१), **अनद्यतने लुट्** (३।१।१५),
भू लुट्	**लस्य** आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर
भू तिप्	**स्यतासी लृलुटोः** (३।१।३३) से लृ (=लृट् लृङ्) लुट् परे रहते यथासङ्ख्य करके स्य तासि प्रत्यय होते हैं । सो लुट् परे रहते तासि होकर—
भू तासि तिप्	**लुटः प्रथमस्य डारौरसः** (२।४।८५) से लुट् लकार के प्रथम पुरुष तिप् के स्थान में 'डा' आदेश होकर
भू तासि डा	=भू तास् आ । यहां **डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः**[2] (६।४।१३३ वा०) इस वार्तिक से तास् के टि भाग 'आस्' का लोप होकर
भू त् आ	**आर्द्धधातुकं शेषः** (३।४।११४),**आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः** (७।२।३५), **आद्यन्तौ टकितौ** (१।१।४५),
भू इट् त् आ	**सार्वधातुकार्ध०** (७।३।८४), **अदेङ्गुणः** (१।१।२), **इको गुण-वृद्धी** (१।१।३), **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९),
भो इ त् आ	**एचोऽयवायावः** (६।१।७५) से अव् होकर
भविता	बना ।

होता है । ऋकारान्त धातुओं के अजन्त होने के कारण **अचस्तास्वत्०** (७।२।६१) से थल् को 'इट्'का निषेध सिद्ध ही था,पुनः निषेध का प्रयोजन यह है कि ऋकारान्त से भिन्न धातुओं से भारद्वाज के मत में इट् हो जाता है ।

१. **कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि** (७।२।१३) सूत्र में कृसृ आदि कुछ अनिट धातुएं पढ़ी हैं । उन में **'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्'**(७।२।१०) से इट् का निषेध हो ही जाता, पुनः कृसृभृ' आदि धातुओं का सूत्र में निषेध क्यो किया ? सो यह निर्देश व्यर्थ होकर बताता है कि लिट् में क्रादि धातुओं को ही इट् नहीं होता, अर्थात् अन्य अनिटों को लिट् में इट् आगम हो जाता है । यही क्रादि नियम कहाता है ।

२ इसका यह भाव है कि प्रत्ययों को डित् करने का एकमात्र प्रयोजन यही है कि उनके परे रहते 'भ'संज्ञक अङ्ग की टि का लोप हो । 'भ' संज्ञा **'यचि भम्'** (१।४।१८) यकारादि अजादि स्वादि(४।१।१—५।४।१६०)प्रत्ययों के परे रहने पर ही होती है । तृतीय अध्याय के प्रत्यय स्वादि में नहीं आते । अतः उनके परे 'भ' संज्ञा होगी ही नहीं, और टि लोप भी नहीं होगा । ऐसी अवस्था में 'डा' को 'डित्' क्यों किया ? सो डित्करण व्यर्थ होकर बताता है कि डित्करणसामर्थ्य से बिना 'भ' संज्ञा के भी टि का लोप हो जाता है ।

पूर्ववत् तस् में भू तास् तस्, यहां लुटः प्रथमस्य डारौरसः (२।४।८") से तस् के स्थान में रौ होकर, तथा शेष सब कार्य पूर्ववत् होकर—भवितास् रौ बना। अब यहां रि च (७।४।५१) से तास् के स् का लोप होकर—**भवितारौ** बन गया। भवितास् झि, यहां भी झि के स्थान में २।४।८५ से रस् आदेश होकर भवितास् रस् रहा। पूर्ववत् स् का लोप, तथा रस् के स् को विसर्ग होकर—**भवितारः** बन गया।

भू सिप्=भू इट् तास् सि, यहां तासस्त्योर्लोपः (७।४।५०) यहां ७।४।४९ से 'सि' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना–सकारादि प्रत्यय परे हो, तो तास् और अस्ति के सकार का लोप होवे। पूर्ववत् गुण इत्यादि होकर **भवितासि** बन गया। **भवितास्थः, भवितास्थ । भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः** आदि में कुछ भी विशेष नहीं है। इसी प्रकार पठ का **पठिता पठितारौ पठितारः** आदि, तथा पच् का **पक्ता पक्तारौ पक्तारः** आदि बनेगा। पच् धातु अनिट् है। अतः इट् आगम नहीं होगा, तथा चोः कुः (८।२।३०) से च् का क् हो जायेगा, केवल यही विशेष है, शेष पूर्ववत् जानें।

४—लृट्

भू	भूवादयो धातवः, धातोः, लृट् शेषे च (३।३।१३),
भू लृट्	पूर्ववत् तिप् आकर स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३) से स्य प्रत्यय होकर,
भू स्य तिप्	आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से स्य की आर्धधातुक संज्ञा होकर पूर्ववत् इट् आगम तथा गुण होकर—
भो इ स्य ति	एचोऽयवायावः (६।१।७५), आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९)
भविष्यति	से षत्व होकर बना।

आगे **भविष्यतः भविष्यन्ति । भविष्यसि भविष्यथः भविष्यथ । भविष्यामि भविष्यावः भविष्यामः** पूर्ववत् बन ही जायेंगे। पठ का **पठिष्यति** आदि, तथा पच् का **पक्ष्यति पक्ष्यतः** आदि। इट् आगम निषेध (७।२।१०) से, तथा कुत्व (८।२।३०) से होकर पूर्ववत् ही बन जायेंगे।

५—लेट्

लेट् लकार के रूप हमारी अष्टाध्यायी-प्रथमावृत्ति में देखें। लेट् लकार वेद में ही प्रयुक्त होता है। लेट् के रूप हम ४४ पाठ के पश्चात् एक दिन में पढ़ा और समझा देते हैं अभी आवश्यकता भी नहीं।।

———

अड़तीसवां पाठ

तिङन्त (२)

६--लोट्

भू — भूवादयो धातवः, धातोः, लोट् च (३।३।१६२),
भू लोट् — पूर्ववत् 'भवति' के समान सारे सूत्र लगकर,
भ् शप् तिप् = भवति। एरुः (३।४।८६) से ति के इ को उ होकर भवतु बना। पक्ष में तुह्योस्तातङाशिष्य० (७।१।३५) से तु को तातङ् आदेश होकर—भवतात् भी बना।
भव् अ तस् — पूर्ववत् होकर लोटो लङ्वत् (३।४।८५) ने लोट् को लङ्-वत् अतिदेश किया। लोट् को लङ्वत् अतिदेश होने और ङित् होने से, ङित् लकारों को कहे हुए तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१) से ताम् तम् आदि आदेश, लोट् लकार में भी हो गये। सो यथासंख्य करके तस् को ताम् होकर—
भवताम् — बन गया।
भव् अ झि = भवन्ति यहां भी एरुः (३।४।८६) लगकर भवन्तु बन गया।

पूर्ववत् भव सि बनकर सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७) से सिप् के सि को हि होकर 'भव हि' हुआ। अतो हेः (६।४।१०५), यहां ६।४।१०४ से लुक् की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—'अदन्त अङ्ग से उत्तर हि का लुक् होता है। सो लुक् होकर भव रहा। पक्ष में ७।१।३५ से भवतात् भी बनेगा।
भव् शप् थस् — यहां पूर्ववत् ३।४।१०१ से थस् को तम् होकर भवतम् बना।
भव् शप् थ — यहां थ को त होकर—भवत बना।
भव् अ मि — पूर्ववत् होकर आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२) से आट् आगम होकर,
भव आट् मि — मेर्निः (३।४।८९) से मि को नि होकर, अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ होकर—भवानि बना।

इसी प्रकार भव् अ आ वस्, भव् अ आ मस् नित्यं ङितः (३।४।९९) से स् का लोप होकर--भवाव भवाम पूर्ववत् बनेंगे। इसी प्रकार पठ् से

पठतु पठतात् पठताम् पठन्तु आदि। पच् से पचतु—पचतात् पचताम् पचन्तु आदि सारे रूप पूर्ववत् जानें।

७—लङ्

भू	भूवादयो०, धातोः, अनद्यतने लङ् (३।२।१११),
भू लङ्	पूर्ववत् शप् तिप् आकर
भू शप् तिप्=	भू अ ति, गुण तथा अवादेश, और लुङ लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१) तथा आद्यन्तौ टकितौ(१।१।४५) से अट् आगम लुङ् लङ् तथा लृङ् लकार परे रहते अङ्ग को होता है। सो अङ्ग के आदि में होकर,
अट् भव ति	इतश्च(३।४।१००)से इकार का लोप होकर—
अभवत्	बना।

अभव् अ तस्,यहां पूर्ववत् ३।४।१०१ से तस् को ताम् होकर अभवताम् बना। पूर्ववत् अभव् अ अन्ति में ३।४।१०० से इकार लोप तथा अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर अभवन्त् हुआ। हलोऽनन्तरा० (१।१।७) से न् त् की संयोग संज्ञा, तथा सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से पद संज्ञा होकर पदस्य (८।१।१६) के अधिकार में संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से त् का लोप होकर—अभवन् बना।

अ भव सि,यहां पूर्ववत् सि के इ का लोप होकर स् को विसर्ग होकर—अभवः बना है। अभव थस्, यहां थस् को तम् ३।४।१०१ से होकर—अभवतम् बना। अभव थ, यहां थ को त होकर—अभवत बना। अभव मि,यहां भी ३।४।१०१से मिप् को अम् होकर—अभवम् बना। अभवाव अभवाम में अतो दीर्घो० (७।३।१०१) से दीर्घ होगा, और ३।४।९९ से स् का लोप होगा, यही विशेष है।

अपठत् अपठताम् अपठन्। अपठः अपठतम् अपठत। अपठम् अपठाव अपठाम। तथा पच से अपचत् अपचताम् अपचन् आदि बनेंगे।

८—(क) विधिलिङ्

भू	विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् (३।३।१६१),
भू लिङ्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर
भू शप् तिप्	यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (३।४।१०३), सुट् तिथोः (३।४।१०७),
भू अ यासुट् सुट् ति	लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९), यहां ७।२।७९

से सार्वधातुके की अनुवृत्ति आती है। सो सार्वधातुक ति परे भू अ यास् स् ति अवस्था में रहते अनन्त्य दोनों सकारों का लोप हो गया।

पूर्ववत् गुण इत्यादि होकर

भव् अ या ति — अतो येयः (७।२।८०) से अदन्त अङ्ग से परे या को इय् आदेश होकर

भव इय् ति — आद् गुणः(६।१।८४) से गुण, और इतश्च (३।४।१००)से इकार का लोप होकर

भवेय् त् — लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से य् का लोप होकर

भवेत् — बना।

पूर्ववत् सारे कार्य तथा जस् को ताम् (३।४।१०१) होकर भवेताम्। भव यास् झि, यहां झेर्जुस्(३।४।१०८)से झि को जुस् होकर—भवेय् उस् =भवेयुः बना। भवेय् सि, य् लोप, इकार लोप, तथा रुत्व विसर्ग होकर भवेः बना। आगे पूर्ववत् भवेतम् भवेत। भवेयम्, यहां मि को ३।४।१०१ से अम् होकर भवेयम्, भवेव भवेम बना है।

इसी प्रकार पठ् तथा पच के भी रूप जानें। पठेत् पठेताम् पठेयुः। पठेः पठेतम् पठेत। पठेयम् पठेव पठेम। पचेत् पचेताम् पचेयुः आदि बनते हैं।

८—(ख) आशीर्लिङ्

भू — आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३) से लिङ्,

भू लिङ्=तिप् — लिङाशिषि (३।४।११६)से आशीर्लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होने से शप् प्रत्यय नहीं हुआ। पूर्ववत् यासुट् और सुट् होकर किदाशिषि (३।४।१०४) से परस्मैपदविषयक लिङ् लकार को जो यासुट् का आगम ङित् कहा है,वह आशीर्वाद अर्थ में कित् समझना चाहिए। इस सें कित् होकर क्ङिति च (१।१।५) से गुण नहीं हुआ।

भू यासुट् सुट् त् — स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९) से यासुट् और सुट् के सकार का भी इस सूत्र से लोप होकर

भूयात् — बन गया।

भूयास्ताम् भूयासुः। भूयाः भूयास्तम् भूयास्त। भूयासम् भूयास्व भूयास्म पूर्ववत् ही जानें। कुछ भी विशेष नहीं। इसी प्रकार पठ् तथा पच् के रूप भी पठ्यात् पठ्यास्ताम् पठ्यासुः। पच्यात् पच्यास्ताम् पच्यासुः।

६—लुङ्

भू — लुङ् (३।२।११०) से लुङ् प्रत्यय पूर्ववत् होकर

भू लुङ् — च्लि लुङि (३।१।४३) से च्लि प्रत्यय होता है। आगे च्लेः सिच् (३।१।४४) से च्लि के स्थान में सिच् हुआ।

भू सिच् लुङ् — पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर लुङ्लुङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१) से अट् का आगम होकर

अट् भू सिच् तिप्=अभू स् ति, इतश्च (३।४।१००) से इकार का लोप, तथा गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः० (२।४।७७) से सिच् का स् लुक् होकर, तथा भूसुवोस्तिङि (७।३।८८) से गुण निषेध होकर अभूत् बना।

आगे तस् को ताम् (३।४।१०१) से होकर अभूताम्। अभूवन्त्, यहां भुवो वुग् लुङ्लिटोः (६।४।८८) से अजादि लुङ् परे वुक् होकर, संयोगान्त० (८।२।२३) से लोप होकर अभूवन् बना। अभूः अभूतम् अभूत। मिप् को अम् तथा पूर्ववत् वुक् होकर अभूवम्, अभूव अभूम रूप बन गये।

पठ् धातु से 'अट् पठ् सिच् त्' ऐसी अवस्था में आर्द्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से सिच् को इट् आगम होकर अ पठ् इट् स् त् हुआ। अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६) से अपृक्त सार्वधातुक तिप् के त् को ईट् आगम, आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से आदि में होकर—अ पठ् इ स् ईट् त् हुआ। इट ईटि (८।२।२८) से इट् से उत्तर ईट् परे रहते सिच् के स् का लोप गया। इसमें ८।२।२३ से लोपः की अनुवृत्ति आती है। पश्चात् अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से इ ई को दीर्घ होकर अपठीत् बना। पक्ष में अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) से विकल्प से पठ् के लघु अकार को वृद्धि होकर अपाठीत् भी बनेगा। 'अपठिस् तस्' तस् को ताम् होकर अपठिस्ताम्। आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व, ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से त् को ट् होकर अपठिष्टाम् बना। अपठिष् झि, यहां सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३।४।१०९) से सिच् से उत्तर जो झि उसे जुस् होकर, चुटू (१।३।७) से ज् की इत् संज्ञा होकर—अपठिष् उस् बना। रुत्व विसर्ग होकर अपठिषुः बन गया। अपठीः अपठिष्टम् अपठिष्ट। अपठिषम्, अपठिष्व, अपठिष्म पूर्ववत् बन ही जायेंगे। वृद्धि पक्ष में सारे रूपों में अपाठीत् अपाठिष्टाम् अपाठिषुः। अपाठीः अपाठिष्टम् अपाठिष्ट। अपठाठिषम् अपाठिष्व अपाठिष्म रूप चलेंगे।

पच धातु से अपाक्षीत् बनेगा। यहां चोः कुः (८।३।३०) से कुत्व, तथा

इट् आगम का निषेध यही विशेष हैं। **वदव्रजहलन्तस्याचः** (७।२।३) से हलन्तलक्षणा नित्य वृद्धि हो जायेगी। आगे के रूप **अपाक्ताम्**—**झलो झलि** (८।२।२६) से सिच् का लोप होता है। **अपाक्षुः। अपाक्षीः अपाक्तम् अपाक्त। अपाक्षम् अपाक्ष्व अपाक्ष्म** बनेंगे।

१०—लृङ्

भू — **भूवादयो०, धातोः, लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ** (३।३।१३९) से लृङ्

भू लृङ् — **स्यतासी लृलुटोः** (३।१।३३) से स्य प्रत्यय

भू स्य लृङ्=तिप् पूर्ववत् इट् आगम, तथा **सार्वधातुका०** (७।३।८४) से गुण, **लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः** (६।४।७१)से अट् का आगम,

अट् भो इट् स्य ति **एचोऽयवायावः** (६।१।७५), **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५९), **इतश्च** (३।४।१००)का कार्य होकर—**अभविष्यत्।**

आगे **अभविष्यताम् अभविष्यन्। अभविष्यः अभविष्यतम् अभविष्यत। अभविष्यम् अभविष्याव अभविष्याम।** इसी प्रकार **अपठिष्यत्, अपक्ष्यत्** आदि भी जानें।

विदित रहे कि लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् इन चार लकारों में लकार सार्वधातुक होते हैं। **लिट् च; लिङाशिषि**(३।४।११५,११६) से लिट् और आशीर्लिङ् आर्धधातुक हैं। शेष अन्यों में भी सिच्,स्य, तास् विकरण आर्धधातुक हैं। इसलिए उपर्युक्त ४ सार्वधातुक लकारों में ही शप् प्रत्यय होगा, अन्यों में नहीं॥

उनतालीसवां पाठ

तिङन्त (३) आत्मनेपद (एध)

१—लट्

एध	भूवादयो धातवः (१।३।१), उपदेशेऽजनु० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९)
एध्	धातोः, वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३), प्रत्ययः, परश्च, तङानावात्मनेपदम् (१।४।९९)
एध् लट्	पूर्ववत् सब सूत्र तथा, अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) से आत्मनेपद होकर पूर्ववत् शप् और त
एध् शप् त	अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) से त के अ की टि संज्ञा होकर
एध् अ त एधते	टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से टि को 'ए' होकर बना।

एध शप् आताम् पूर्ववत् कार्य होकर, सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से ङितवत् होकर, आतो ङितः (७।२।८१) यहां ऊपर सूत्र से अतः और इय् की अनुवृत्ति है। अर्थ हुआ—अदन्त अङ्ग से परे जो ङित् प्रत्यय का आकार उसको इय् आदेश हो। सो इस 'आताम्' के 'आ' को इय् होकर

एध् अ इय् ताम् अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३), टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)

एध इय् त् ए आद् गुणः (३।१।६४), लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) होकर
एधेते बना।

एध् शप् झ=एध् अ अन्त, टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से एत्व होकर
एधन्ते बन गया।

एध् शप् थास् थासः से (३।४।८०) से थास् को 'से' होकर—एधसे बना।

एध् शप् आथाम् पूर्ववत् आताम् के समान सारे कार्य होकर

एध् अ इय् थाम्=एधेथ् ए= एधेथे बना।

एध् अ ध्वम् पूर्ववत् टि को एत्व होकर—एधध्वे बना।
एध् अ इट्=एध ए, अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर--एधे बना।
एध् अ वहि, एध् अ महि ७।३।१०१से दीर्घ, तथा पूर्ववत् टि को एत्व होकर —एधावहे एधामहे बना।

इसी प्रकार यज् का यजते यजेते, तथा पच् का (यज् और पच् धातु उभयपदी हैं[1]) पचते पचेते आदि रूप बनेंगे।

२—लिट्

एध् — भूवादयो धातवः, धातोः, परोक्षे लिट् (३।२।११५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)

एध् लिट् — इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३।१।३६) यहां ३५ से आम् और लिटि की अनुवृत्ति है। अर्थ हुआ—लिट् लकार परे हो तो इजादि और गुरुमान् धातु से आम् प्रत्यय हो, ऋच्छ को छोड़कर। एध् इजादि है ही, दीर्घं च (१।४।१२) से गुरु संज्ञा होने से गुरुमान् भी है। सो 'आम्' होकर

एध् आम् लिट् — आमः (२।४।८१) से आम् से उत्तर प्रत्ययमात्र का लुक् होता है। सो लिट् का लुक् होकर

एधाम् — कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि (३।१।४०) से कृञ्[2] का अनुप्रयोग, तथा पुनः लिट् आया। कृञ् के ञित् होने से

एधाम् कृ लिट् — स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये० (१।३।७२) इससे आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों प्रत्यय पाये। तब आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य (१।३।६३) ने कहा कि आम् प्रत्यय जिससे किया है, उसके समान ही अनुप्रयुक्त धातु से आत्मनेपद हो। सो एध आत्मनेपदी थी, अतः कृञ् से भी आत्मनेपद ही हुआ। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर

---

१. जो उभयपदी धातुएं होती हैं, उन से 'जब क्रिया अपने ही लिये की जाये (क्रिया का फल कर्ता को ही मिले) तब आत्मनेपद होता है। जैसे—'देवदत्तः यजते' देवदत्त अपने लिये यज्ञ करता है, 'देवदत्तः पचते' देवदत्त अपने खाने के लिये पकाता है। 'जब क्रिया दूसरे के लिये की जाती है' तब परस्मैपद होता है।' 'देवदत्तः यजति' देवदत्त किसी यजमान-का यज्ञ करता है। 'देवदत्तः पचति' देवदत्त अपने स्वामी के लिये पकाता है। यह प्रयोगभेद ध्यान में रखना चाहिये।

२. इस सूत्र में कृञ् से ५।४।५० के 'कृ' से लेकर ५।४।५८ के 'ञ्' पर्यन्त प्रत्याहार ग्रहण किया है। अतः यहां कृञ् से प्रत्याहार ग्रहण होने के कारण 'कृ भू अस्' तीनों धातुओं का ग्रहण है। सो क्रम से इन तीनों का ही अनुप्रयोग आम् प्रत्ययान्त से हुआ करेगा। कृञ् से 'आम्प्रत्ययवत्' से आत्मनेपद, और शेष दोनों से परस्मैपद होगा।

एधाम् कृ त   लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४)
एधाम् कृ कृ त उरत् (७।४।६६) से अभ्यास के ऋकार को अत्, और उरण रपरः (१।१।५०) से रपर होकर
एधाम् कर् कृ त हलादि शेषः (६।४।६०), कुहोश्चुः (७।४।६२)
एधाम् च कृ त   लिटस्तझयोरेशिरेच् (३।४।८१) से त को एश् होकर
एधाम् च कृ एश् इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश, तथा अनुबन्ध लोप।
एधाम् चक्रे   मोऽनुस्वारः[1] (८।३।२३), अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, वा पदान्तस्य (८।४।५७,५८) से
एधाञ्चक्रे, एधांचक्रे विकल्प से परसवर्ण हुआ। पक्ष में अनुस्वार ही रहा।

आगे एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे (झ को ३।४।८१ से इरेच् होकर)। एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे। ध्वम् में इणः षीध्वं लुङ्लिटां० (८।३।७८) से मूर्धन्य आदेश होकर एधाञ्चकृढ्वे यह रूप बनेगा। आगे एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे ये रूप बनेंगे।

जब एधाम् से भू का अनुप्रयोग होगा, तो एधाम्बभूव एधाम्बभूवतुः एधाम्बभूवुः। एधाम्बभूविथ एधाम्बभूवथुः एधाम्बभूव। एधाम्बभूव एधाम्बभूविव एधाम्बभूविम, रूप बनेंगे। लिट् में भू धातु की सिद्धि दिखा ही आये हैं, सो उसी प्रकार अनुप्रयोग में भी होगा।

अस् का अनुप्रयोग होने पर 'एध् आम् अ अस् अ', अतः आदेः (७।४।७०) अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ होकर एधामास एधामासतुः एधामासुः। एधामासिथ एधामासथुः एधामास। एधामास एधामासिव एधामासिम रूप पूर्ववत् बन जायेंगे। इस अनुप्रयुक्त 'अस्' का अस्तेर्भूः (२।४।५२) से भू आदेश अनुप्रयोग-सामर्थ्य से नहीं होता।

जो जो इजादि तथा गुरुमान् धातु होंगे, उन सब के लिट् लकार में ठीक ऐसे ही तीन रूप बनेंगे।

पच् धातु से लिट् में द्वित्वादि पूर्ववत् होकर 'प पच् त,' अत एकहल्मध्ये० (६।४।१२०) से अभ्यासलोप तथा एत्व होकर पेच् त, ३।५।८१

---

१. यह पदान्त में वर्तमान मकार को अनुस्वार करता है। 'एधाम् लिट्' में लिट् के लुक् होने पर लिट् के कृत्संज्ञक होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सु' आता है—'एधाम् सु'। 'कृन्मेजन्तः' (१।२।३८) से एधाम् की अव्यय संज्ञा होकर 'अव्ययादाप्सुपः' (२।४।८२) से सु का लुक् होकर प्रत्ययलक्षण से पद संज्ञा होती है।

से एश् होकर **पेचे** बना। आगे **पेचाते पेचिरे**। (क्रादिनियम से इडागम होकर) **पेचिषे पेचाथे पेचिध्वे, पेचे पेचिवहे पेचिमहे** रूप बनेंगे।

३—लुट्

गुण और आत्मनेपद को छोड़कर सारे कार्य भू धातु से 'भविता' के समान होकर **एधिता एधितारौ एधितारः** रूप बनेंगे। थास् में थासः से (३।४।७०) से थास् को से होकर **एधितासे**। एधितास् आथाम्, यहां टि भाग को ३।४।७९ से एत्व होकर **एधितासाथे** बना।

एधितास् ध्वम्, धि च (८।२।२५) से धकारादि प्रत्यय परे रहते तास् के स् का लोप होकर **एधिताध्वे** बना।

एधितास् इट् टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से एत्व

एधितास् ए ह एति (७।४।५२) से एकार परे रहते तास् के सकार को ह् होकर

एधिताह् ए=**एधिताहे** बना।

आगे **एधितास्वहे, एधितास्महे** रूप पूर्ववत् जानें।

पच् धातु से **पक्ता पक्तारौ** आदि इसी प्रकार रूप बनेंगे। पूर्ववत् इट आगम निषेध तथा कुत्व यही विशेष है।

४—लृट्

लृट् लकार में पूरी सिद्धि भविष्यति के समान जानें। केवल यहां टित आत्मनेपदानां टेरे, थासः से ही विशेष हैं। एध् इट् स्य त=**एधिष्यते,एधिष्येते** (आतो ङितः ७।२।८१), **एधिष्यन्ते**। **एधिष्यषे,एधिष्येथे,एधिष्यध्वे**। **एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे** यह रूप बनेंगे। पच् के **पक्ष्यते पक्ष्येते** आदि रूप बनेंगे। सिद्धि इसी प्रकार है। इट् आगम नहीं होगा, यही विशेष है।

५—लेट् (छन्द में ही प्रयुक्त होता है)

—:०:—

चालीसवां पाठ

तिङन्त (५)

६—लोट्

एध लोट् पूर्ववत्
एध् शप् त=एधते, आमेतः (३।४।९०) से लोट् सम्बन्धी ए को आम् होकर
एधत् आम् =एधताम् बना।
एध् अ आताम् पूर्ववत् होकर आतो ङितः (७।२।८१),टित आत्मनेपदा०,
एध् अ इय् त् ए आमेतः (३।४।९०), आद् गुणः, लोपो व्योर्वलि (६।१।६४)=एधेताम्
झि में पूर्ववत् एधन्ताम् बनेगा।
एध् शप् थास् थासः से (३।४।८० से) पूर्ववत् से होकर
एध् अ से सवाभ्यां वामौ (३।४।९१) से स् से उत्तर ए को व होकर एधस्व बना।
एध् अ आथाम् पूर्ववत् एधेथाम् बना।
एध् अ ध्वे=एधध्वे, यहां सवाभ्यां वामौ (३।४।९१) से ए को अम् होकर एधध्वम् बना।
एध् अ इट् आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२) से आट् आगम होकर
एध् आट् इट् टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से एत्व
एध आ ए एत ऐ (३।४।९३) से ए को ऐ होकर
एध आ ऐ आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि होकर एधै बना।

एध् अ आ वहि=पूर्ववत् एधावहै, एधामहै बना।
पच् के रूप भी पचताम् पचेताम् आदि इसी प्रकार बनेंगे।

७—लङ्

एध अनद्यतने लङ् आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगाकर

एध् शप् त आडजादीनाम् (६।४।७२) से लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व० का

अपवाद अजादि अङ्ग को आट् आगम होकर
आट् एध त आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर
ऐधत रूप बना।
आट् एध आताम् यहां भी पूर्ववत् आतो ङितः, लोपो व्योर्वलि आदि सूत्र लगकर
आ एध इ ताम्=ऐधेताम् बना।

आगे ऐधन्त। ऐधथाः ऐधेथाम् ऐधध्वम्। ऐधे ऐधावहि ऐधामहि रूप बनेंगे। सर्वत्र आटश्च से 'आ' और 'ए' को वृद्धि एकादेश हो जायेगा।

पच् धातु को अट् आगम (६।४।७१ से) होकर अपचत अपचेताम् अपचन्त। अपचथाः अपचेथाम् अपचध्वम्। अपचे अपचावहि अपचामहि रूप बने।

८—(क) विधिलिङ्

एध् लिङ् पूर्ववत् लि होकर तथा पूर्ववत् शप् त होकर लिङः सीयुट् (३।४।१०२), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)
एध् शप् सीयुट् त सुट् तिथोः (३।४।१०७) लगकर
एध् शप् सीयुट् सुट् त=एध् अ सीय् स् त, लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९) से दोनों सकारों का लोप होकर
एध ईय् त आद् गुणः (६।१।८४), तथा लोपो व्योर्वलि लगकर
एधेत बना।
एध् अ ईय् आताम् पूर्ववत् बनकर, आद् गुणः (६।१।८४) लगकर
एधेयाताम् बना।
एध् ईय् झ झस्य रन् (३।४।१०५) से झ को रन्, तथा लोपो व्यो० आदि लगकर एधेरन् बना।

आगे एध् अ ईय् थास्=एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम् (य् लोप पूर्ववत् होकर) रूप पूर्ववत् बनेंगे।
एध् अ ईय् इट् इटोऽत् (३।४।१०६) से इट् को अत् होकर
एधेय् अ =एधेय बना।

आगे एध ईय् वहि=एधेवहि एधेमहि रूप बनेंगे।

इसी प्रकार पच् से पचेत पचेयाताम् पचेरन् आदि रूप जानें।

८—(ख) आशीर्लिङ्

एध् लिङ् पूर्ववत् सीयुट् सुट् आदि होकर

एध् सीयुट् सुट् त लिङाशिषि (३।४।११६) से आशीर्लिङ् के आर्धधातुक होने से शप् प्रत्यय नहीं हुआ।

एध् सीय् स् त आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५), आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९)

एध् इट् षीय् स् त् लोपो व्योर्वलि, तथा पुनः षत्वादि होकर

एधिषीष्त ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) = एधिषीष्ट।

आगे आर्धधातुक लकार होने से लिङः सलोपो० से सकार लोप नहीं हुआ। सो एधिषीयास्ताम् एधिषीरन् रूप बने। थास् में एध् इ सीयुट् सुट् थास्, ष्टुत्वादि होकर एधिषीष्ठाः बना। आगे एधिषीयास्थाम् एधिषीध्वम्। एधिषीय (इटोऽत्) होकर, एधिषीवहि एधिषीमहि रूप पूर्ववत् बनेंगे।

पच् के पक्षीष्ट, पक्षीयास्ताम् आदि रूप जानें।

९-लुङ्

एध पूर्ववत् लुङ् (३।२।११०), च्लि लुङि, च्लेः सिच् (३।१।४३,४४)

एध् सिच् लुङ् आडजादीनाम् (६।४।७२) आदि सब पूर्ववत् लगकर

आट् एध् इट् स् त = आ एध् इ स् त, आदेशप्रत्यययोः से षत्व, तथा ष्टुना-ष्टुः (८।४।४०) से त को ट होकर

आ एधिष् ट आटश्च से वृद्धि एकादेश = ऐधिष्ट बना।

ऐधिस् आताम् = ऐधिषाताम्।

ऐधिस् झ आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से झ को अत होकर

ऐधिस् अत = ऐधिषत बना।

ऐधिस् थास् ष्टुत्व होकर ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्।

ऐधिस् ध्वम् धि च (८।२।२५) से सकार लोप = ऐधिध्वम् बना।

आगे ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि रूप बनेंगे।

पच् धातु से अट् पच् स् त, चोः कुः से कुत्व, तथा सिच् के स् का झलो झलि (८।२।२६) से लोप होकर अपक्त, अपक्षाताम्, अपक्षत। अपक्थाः, अपक्षाथाम्, अपग्ध्वम्। अपक्षि, अपक्ष्वहि, अपक्ष्महि यह रूप बनेंगे।

१०-लृङ्

एध् लृङ् पूर्ववत् स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३) आदि लगकर

एध् स्य त आडजादीनाम्, आर्धधातुकस्येड् वलादेः, आद्यन्तौ टकितौ

आट् एध् इट् स्य त आटश्च, आदेशप्रत्यययोः लगकर ऐधिष्यत बना।

आट् एध् इट् स्य आताम् आतो ङितः (७।२।८१) लगकर पूर्ववत् ऐधिष्येताम् ।

आगे ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः ऐधिष्येथाम् ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये ऐधिष्यावहि ऐधिष्यामहि आदि रूप बनेंगे ।

पच् धातु मे अपक्ष्यत अपक्ष्येताम् अपक्ष्यन्त । अपक्ष्यथाः अपक्ष्येथाम् अपक्ष्यध्वम् । अपक्ष्ये अपक्ष्यावहि अपक्ष्यामहि रूप बनेंगे ।[1]

विशेष

इस प्रकरण को समझ लेने पर आगे धातुओं के रूप गणों में आख्यातिक[2] (वैदिक यन्त्रालय अजमेर मुद्रित) से सहायता लेकर स्वयं भी बना सकते हैं । सूत्रों को मूल अष्टाध्यायी पर से समझने का यत्न करना चाहिये, जो अब कठिन नहीं है । संस्कृत में लिखने के लिये दसों गणों के दसों लकार दो मास में तैयार किये जा सकते हैं ।।

---

१. यह ध्यान रहे कि आरम्भिक पठनार्थियों की दृष्टि से भू एध की इन दस लकारों की सिद्धयां दर्शाई हैं । इनमें शंकासमाधान द्वारा अधिक भी सूत्र लग सकते हैं । परन्तु यह द्वितीयावृत्ति का विषय होने से आरम्भिक छात्रों के लिये बहुत कठि होने के कारण लग सकनेवाले सब सूत्र वार्त्तिकादि जानकर ही हमने नहीं दर्शाये हैं । धातु का विषय विशेषतया पढ़ने पर उन्हें इस विषय का भी बोध हो जावेगा । अभी समझाने में अति कठिन होने के कारण ही नहीं दिखाया ।

२. अब इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग छप गया है । उस में भी आख्यात प्रक्रिया बताई गई है । अतः सरलतम विधि से पढ़नेवालों को द्वितीय भाग का आश्रय लेना चहिये । यु० मी०

इकतालीसवां पाठ

प्रक्रियायें

व्याकरण में १० प्रक्रियायें होती हैं—

१—णिजन्त २—सनन्त ३—यङन्त ४—यङ्लुगन्त ५—कर्तृवाच्य ६—कर्मवाच्य ७—भाववाच्य ८—कर्मकर्त्ता ९—प्रत्ययमाला १०—नामधातु।

इनमें से कुछ प्रक्रियायें तो लगभग सब धातुओं (२०००) से बनती हैं, और कुछ विशेष-विशेष धातुओं से बनती हैं। इनमें णिच्=णिजन्त प्रक्रिया की सिद्धि तो चुरादि में 'चोरयति' (१४वें पाठ)के समान सब समझ लेनी चाहिये। सो आगे अधिक काम में आनेवाले सनन्त और यङन्त के सूत्र बताते हैं।

सनन्त-प्रक्रिया

सनन्त=पठितुमिच्छति न कहा, **पिपठिषति** कह दिया। सो इसकी सिद्धि में धातु को द्विर्वचन होता है, और दो बार धातुसंज्ञा होती है।

पठ् इस की **भूवादयो धातवः** (१।३।१) से धातु संज्ञा होकर **धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा** (३।१।७) से सन् प्रत्यय होता है। सूत्र का पदच्छेदादि—धातोः ५।१ कर्मणः ६।१ समानकर्तृकात् ५।१ इच्छायाम् ७।१ वा अ०॥ अर्थ—**कर्मणः समानकर्तृकाद् इच्छायां वा धातोः सन् प्रत्ययः परश्च (भवति)** =कर्म के (अवयव) समानकर्तृक धातु से इच्छा अर्थ में विकल्प से सन् प्रत्यय होता है,और वह परे होता है। जैसे—'पठितुमिच्छति' में 'पठितुम्' इच्छति का कर्म है। सो इस कर्म का अवयव है पठ् धातु, समानकर्तृक (अर्थात् 'पठितु' और 'इच्छति' का एक ही कर्त्ता है), इस से इच्छा अर्थ में विकल्प करके सन् प्रत्यय हो जाता है। (दूसरे पक्ष में 'पठितु-मिच्छति' ऐसा वाक्य भी रहता है।) पठ् सन्, **आर्धधातुकं शेषः** (३।४।११४) से सन् की आर्धधातुक संज्ञा होकर **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (७।२।३५) से इट्, **आद्यन्तौ टकितौ** (१।१।४५) से आदि में होकर—पठ् इट् सन्, (१।३।३,९) से इत् संज्ञा और लोप होकर पठ् इ स, **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२) से सनादि (प्रत्यय) जिसके अन्त में हों, उसकी धातु संज्ञा

होती है । इससे 'पठ् इ स' की पुनः धातु संज्ञा होकर **सन्यङोः** (६।१।६) यहां **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१), तथा **अजादेर्द्वितीयस्य** (६।१।२) की, तथा **लिटि धातोरनभ्यासस्य** (६।१।८) से 'धातोः' की अनुवृत्ति है । सूत्र का अर्थ बना—**सन्यङन्तस्य धातोः प्रथमस्य एकाचः द्वे (भवतः) अजादेर्द्वितीयस्य**=सनन्त और यङन्त धातु के प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होता है, और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को । इससे प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होकर पठ् पठ् इ स । **पूर्वोऽभ्यासः** (६।१।४) **हलादि शेषः** (७।४।६०) होकर प पठ् इ स, **सन्यतः** (७।४।७६) से अभ्यास के अकार को इकार होकर पि पठ् इ स बना । अत्र **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५६) स ष होकर—पिपठिष बना । इस को धातु संज्ञा होने से पूर्ववत् **धातोः, वर्तमाने लट्** आदि सब सूत्र लगकर पिपठिष शप् तिप् =पिपठिष अ ति, **अतो गुणे** (६।१।६४) से पूर्व पर के स्थान में पररूप अ होकर—पिपठिषति (=पढ़ना चाहता है) रूप बना । आगे सब रूप 'पठति के समान ही चलते हैं । यह हमने सेट् धातु का रूप बताया ।

पक्तुमिच्छति=पकाना चाहता है । पच् धातु अनिट् है, इसमें इट् (७।२।३५) से प्राप्त होता है । सो **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (७।२।१०) इस सूत्र से उसका निषेध हो जाता है । पिपच् स में **चोः कुः** (८।२।३०) से कुत्व, और **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५६) से षत्व होकर पिपक्ष धातु बनी । उससे पूर्ववत् तिबादि होकर पिपक्ष शप् तिप्=पिपक्षति बना । शेष सूत्र पूर्ववत् लगते हैं ।

यङन्त-प्रक्रिया

'पुनः पुनः पठति'=बार-बार पढ़ता है,इस अर्थ में **पापठ्यते** ऐसा प्रयोग बनता है । इसमें पठ् **भूवादयो धातवः** (१।३।१) से धातु संज्ञा होकर **धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्** (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय होता है । (धातोः ५।१, एकाचः ५।१, हलादेः ५।१, क्रियासमभिहारे ७।१, यङ् १।१) अर्थ बना - **एकाचः हलादेः धातोः क्रियासमभिहारे यङ् प्रत्ययः परश्च (भवति)**=(एकाचः) एक अच्वाले (हलादेः) जिसके आदि में हल् हो, ऐसे (धातोः) धातु से (क्रियासमभिहारे) क्रिया के बार-बार होने अर्थ में (यङ्) यङ् प्रत्यय होता है और वह परे होता है । सो 'पठ् यङ्' बना । **हलन्त्यम्** से इत् संज्ञा, और लोप होकर 'पठ् य' रहा । इसकी **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२) से पुनः धातु संज्ञा होकर **सन्यङोः** (६।१।६) से प्रथम एकाच को द्वित्व होकर पठ् पठ् य बना । **पूर्वोऽभ्यासः** (६।१।४),

हलादिः शेषः (७।४।६०) से पपठ् य, **दीर्घोऽकितः** (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ हो(दीर्घः १।१।। अकितः ६।१।।) **अभ्यासस्य** की (५८ से),तथा **यङ्लुकोः** की (८२ से) अनुवृत्ति आकर सूत्र का अर्थ बना **यङ्लुकोः अकितः अभ्यासस्य दीर्घः भवति**=यङ् वा यङ् लुक् परे हो, तो अकित् अभ्यास को दीर्घ हो। सो 'पापठ्य बना। **धातोः, वर्त्तमाने लट्** आदि सूत्र पूर्ववत् एधते के समान सब लगते हैं। पापठ्य लट्, यङ् के ङित् होने से **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२)—(धातुपाठ में पढ़ी हुई) अनुदात्तेत् धातुओं तथा ङित् (जिनका ङ् इत् हो उन) से आत्मनेपद होता है। इससे आत्मनेपद होकर 'तिप्' न होकर 'त' हो जाता है। पापठ्य शप् त, (६।१।९४) से पररूप एकादेश होकर यहाँ **टित आत्मनेपदानां टेरे** (३।४।७९) से त की टि=अ को ए होकर **पापठ्यते** बना। यह ध्यान रखना चाहिये कि अजादि धातुओं से यङ् नहीं होता।

नामधातु क्यच्-क्यङ्

आत्मनः पुत्रमिच्छति, इस अर्थ में **पुत्रीयति** बनता है। यहां **सुप आत्मनः क्यच्** (३।१।८) से पुत्र सुबन्त से क्यच् प्रत्यय आता है। (सुपः ५।१, आत्मनः ६।१, क्यच् १।१) इसमें **कर्मणः इच्छायां वा** इन तीनों की अनुवृत्ति ऊपर के (७) सूत्र से आती है। अर्थ बना—**कर्मणः आत्मनः सुपः इच्छायां वा क्यच् प्रत्ययः परश्च (भवति)**=कर्म का (अवयव) जो आत्म-सम्बन्धी सुबन्त उससे इच्छा अर्थ में विकल्प करके क्यच् प्रत्यय होता है। आत्मनः पुत्रमिच्छति=अपने पुत्र की इच्छा करता है, इस अर्थ में=पुत्रीयति बनता है। पुत्र अम्, से **सुप आत्मनः क्यच्** (३।१।८) से क्यच् होकर पुत्र+अम्+क्यच्, यहां **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से सुप् का **लुक्** होकर पुत्र क्यच्=पुत्र य। **क्यचि च** (७।४।३३) में ३२ सूत्र से **'अस्य'** की, ३१ से **'ई'** की, तथा **'अङ्गस्य'** की अनुवृत्ति और अधिकार आता है। सूत्र का अर्थ बना—**अस्य अङ्गस्य ई क्यचि च**=अकारान्त अङ्ग को ईकार होता है क्यच् परे रहने पर। पुत्री य की धातु संज्ञा होने से आगे पूर्ववत् पुत्रीय शप् तिप् ६।१।९४ से पूर्वरूप होकर **पुत्रीयति** बन जाता है।

क्यङ् में—पण्डित इव आचरति=पण्डित जैसा आचरण करता है। यहां **कर्तुः क्यङ् सलोपश्च** (३।१।११) में ऊपर ८ से **'सुपः'** और १० सूत्र से **'आचारे'** और **'उपमानात्'** की अनुवृत्ति आती है। (कर्तुः ५।१, क्यङ् १।१, सलोपः १।१, च अ०)। अर्थ बना—**उपमानात् कर्तुः**=उपमानवाची

कर्त्ता सुपः=सुबन्त से **आचारे**=आचार अर्थ में **क्यङ्**=क्यङ् प्रत्यय होता है,और स का लोप भी हो जाता है(जहां स् हो वहां)। पण्डित इव आचरति =पण्डित+सु+क्यङ्, पूर्ववत् **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२)से धातु संज्ञा और २।४।८१ से सुप् का लुक् होकर—पण्डित+य, यहां **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (७।४।२५) से दीर्घ होता है। ऊपर(७।४।२२)से यि और क्ङिति की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ बना—**अकृत्सार्वधातुकयोः यि क्ङिति अङ्गस्य दीर्घः** (भवति)=अकृत् (कृत्भिन्न) और असार्वधातुक (सार्वधातुक भिन्न) कित् ङित् यकार परे रहने पर अङ्ग को दीर्घ हो जाता है। अब 'पण्डिताय' की धातुसंज्ञा होने से **धातोः, वर्तमाने लट्** आदि पूर्ववत् होकर **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२) से आत्मनेपद होकर **'पण्डितायते'** बनता है। पण्डितायते देवदत्तः=देवदत्त पण्डितों जैसा आचरण करता है। पण्डित तो नहीं है, परन्तु पण्डित बनता है। ऐसा आचरण =व्यवहार करता है कि जैसे पण्डित करते हैं। 'पोथा बड़ा सोटा बड़ा, पण्डिता पगड़ा बड़ा'। पण्डितायते का अर्थ अब तो समझ में आ गया न? बुद्धिपूर्वक व्यवहार में भी पण्डितायते ही बनता है।।

—:०:—

बयालीसवां पाठ

भाव-कर्म-कर्तृ प्रक्रिया (लकार)

जब कर्त्ता और क्रिया का अधिकरण (अभिधेय वा वाच्य) एक (समान) हो, तो वह क्रिया **'कर्तृवाच्य'** कहाती है। जब कर्म और क्रिया का अधिकरण (अभिधेय) एक (समान) हो, तो वह **'कर्मवाच्य'** क्रिया कहाती है। जब भाव (धात्वर्थ) ही क्रिया का अधिकरण (अभिधेय) हो, तो वह **'भाववाच्य'** क्रिया कहलाती है।

कर्तृवाच्य

तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा (महाभाष्य २।३।४६ वा०), अथवा **क्रियासमानाधिकरणे प्रथमा**, इन दोनों का एक ही अभिप्राय है। तिङ् या क्रिया के साथ जिस (कर्त्ता या कर्म) का समानाधिकरण होगा, उसमें प्रथमा विभक्ति होगी। 'देवदत्तः वेदं पठति' में पठति और देवदत्त का अधिकरण (अभिधेय) एक ही है, अतः यह कर्तृवाच्य क्रिया है। इसलिए कर्त्ता में प्रथमा विभक्ति हो गई। क्रिया ने कर्त्ता देवदत्त को कहा, इसलिये देवदत्त =अभिहित=कथित=उक्त है। सो अभिहित में प्रथमा आती है। क्योंकि पठति क्रिया ने देवदत्त कर्त्ता को कहा, इसलिए वह अभिहित हुआ। उधर कर्म 'वेदम्' को 'पठति' ने नहीं कहा, अतः वह क्रिया से अभिहित=कथित =उक्त नही हुआ। सो यह न अभिहित=अनभिहित कर्म है। अनभिहित कर्म में **कर्मणि द्वितीया** (२।३।२)से द्वितीया विभक्ति होती है। क्योंकि उसमें **'अनभिहिते'** (२।३।१)का अधिकार है। अतः सूत्र का अर्थ बना—**अनभिहिते कर्मणि द्वितीया (भवति)**=अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसलिए 'देवदत्तः वेदं पठति' में 'वेदम्' कर्म में द्वितीया विभक्ति हुई।

कर्मवाच्य

अब 'देवदत्तः वेदं पठति' इस कर्तृवाच्य को हम कर्मवाच्य बनाना चाहते हैं। कर्मवाच्य तब बनेगा जब क्रिया कर्म को कहेगी, या कर्म और क्रिया का समान (एक) अधिकरण होगा। **जब क्रिया ने कर्म को कहा, अर्थात् कर्म अभिहित=कथित=उक्त हो गया, तब कर्म में प्रथमा विभक्ति हो जाती है।**

क्योंकि **'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा'** या **'अभिहिते प्रथमा'** का एक ही अर्थ है। **वेदः पठ्यते देवदत्तेन,** यह कर्मवाच्य क्रिया बन गई। वेद में प्रथमा तो उपर्युक्त रीति से हो गई। देवदत्त में तृतीया **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (२।३। १८) से होती है। सूत्र में **अनभिहिते** का अधिकार होने से अर्थ बना— **अनभिहितयोः कर्तृकरणयोः** तृतीया (भवति)=अनभिहित कर्त्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है। सो यहां देवदत्त को क्रिया ने नहीं कहा, या देवदत्त कर्त्ता का क्रिया के साथ समानाधिकरण नहीं है, कर्म के साथ है, तो कर्ता अनभिहित हो गया। सो अनभिहित कर्त्ता में तृतीया विभक्ति हो गई। वेदः पठ्यते देवदत्तेन=देवदत्त के द्वारा वेद पढ़ा जाता है। यहां 'पढ़ा जाता है' और 'वेद' इन दोनों का अधिकरण(वा अभिधेय) एक है ही।

अब इसमें रही 'पठ्यते' की सिद्धि, सो भाववाच्य और कर्मवाच्य में **चार बातें और विशेष होती हैं।** (१) **आत्मनेपद** (२) **यक्** (३) **चिण्** (४) **चिण्वद्भाव**। सो पठ्+यक्+त=**पठ्यते** बना। इसकी सिद्धि निम्न प्रकार है।

पठ् की **भूवादयो धातवः** (१।३।१) से धातु संज्ञा होकर, **धातोः** (३।१।९१) से धातु का अधिकार, **वर्तमाने लट्** (३।२।१२३), **प्रत्ययः परश्च** से 'पठ् लट्' इत् संज्ञा होकर 'पठ् ल्'। **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** (३।४।६९) से लकार कर्म में होकर **लस्य** (३।४।७७), **तिप्तस्झि ···महिङ्** (३।४।७८), **लः परस्मैपदम्** (१।४।९८), **तङानावात्मनेपदम्** (१।४।९९),तथा **भावकर्मणोः**(१।३।१३)भाव और कर्म में धातु से आत्मनेपद हो। इससे आत्मनेपद होकर **तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः** (१।४।१००), **शेषे प्रथमः** (१।४।१०७), **तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः** (१।४।१०१), **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** (१।४।२२)से 'पठ् त' बना। **सार्वधातुके यक्** (३।१।६७)में भावकर्मणोः की अनुवृत्ति आकर अर्थ बना— **धातोः भावकर्मणोः सार्वधातुके यक् प्रत्ययः परश्च** (भवति)=धातु से यक् प्रत्यय होता है, भाव और कर्मवाची सार्वधातुक प्रत्यय यदि परे हो तो। 'त' की **तिङशित् सार्वधातुकम्** (३।४।११३) से सार्वधातुक संज्ञा है। अतः उस के परे रहने पर 'पठ् यक् त'='पठ् य त' बना। **टित आत्मनेपदानां टेरे** (३।४।७९) से त की टि को ए होकर 'पठ्यते' बन गया।

सो हमने 'वेदः पठ्यते देवदत्तेन' कर्मवाच्य क्रिया के इस वाक्य के तीनों शब्दों में प्रथमा, तृतीया, आत्मनेपद, और यक् कैसे हुए, यह सब दर्शा दिया।

कर्मवाच्य में वचन-व्यवस्था

वदः पठ्यते देवदत्तेन, यहां यह तो समझ में आ गया कि कर्म में तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा (२।३।४६ महाभाष्य के) वचन से प्रथमा विभक्ति होती है, और कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से अनभिहित कर्त्ता देवदत्त में तृतीया हो जाती है। भाव और कर्म में यक् और आत्मनेपद भी समझ में आ गया। अब हमें यह समझना है कि वचन की क्या व्यवस्था है?

कर्तृवाच्य — कर्मवाच्य

देवदत्तः वेदं पठति=वेदः पठ्यते देवदत्तेन।
देवदत्तः वेदौ पठति=वेदौ पठ्येते देवदत्तेन।
देवदत्तः वेदान् पठति=वेदाः पठ्यन्ते देवदत्तेन ॥१॥
देवदत्तयज्ञदत्तौ वेदं पठतः=वेदः पठ्यते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्।
देवदत्तयज्ञदत्तौ वेदौ पठतः=वेदौ पठ्येते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्।
देवदत्तयज्ञदत्तौ वेदान् पठतः=वेदाः पठ्यन्ते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्॥२॥
देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः वेदं पठन्ति=(कर्तृवाच्य)।
वेदः पठ्यते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः (कर्मवाच्य)।
देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः वेदौ पठन्ति=(कर्तृवाच्य)।
वेदौ पठ्येते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः (कर्मवाच्य)।
देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः वेदान् पठन्ति=(कर्तृवाच्य)।
वेदाः पठ्यन्ते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः (कर्मवाच्य)॥३॥

कर्मवाच्य में क्रिया कर्म के अनुसार रहती है। इसलिये कर्म का जो पुरुष होगा, वही क्रिया का (तिङन्त में) भी रहेगा। वचन भी कर्म के अनुसार ही होगा। सो जब कर्म प्रथम पुरुष का न होकर मध्यम पुरुष तथा उत्तम पुरुष होगा, तब क्रिया में भी मध्यम पुरुष तथा उत्तम पुरुष होगा। यथा—

त्वं दृश्यसे मया। युवां दृश्येथे मया। यूयं दृश्यध्वे मया। त्वया अहं दृश्ये। त्वयाऽऽवां दृश्यावहे। त्वया वयं दृश्यामहे।

इन वाक्यों में पाठक देखें कि कर्मवाच्य क्रिया है। क्रिया का कर्म के साथ समानाधिकरण है। सो जो वचन और पुरुष कर्म का होगा, वहां वचन और पुरुष क्रिया वा तिङन्त का भी होगा—वेदः पठ्यते, वेदौ पठ्येते, वेदाः पठ्यन्ते होगा। देवदत्तेन देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्, देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः तीनों के वचन में कोई भेद नहीं। क्रिया का वचन चाहे बदलता रहे।

भाववाच्य

भाव धात्वर्थ का नाम है। जब भाव (=धत्वार्थ-मात्र) ही क्रिया के द्वारा कहा जाता है, कर्त्ता कर्म नहीं कहे जाते, तब वह क्रिया **भाववाच्य** कहलाती है। **अकर्मक धातुओं की ही क्रिया भाववाच्य होती है। सकर्मक धातुओं की क्रिया कर्मवाच्य होती है।** अकर्मक धातुओं का कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं होने से उनकी क्रिया कर्मवाच्य नहीं होती। जैसे आस् अकर्मक धातु है,इसकी कर्तृवाच्य क्रिया 'आस्ते देवदत्तः' है। इसकी भाववाच्य क्रिया **'आस्यते देवदत्तेन'** यह बनती है। इसी प्रकार 'हस्' अकर्मक धातु का 'हसति' देवदत्तः' कर्त्ता में, और **'हस्यते देवदत्तेन'** यह भाववाच्य क्रिया में बनता है।

यतः भाव=धात्वर्थ एक ही होता है, इसलिये भाववाच्य क्रिया में सदा एकवचन और प्रथम पुरुष ही रहता है। कर्त्ता चाहे एक हो, दो हों या बहुत हों। जैसे—देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः हस्यते=देवदत्त यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के द्वारा हंसा जाता है।

यहां तक हमने लकारों की कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, और भाववाच्य क्रियायें बताई है। अब हम कर्तृवाच्य कर्मवाच्य और भाववाच्य प्रत्यय बताते हैं।।

तैंतालीसवां पाठ

कर्तृवाच्य कर्मवाच्य और भाववाच्य कृत् प्रत्यय

यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस प्रकार लट् लिङ् आदि लकार कर्त्ता कर्म और भाव तीनों में होते हैं, इसी प्रकार कृत् प्रत्यय भी इन तीनों में कर्त्ता में, कर्म में और भाव में होते हैं। सो अब हम सोदाहरण बतायेंगे कि कौन-कौन प्रत्यय किस-किस में होता है।

धातु से तीन प्रकार के प्रत्यय आते हैं, यह हम पूर्व बता चुके हैं—(१) तिङ् (२) कृत् (३) कृत्य (कृदन्तर्गत)। सो इनके सूत्र लिखते हैं—

(१) **कर्तरि कृत् (३।४।६७)** यहां धातोः,प्रत्ययः परश्च का अधिकार है। धातोः कृत् प्रत्ययः कर्त्तरि परश्च भवति=धातोः=धातुमात्र (२०००) से कृत् प्रत्यय कर्त्ता में होते हैं। इस नियम से कृत् प्र-यय सब के सब कर्त्ता में होते हैं। यह सामान्य नियम है।

(२) **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३।४।६९)** यहां ३।४।६७ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति, तथा 'धातोः' का अधिकार है। अर्थ बना—धातोः लः कर्मणि कर्त्तरि च (भवन्ति)—धातु से लकार कर्त्ता और कर्म में होते हैं,और अकर्मकेभ्यः भावे कर्त्तरि च(भवन्ति)अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता अर्थ में होते हैं (अर्थापत्ति से सकर्मक धातुओं से कर्त्ता और कर्म में होते हैं, यह अर्थ निकला)। इस सूत्र की व्याख्या हम कई स्थलों में कर चुके हैं।इस प्रकरण से इस सूत्र का सम्बन्ध समझना है,अतः पुनः लिखा है।

सो यहां सकर्मक और अकर्मक धातु की पहचान भी समझ लेनी चाहिये। जिस धातु के साथ कर्म का सम्बन्ध होता है, वह सकर्मक है। जिसके साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं होता, वह अकर्मक है। पठति, खादति सकर्मक हैं, क्योंकि उनके साथ वेद या फल कर्म का सम्बन्ध है। 'देवदत्तः खादति' में फलम् आदि कर्म लुप्त है, सो यह क्रिया सकर्मक ही कहलायेगी।

'देवदत्तः आस्ते'; 'देवदत्तः हसति'=देवदत्त बैठ रहा है, या हंस रहा है। इसमें कर्म का सम्बन्ध नहीं है, और नाही हो सकता है। अतः ये दोनों धातु अकर्मक हैं।

सो दस लकार सकर्मक धातुओं मे कर्त्ता और कर्म में होते हैं, और अकर्मक धातुओं से कर्त्ता और भाव में होते हैं।

(३) तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०)—कृत्य प्रत्यय क्त और खलर्थ (खल् प्रत्यय के अर्थ में होनेवाले) ये तयोरेव=कर्म और भाव में ही होते हैं। अर्थात् सकमंक धातुओं से कर्म में और अकर्मक धातुओं से भाव में होते हैं। यहां यह ध्यान में रखने योग्य है कि कृत्य भी कृत् प्रत्ययों के अन्तर्गत ही हैं।

कृत्य-प्रत्यय—तव्य, अनीयर, यत्, ण्यत्

अब पठ्, पच्, चि, नो धातुओं से तव्य आदि के रूप बताते हैं—

पठितव्यः वेदः देवदत्तेन=देवदत्त के द्वारा वेद पढ़ा जाना चाहिये। यहां 'देवदत्तः वेदं पठति'=इस क्रिया में 'वेद' पठति क्रिया का 'कर्म' है। पठति क्रिया सकमक है, अतः इससे तव्य प्रत्यय कर्म में आवेगा। अर्थात् **तव्य (कृत्य प्रत्यय) का वेद कर्म के साथ** समानाधिकरण है। अतः 'वेदः पठितव्यः देवदत्तेन' में वेद कर्म का कृत्य प्रत्यय तव्य के साथ समानाधिकरण है। इसी से यह तव्य प्रत्यय कर्म में है, ऐसा कहा जायेगा। अत एव वेदः में प्रथमा विभक्ति है। यहां पठन क्रिया का कर्त्ता देवदत्त अनभिहित है। अत एव उसमें तृतीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार **पक्तव्यः ओदनः देवदत्तेन, नेतव्यः समाजः** देवदत्तेन इत्यादि। **अब भाव में—आस्** धातु अकर्मक है। इससे **आसितव्यं** देवदत्तेन=देवदत्त के द्वारा बैठा जाना चाहिए।

क्त—भाव-कर्म में

क्त प्रत्यय भी इसी सूत्र के नियम से भाव और कर्म में होता है। कर्म में प्रत्यय होने पर उसके लिङ्ग वचन कर्म के लिङ्ग वचन के अनुसार होंगे। भाव में प्रत्यय होने पर नपुंसकलिङ्ग और एकवचन ही होगा।

देवदत्तः वेदं अपाठीत् का कर्म में=पठितः वेदः देवदत्तेन बना। यहां अपाठीत् क्रिया के कर्म 'वेद' का क्त प्रत्ययान्त के साथ समानाधिकरण है, अर्थात् यहां क्त के द्वारा कर्म अभिहित=कथित=उक्त है। सो वेद में प्रथमा हुई, और देवदत्त अनभिहित कर्त्ता में तृतीया विभक्ति हुई।

वेदः पठितः देवदत्तेन।
वेदौ पठितौ देवदत्तेन।
वेदाः पठिताः देवदत्तेन ॥१॥
वेदः पठितः देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्।
वेदौ पठितौ देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्।
वेदाः पठिताः देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ॥२॥

वेदः पठितः देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।
वेदौ पठितौ देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।
वेदाः पठिताः देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ॥३॥
वेदः पठितः रमया ।
वेदौ पठितौ रमया ।
वेदाः पठिताः रमया ॥४॥
वेदः पठितः रमानिर्मलाभ्याम् ।
वेदौ पठितौ रमानिर्मलाभ्याम् ।
वेदाः पठिताः रमानिर्मलाभ्याम् ॥५॥
वेदः पठितः रमा-निर्मला-कान्ताभिः ।
वेदौ पठितौ रमा-निर्मला-कान्ताभिः ।
वेदाः पठिताः रमानिर्मलाकान्ताभिः ॥६॥

यहां वेद कर्म पुंल्लिङ्ग है, अतः क्तप्रत्ययान्त 'पठितः' भी पुंल्लिङ्ग ही है। वचन भी वेद कर्म के अनुसार ही है। अब नपुंसक लिङ्ग 'फल' कर्म का प्रयोग देखिये—

फलं खादितं देवदत्तेन ।
फले खादिते देवदत्तेन ।
फलानि खादितानि देवदत्तेन ॥७॥
फलं खादितं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ।
फले खादिते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ।
फलानि खादितानि देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ॥८॥
फलं खादितं देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।
फले खादिते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।
फलानि खादितानि देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ॥९॥
फलं खादितं सुवर्चया ।
फले खादितं सुवर्चासूनृताभ्याम् ।
फलं खादितं सुवर्चासूनृताविमलाभिः ॥१०॥
फले खादिते सुवर्चया ।
फले खादिते सुवर्चासूनृताभ्याम् ।
फले खादिते सुवर्चासूनृताविमलाभिः ॥११॥
फलानि खादितानि सुवर्चया ।
फलानि खादितानि सुवर्चासूनृताभ्याम् ।
फलानि खादितानि सुवर्चासूनृताविमलाभिः ॥१२॥

अब स्त्रीलिङ्ग 'पत्रिका' कर्म का प्रयोग देखिये—

पत्रिका पठिता देवदत्तेन ।
पत्रिके पठिते देवदत्तेन ।
पत्रिकाः पठिताः देवदत्तेन ।।१३।।
पत्रिका पठिता देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ।
पत्रिके पठिते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम ।
पत्रिकाः पठिताः देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ।।१४।।
पत्रिका पठिता देवदत्तयज्ञदत्ताविष्णुमित्रैः ।
पत्रिके पठिते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।
पत्रिकाः पठिताः देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।।१५।।
पत्रिका पठिता सुप्रभया ।
पत्रिका पठिता सुप्रभासुमेधाभ्याम् ।
पत्रिका पठिता सुप्रभासुमेधानिर्मलाभिः ।।१६।।
पत्रिके पठिते सुप्रभया ।
पत्रिके पठिते सुप्रभासुमेधाभ्याम् ।
पत्रिके पठिते सुप्रभासुमेधानिर्मलाभिः ।।१७।।
पत्रिकाः पठिताः सुप्रभया ।
पत्रिकाः पठिताः सुप्रभासुमेधाभ्याम् ।
पत्रिकाः पठिताः सुप्रभासुमेधानिर्मलाभिः ।।१८।।

यहां पाठक देखें,कर्म का जो भी लिङ्ग और वचन है,वही क्त-प्रत्ययान्त का भी है ।

क्तवतु—कर्त्ता में

आपने देखा कृत्प्रत्यय सामान्यतया कर्त्ता में होते हैं। आगे इनके अपवाद हैं । कृत्य,क्त,खलर्थ भाव कर्म में ही होते हैं। लकार सकर्मक धातुओं से कर्त्ता और कर्म में, तथा अकर्मकों से भाव और कर्त्ता में होते हैं । निष्ठा में दो प्रत्यय होते हैं—एक 'क्त', दूसरा 'क्तवतु' । सो क्त तो भाव और कर्म में होता है, जिसके उदाहरण हमने ऊपर दिये (कहीं-कहीं कर्त्ता में, कहीं अधिकरण में भी होता है, यह आगे बतावेंगे) । शेष रह गया 'क्तवतु' सो यह कर्तरि कृत् (३।४।६७) से कर्त्ता में होगा । इसके उदाहरण—

रणवीरः वेदं पठितवान् ।
रणवीरः वेदौ पठितवान् ।
रणवीरः वेदान् पठितवान् ।।१९।।

रणवीरविजयकुमारौ वेदं पठितवन्तौ ।
रणवीरविजयकुमारौ वेदौ पठितवन्तौ ।
रणवीरविजयकुमारौ वेदान् पठितवन्तौ ॥२०॥
रणवीरविजयकुमारसुबोधकुमाराः वेदं पठितवन्तः ।
रणवीरविजयकुमारसुबोधकुमाराः वेदौ पठितवन्तः ।
रणवीरविजयकुमारसुबोधकुमाराः वेदान् पठितवन्तः ॥२१॥
प्रज्ञा वेदं पठितवती ।
प्रज्ञा वेदौ पठितवती ।
प्रज्ञा वेदान् पठिवती ॥२२॥
प्रज्ञासुमेधे वेदं पठितवत्यौ ।
प्रज्ञासुमेधे वेदौ पठितवत्यौ ।
प्रज्ञासुमेधे वेदान् पठितवत्यौ ॥२३॥
प्रज्ञासुमेधानिर्मलाः वेदं पठितवत्यः ।
प्रज्ञासुमेधानिर्मलाः वेदौ पठितवत्यः ।
प्रज्ञासुमेधानिर्मलाः वेदान् पठितवत्यः ॥२४॥
उर्मिला फलं खादितवती ।
उर्मिला फले खादितवती ।
उर्मिला फलानि खादितवती ॥२५॥
उर्मिलायशोदे फलं खादितवत्यौ ।
उर्मिलायशोदे फले खादितवत्यौ ।
उर्मिलायशोदे फलानि खादितवत्यौ ॥२६॥
उर्मिलायशोदासरस्वत्यः फलं खादितवत्यः ।
उर्मिलायशोदासरस्वत्यः फले खादितवत्यः ।
उर्मिलायशोदासरस्वत्यः फलानि खादितवत्यः ॥२७॥

पाठक देखें यहां कर्त्ता का जो लिङ्ग और वचन है, 'क्तवतु' प्रत्ययान्त का भी वैसा ही लिङ्ग और वचन बदलता जाता है। यहां कर्म के 'अनभिहित' होने से उसमें कोई भेद नहीं होगा, चाहे एक हो या अनेक । सार यहां यह है कि यदि कर्तृवाच्य तिङन्त है, तो उसमें वचन, और यदि कर्तृवाच्य कृदन्त है, तो उसमें लिङ्गवचन और विभक्ति उस कर्त्ता के अनुसार होगी । तिङन्त में लिङ्ग भेद नहीं होता है । जैसे—'सुधा पठति' और वाचस्पतिः पठति', सुनीतिः आगच्छति, बृहस्पतिः आगच्छति, फलं पतति इनमें तिङन्त में कोई लिङ्गभेद नहीं होता । परन्तु कृदन्त शब्द में लिङ्ग भी कर्त्ता के समान ही होता है । यथा—सुधा फलं खादितवती, वाचस्पतिः फलं खादितवान्, ब्राह्मणकुलं फलं खादितवत् । यह कर्तृवाच्य क्रिया या कर्तृवाच्य

प्रत्ययों की व्यवस्था है ।

कर्मवाच्य कृदन्त में क्रिया के साथ जो कर्म होगा, उसमें निश्चय ही प्रथमा विभक्ति होगी । कर्म का वचन जो-जो बदलता जायगा, क्रिया (तिङन्त) का वचन भी वही-वही बदलता जायेगा । कर्म का लिङ्ग चाहे जो हो, क्रिया (तिङन्त) में कोई भेद न होगा । परन्तु कर्मवाच्य कृत्प्रत्ययों में इतना भेद है कि कर्म का जो लिङ्ग और वचन होगा, कृत्प्रत्ययान्तों का भी वही लिङ्ग और वचन होता जायेगा । कर्मवाच्य तिङन्त या प्रत्ययों में कर्त्ता का लिङ्ग वचन चाहे कुछ भी हो, क्रिया व प्रत्ययों के लिङ्ग और वचन में कुछ भी भेद नहीं पड़ता ।

भाववाच्य क्रिया या प्रत्ययों में भाव के एक होने से एकवचन ही रहेगा, और कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होगी । कर्त्ता का लिङ्ग वचन चाहे जो भी हो, उसका क्रिया और प्रत्ययों पर कोई प्रभाव न होगा । हां, भाववाच्य कृदन्त में नपुंसकलिङ्ग ही होता है, यह विशेष है । जैसे—

आसितव्यं देवदत्तेन ।

आसितव्यं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ।

आसितव्यं देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ॥२८॥

इनमें 'आसितव्यम्' में कोई भेद नहीं आयेगा । यहां कृत्प्रत्ययान्तों में भाववाच्य होने पर नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन ही होता है ।

अनुवाद करते समय साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कर्तृ-वाच्य हो या कर्मवाच्य हो, दोनों में जो विशेषण कर्त्ता के होंगे, उनके लिङ्ग वचन और विभक्ति कर्त्ता के अनुसार होंगे । और जो विशेषण कर्म के हैं, उनके लिङ्ग वचन और विभक्ति कर्म के लिङ्ग वचन और विभक्ति के अनुसार होंगे ।

इस प्रकरण में यह बात छात्र के हृदय में ठीक-ठीक बैठा देनी चाहिये । इसका अभ्यास अच्छी तरह कराना चाहिये । जो ३-४ दिन में ही हो जाता है, कुछ कठिन नहीं ।

इस प्रकरण में परस्पर उत्सर्ग-अपवाद सब समझ लेने चाहियें । अनुवाद में इसका बहुत उपयोग है । एक बार समझ लेने से अनुवाद में भूल न होगी । इनका अभ्यास अवश्य करना चाहिये । संस्कृत पर अधिकार होने के लिये यह मूलभूत प्रकरण है ॥

—:०:—

चवालीसवां पाठ

परस्मैपद और आत्मनेपद

अब परस्मैपद और आत्मनेपद के विषय में कुछ बताते हैं। धातुपाठ में सर्वत्र वर्गों के आदि में यह लिखा रहता है कि आगे (नीचे) पढ़ी हुई इतनी धातु परस्मैपदी हैं, इतनी आत्मनेपदी। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के अन्त में भी ऊपर पढ़ी गई धातुएं उदात्तेत् (परस्मैपदी) वा अनुदात्तेत् (आत्मनेपदी) हैं। साथ ही यह भी लिखा रहता है कि कौन धातु उदात्त=सेट् है, और कौन अनुदात्त=अनिट् है। धातुपाठ में जितने धातु (लगभग २०००) पढ़े हैं, वे सब या तो परस्मैपदी हैं या आत्मनेपदी, और कुछ धातु उभयपदी (परस्मैपदी और आत्मनेपदी भी) होते हैं। परस्मै का अर्थ है दूसरे के लिये, आत्मने का अर्थ है अपने लिये। यह बात उभयपदी धातुओं में ही घटती है, सब में नहीं। जैसे—पचति यजति का अर्थ है—दूसरे के लिये पकाता है, दूसरे के लिये यज्ञ करता है। पचते यजते का अर्थ है—अपने लिए पकाता है, अपने लिए यज्ञ करता है। जो किसी ने कुछ (दक्षिणादि) दिया, तो 'यजति' होना चाहिये। जो अपने (कल्याण के) लिए यज्ञ करता है, तो 'यजते' ऐसा प्रयोग सामान्यतया होगा, परन्तु यह सार्वत्रिक नियम नहीं। यदि ऐसा नियम होता, तो सब धातुओं से परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों पद होने चाहियें थे, सो है नहीं। पठ् धातु से 'पठति' और 'पठते' दोनों रूप होने चाहियें, पर एक 'पठति' ही होता हैं, 'पठते' नहीं हो सकता। क्योंकि आदि काल से ऐसा प्रयोग नहीं होता, ऋषि-मुनियों में से किसी ने प्रयोग नहीं किया। जैसे—गच्छति का अर्थ जाना है रोना नहीं, पचति का अर्थ पकाना है खाना नहीं। यह नियम आदि काल से चला आ रहा है, यही सर्वसम्मत व्यवस्था है। इसलिए पाणिनि मुनि ने अपने धातुपाठ में—'अथ तवर्गीयान्ता एधादयः कत्थान्ताः षट्त्रिंशदात्मनेभाषाः' ऐसा लिखा। अर्थात् यहां तवर्गीयान्त एध से कत्थ पर्य्यन्त छत्तीस आत्मनेपदी धातु हैं। 'अथातादयः शुन्धन्ता अष्टात्रिंशत् परस्मैभाषाः' अर्थात् 'अत्' से लेकर शुन्ध पर्य्यन्त ३८ परस्मैपदी धातु हैं, ऐसी व्यवस्था है। सो जो पठनार्थी जानना चाहें कि कौनसा धातु परस्मैपदी, कौनसा आत्मनेपदी है, वह धातुपाठ से जान लें। सुगमता से जानने के लिये रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ या

वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मुद्रित धातुपाठ[1] की सूची देख लेने से तत्काल पता लग जाता है कि कौन धातु परस्मैपदी है, कौन आत्मनेपदी। कुछ भी कठिनाई नहीं।

यदि कोई पूछे कि अमुक धातु परस्मैपदी या आत्मनेपदी क्यों है, तो पाणिनि पतञ्जलि आदि ऋषियों ने शब्द अर्थ सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है। सो यह सृष्टि के आदि से चला आ रहा है, और **यथापूर्वमकल्पयत्** पहिले भी ऐसा रहा, आगे भी ऐसा रहेगा। प्राचीन सब आर्ष ग्रन्थों का यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इसमें शंका को अवसर नहीं।

अब धातुपाठ से कौन धातु आत्मनेपदी है, यह जानकर आगे अष्टाध्यायी में जो १।३।१२ से ७१ तक सूत्र हैं, यह आत्मनेपद का प्रकरण है। इसमें बताया है कि किन-किन धातुओं से कब-कब आत्मनेपद हो जाता है। सो **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (१।३।१२)—जिनका अनुदात्त इत् होता है, और जिनका 'ङ' इत् होता है, उन धातुओं से आत्मनेपदम्=आत्मनेपद के तङ् (९ प्रत्यय) होते हैं। सो धातुपाठ में आत्मनेपदी धातु पढ़ ही दी गई हैं। यह आत्मनेपद का सामान्यविधायक सूत्र है। आगे धातुपाठ में परस्मैपदी पढ़ी हुई धातुओं से भी आत्मनेपद कब-कब होता है, यह प्रकरण है। सो धातुमात्र से **भावकर्मणोः** (१।३।१३) भाव और कर्म में आत्मनेपद हो जाता है। **नेर्विशः** (१।३।१७)—(नेः ५।१, विशः ५।१)—निपूर्वक विश (यह परस्मैपदी धातु है) से आत्मनेपद हो। आगे ७१ सूत्र तक ऐसा ही कहा गया है कि अमुक परस्मैपदी धातु से अमुक स्थिति होने पर आत्मनेपद हो जाता है।

परस्मैपद-प्रकरण

अब **शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्** (१।३।७८) से ९३ तक परस्मैपद का प्रकरण है। इसमें उपर्युक्त सूत्र का अर्थ यह है कि **शेषात्**=शेष (बची हुई (जो आत्मनेपद नहीं) धातुओं से **कर्त्तरि**=कर्त्ता में **परस्मैपदम्**=

---

१. संस्कृतभाषा के जाननेवालों को सुगमता के लिये अकारादि क्रम से एक 'संस्कृत धातुकोष' नाम का ग्रन्थ प्रकाशित किया है। इसमें प्रत्येक धातु का पाणिनि मुनि प्रदर्शित अर्थ (संस्कृत में), इत्संज्ञा आदि कार्य होकर बने धातु का प्रयोगार्ह रूप, गण का निर्देश, आत्मनेपद आदि का निर्देश, और लट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप देकर संस्कृत में लिखे धात्वर्थ का हिन्दी में अर्थ दिया है। साथ हो विशेष प्रयोग में आनेवाली धातुओं के साथ उपसर्ग सम्बन्ध होने पर जो अर्थान्तर हो जाता है, उसका भी निर्देश किया है। यह ग्रन्थ संस्कृत-पठनार्थियों के लिये बहुत उपयोगी है। यु० मी०

परस्मैपद हो जाता है। आगे **अनुपराभ्यां कृञः**(१।३।७९) यहां कृञ् धातु से ७२ सूत्र से उभयपद प्राप्त है। सो इमने कहा कि अनु और परा इससे परे कृञ् धातु से परस्मैपद ही हो। ऐसे ही आगे भी या तो उभयपद प्राप्त था या आत्मनेपदी ही धातु थी, यहां उनसे परस्मैपद कहा। सो यह आत्मनेपद और परस्मैपद दो पृथक्-पृथक् प्रकरण हैं। बीच में ७२ से ७८ तक उभयपद (दोनों) का प्रकरण है। **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** (१।३।७२) —**स्वरितञितः**=स्वरित जिनका इत् हो, तथा ञ् जिनका इत् हो जाता हो, उन से **कर्त्रभिप्राये क्रियाफले**=जो क्रिया का फल कर्त्ता के लिये हो, तब आत्मनेपद होता है (नहीं तो परस्मैपद होता है, यह अर्थापत्ति से निकला)। जैसे—**'यजते' 'कुरुते'**=का अर्थ है—अपने लिये यजन करता है, अपने लिये (कोई काम) करता है। सो पैंतीसवें छत्तीसवें पाठ में बता चुके हैं कि आत्मनेपद परस्मैपद में सिद्धि कैसे भिन्न-भिन्न होती है। बस इस प्रकरण को समझने योग्य मुख्य बात इतनी ही है। आगे इस प्रकरण को तीन चार दिन में पूरा समझा जा सकता है। कुछ भी कठिन नहीं। अर्थ उदाहरण मात्र समझ लेने हैं। सिद्धि तो जान ही ली है।

१ से ४४ पाठों का सिंहावलोकन

पाठ आरम्भ करने से पूर्व हमने महामुनि पाणिनि का महत्त्व—अष्टाध्यायी के पठन-पाठन की प्राचीनता—प्रक्रियाग्रन्थ—व्याकरण की सरलता का स्वानुभव—संस्कृत के अध्ययन से लोग भाग क्यों जाते हैं—अष्टाध्यायी क्रम की विशेषता—संस्कृत पढ़नेवालों की श्रेणियां—स्कूल में अष्टाध्यायी पद्धति का अनुभव—प्रौढ़ों का बिना रटे संस्कृत पढ़ने का सरल पाठ्यक्रम—प्रौढ़ श्रेणी में पठनार्थी की योग्यता—प्रौढ़ों में संस्कृत पढ़नेवालों के भेद—अध्यापक अधिक सरलता से कैसे तैयार हो सकते हैं—अध्यापक की आपेक्षिक योग्यता—अध्यापकों के लिए आवश्यक निर्देश—पठन-पाठन-सम्बन्धी निर्देश—लगभग डेढ़ मास (४४ दिन) का पाठ्यक्रम दर्शाया। इतने विषयों पर अध्यापक और पढ़नेवाले दोनों के लाभ की दृष्टि से उपर्युक्त सब लिखा गया है। आगे पाठों का आरम्भ होता है।

१ पाठः—कलम कलमादि उच्चारण के भेद। संस्कृत में चार प्रकार के शब्दों—नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात के भेद तथा उनका स्वरूप बताया गया। और नाम के भेद और विभक्ति बताई गई। कारक का स्वरूप और कारक ६ होते हैं, यह बताया गया।

२ पाठः—सूत्र वा लक्षण और उसके भेद। आख्यात के दश गण और दश लकार (भेद) सोदाहरण कहे गये।

३. पाठः—अधिकारसूत्र का लक्षण और भेद, तथा पन्द्रह मोटे मोटे अधिकारों का परिचय और चिह्न, और लाल पैंसिल से हो चिह्न लगाने की विधि, अधिकार और अनुवृत्ति का भेद।

४. पाठः—संज्ञासूत्रों के कुछ उदाहरण, शेष ६ प्रकार के सूत्रों के लक्षण और उदाहरण।

५. पाठः—वर्णोच्चारण,स्थान और प्रयत्नों का संक्षिप्त परिचय सवर्ण ज्ञान के लिए।

६. पाठः—सूत्रों के अर्थ करने का प्रकार—दस लकारों के दस सूत्रों का अर्थ,तथा अन्य कुछ सूत्रों का भी। सामान्यतया सूत्रों के अर्थ के सम्बन्ध में विशेष निर्देश, पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण—सिद्धि का स्वरूप-निर्देश। सूत्रों में विभक्ति देखकर अर्थ करने की विधि। ६ पाठों का सिंहावलोकन।

७. पाठः—सुगण् शब्द के रूप और उनकी सिद्धि, तथा २० प्रकार के हलन्त शब्दो के रूप स्वयं बना लेना, विना किसी की सहायता के।

८. पाठः—इत् संज्ञा का स्वरूप (१।३।२ से ९ तक), आठों सूत्र पूरी तरह समझ लेना।

९. पाठः—वाच् शब्द के सभी रूपों को पूरी सिद्धि, तथा सिद्धि लिखने का प्रकार। 'पुरुषः' शब्द की सिद्धि।

१०. पाठः—'पठति' की सिद्धि सब सूत्रों सहित।

११. पाठः—पठन्ति, पठामि, भवति, भवामि आदि की सिद्धि। तथा ७ से ११ पाठों का सिंहावलोकन।

१२. पाठः—दीव्यति, तुदति, सुनोति की सिद्धि।

१३. पाठः—तनोति, क्रीणाति, अस्ति, जुहोति, जुह्वति की सिद्धि।

१४. पाठः—रुणद्धि, रुन्द्धः, चोरयति आदि रूपों की सिद्धि।

११ से १४ दिनों के पाठों का सिंहावलोकन, तथा १४ दिन के पढ़े का महत्त्व। संस्कृत पुस्तक पढ़ाने के सम्बन्ध में संकेत।

१५. पाठः—कारक-विभक्ति के दस-बारह सूत्र।

१६. पाठः—कारक के शेष आठ सूत्र।

१७. पाठः—समास का लक्षण, उसके ४ भेद; और उनके लक्षण उदाहरण तथा समास की सिद्धि का प्रकार।

१८. पाठः—संज्ञा-प्रकरण। आरम्भ में इत् संज्ञा पर्य्यन्त ३० संज्ञा सूत्रों का व्याख्यान।

१९. पाठः—शेष ३५ संज्ञासूत्रों की व्याख्या। अन्त में कुछ अन्य संज्ञाओं का परिचय ।

२०. पाठः—परिभाषा के १३ सूत्रों की व्याख्या।

२१. पाठः—शेष ११ परिभाषासूत्रों की व्याख्या।

२२. पाठः—अच्-सन्धि के मुख्य ७ सूत्र।

२३. पाठः—अच्-सन्धि के शेष ९ सूत्र।

२४. पाठः—पुरुष शब्द के प्रथमा व. एकवचन से आगे सब रूपों की सिद्धि ।

२५. पाठः—हल्सन्धि तथा विसर्गसन्धि के मुख्य-मुख्य १०-१२ सूत्र।

२६. पाठः—कृदन्त प्रत्ययों में मुख्य विषय, गुण और गुण का निषेध तथा सेट्-अनिट् विचार।

२७-२९. पाठः—प्रत्ययमाला, कुछ धातुओं से पन्द्रह प्रत्ययों में रूप और उनकी सिद्धि। १५ से २९ पाठों का सिंहावलोकन।

३०. पाठः—स्त्री-प्रत्यय का प्रकरण, और उसके कुछ मुख्य-मुख्य सूत्रों पर प्रकाश। जैसे—अजा, ब्राह्मणी। यहां अज से अजा सवर्णदीर्घ होकर बनता है, और ब्राह्मण से ब्राह्मणी ब्राह्मण+ङीप् होकर **यस्येति च** (६।४।१४८) से अकार का लोप होकर बनता है।

३१. पाठः—तद्धित-प्रकरण, तत्सम्बन्धी कुछ सूत्रों पर प्रकाश। और कुछ शब्दों (भारतः, कात्सः, दाधिकम्, माथुरः, शालीयः) की सिद्धि पर विचार।

३२. पाठः—सुबन्त-प्रकरण (७।३।१०१ से ११२ तक)।

३३. पाठः—शेष सुबन्त का प्रकरण (७।३।११३—११९) तक, तथा सुबन्त का दूसरा प्रकरण (७।१।९-२४ तक) २५ सूत्र।

३४. पाठः—सुबन्त में धन, विद्या, अग्नि, वारि, मति, धेनु, कुमारी, सर्व इनकी सिद्धि ।

३५. पाठः—१० लकारों के सामान्य सूत्र (३।४।७७—१०१)।

३६. पाठः—शेष 'लस्य' प्रकरण (३।४।१०२—१०८), तथा द्वित्व प्रकरण (६।१।१ से ११ तक)। अभ्यास-प्रकरण (७।४।५८ से ७९ तक), तथा २९ से ३६ पाठों का सिंहावलोकन ।

३७. पाठः—तिङन्तसिद्धि—भू (लट् से लेट् तक)।

३८. पाठः—तिङन्तसिद्धि—भू (लोट् से लृङ् तक)।

३९. पाठः—आत्मनेपद एध—(लट् से लेट् तक)।

४०. पाठः—आत्मनेपद एध—(लोट् से लृङ् तक)।

४१. पाठः—प्रक्रियायें—सनन्त—पिपठिषति, यङन्त—पापठ्यते, क्यच प्रत्ययान्त—पुत्रीयति, क्यङ्प्रत्ययान्त—पण्डितायते की सिद्धि और सूत्रों के अर्थादि।

४२. पाठः—वाच्य—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य। तिङन्त और उनके लिङ्गवचन की व्यवस्था।

४३. पाठः—कर्तृवाच्य कर्मवाच्य और भाववाच्य कृत्प्रत्ययों की व्यवस्था। कर्तृवाच्य 'क्तवतु' पर विचार।

४४. पाठः—परस्मैपद और आत्मनेपद की सामान्य व्यवस्था, तथा सर्व प्रथम पाठों से पूर्व भूमिकारूप वक्तव्य के मुख्य निर्देश तथा १ से ४४ पाठों का सिंहावलोकन॥

शेष ६ मास का पाठ्यक्रम

तथा सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थवाले क्या करें?

आगे हमें अब ६ मास का शेष पाठ्यक्रम देना है। इस पर हमारा आज (१४-७-५५ को) दो प्रकार का विचार हो गया है। पहला विचार है कि सामान्य निर्देश कर दिया जावे। अध्यापक (जहां भी प्राप्त हों) प्रौढ़ पठनार्थियों को हमारे इस निर्देश के अनुसार पढ़ा देवें, जहां कठिनाई हो पूछ लेवें। दूसरा यह विचार है कि ६ मास के पूरे पाठ्यक्रम का एक-एक दिन का पाठ लिखा जावे। यह बात अभी (११-१-५८ को, तथा ६-६-६२) भी विचार कोटि में है। हमारे इन पाठों से पठनार्थी महानुभाव कहाँ तक लाभ उठाते हैं, यह जानकर इस विषय में अन्तिम निश्चय हो सकेगा।[1]

अभी दो विशेष प्रसङ्ग बीच में लाने आवश्यक हैं। एक तो उपर्युक्त ६ मास को शेष पाठ्यक्रम, और दूसरा ४४ दिन के पाठों के साथ संस्कृत

---

१. इस ग्रन्थ के लेखक आचार्यवर श्री जिज्ञासु जी के स्वर्गवास के पश्चात् श्री पं० धर्मानन्दजी के द्वारा विविध स्थानों पर लगाई जानेवाली श्रेणियों के पठनार्थियों द्वारा अगले पाठ्यक्रम की विशेष मांग होने पर ग्रन्थकार द्वारा दिये गये निर्देशानुसार इस ग्रन्थ का 'द्वितीय भाग' लिखकर हमने छपवाया है। [illegible]

की पुस्तक पढ़ाने का प्रसङ्ग, और उसकी पाठ्यक्रम-व्यवस्था। यह उपर्युक्त दोनों विषय लिखने पर ही हमारा उठाया हुआ यह प्रसङ्ग पूर्ण कहा जा सकेगा।

पर अब एक आवश्यक प्रसङ्ग यह भी है कि जो अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लें वा कर सकें, और आर्ष ग्रन्थों के प्रौढ़ विद्वान् बनना चाहते हैं, अर्थात् ६ मास के पीछे सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर शास्त्रों के रहस्य तक पहुंचना चाहते हैं, प्रभु ने जिन्हें ऐसी सुविधा सुभीता वा साधन प्रदान किये हैं, उनकी उन्नति आगे रुक न जावे, इसलिये पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर चुकनेवालों को कैसे व्याकरण पर अधिकार करना चाहिये, सो कुछ महानुभावों के आग्रह से लिखते हैं।

यह विदित रहे कि श्री पूज्य महात्मा प्रभु आश्रित जी[1] के शिष्य भक्त खेमचन्द जी आयु ४९ वर्ष, अपने पुत्र १८ वर्ष, पुत्री दो—६ वर्ष और चार वर्ष, तथा धर्मपत्नी सब का पालन करते हुए ५ मास में लगभग १०-११ सौ सूत्र पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि (सब सूत्रों सहित) पढ़ चुके हैं। इतना ही नहीं, विद्वानों द्वारा परीक्षित होकर उत्तीर्ण हो चुके हैं। जिन्होंने इसी ५ मास में मूल अष्टाध्यायी सम्पूर्ण भी तीन दिन पूर्व ११ जुलाई १९५५ को समाप्त कर ली है, अब प्रथमावृत्ति अत्यन्त परिश्रम से पढ़ रहे हैं, और बहुत सफलतापूर्वक पढ़ रहे हैं। सम्भव है २-२॥ वर्ष में महाभाष्य तक पहुंच जावें, यदि बुद्धि ठीक रहे, और कोई विघ्न न आवे (यह निरन्तर दस मास बहुत रुग्ण रहे और फिर भी आज महाभाष्य का दूसरा अध्याय पढ़ रहे हैं[2])। ४ जुलाई १९५५ की बात है कि एक प्राचीन व्याकरणाचार्य जो प्रथम श्रेणी में प्रथम आये, बहुत ही योग्य और तेजस्वी विद्वान हैं, उन्होंने खेमचन्द जी से २-३ सूत्रों का अर्थ पूछा। ठीक बताया, तो बड़े प्रसन्न हुए। खेमचन्द जी ने कहा 'मैंने लगभग ११०० सूत्र ही पढ़े हैं, पर अष्टाध्यायी शैली इतनी वैज्ञानिक और सरलतम है कि आप चार हजार सूत्रों अर्थात् सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के सूत्रों में से किसी भी सूत्र का अर्थ मुझ से पूछ सकते हैं, जो मैंने आज तक नहीं पढ़ा। हां, मैं सूत्र का उदाहरण नहीं बता सकूंगा, क्योंकि मैंने उदाहरण सब अभी नहीं पढ़े। उक्त

१. इन का स्वर्गवास हो चुका है।

२. आज ६-६-६२ तक यह सम्पूर्ण महाभाष्य—निरुक्त—दर्शपूर्णमासपद्धति—२ अध्याय तक मीमांसा न्यायभाष्य-न्यायवार्तिक प्रशस्तपादभाष्य, सांख्ययोगवृत्ति समाप्त कर चुके हैं।

पण्डित जी ने लगभग १५-२० सूत्रों के अर्थ पूछे, जो खेमचन्द जी ने विना अटके अपनी मूल अष्टाध्यायी की पुस्तक हाथ में लेकर झट-झट बता दिये। वह व्याकरणाचार्य तो एकदम चकित रह गये कि कौमुदी के सूत्र और उसकी चौगुनी वृत्ति को रटते-रटते छात्र हताश हो उठते हैं। प्रतिदिन उसका पाठ करने पर भी वह याद नहीं रह पाती। इधर अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करनेवालों का यह हाल है कि बिना रटे सूत्र का अर्थ पट-पट करते चले जाते हैं।

गजब की बात है। साथ ही एक नौ वर्ष की आयु के बच्चे को, जिसे सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ है, एक मास से पढ़ना आरम्भ किया, उस छात्र (सुद्युम्न, सतना--निवासी) ने जब **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (१।१।५५) सूत्र का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण, पुरुषाय को पूरी सिद्धि सब सूत्रों सहित घटाकर बताई। और अनल्विधि में **द्यौः** उदाहरण में अल्विधि (अल् से परे विधि) होने से कैसे प्राप्ति होकर स्थानिवत् का निषेध हो गया, यह सब बताया, तो उक्त व्याकरणाचार्य जी स्तब्ध रह गये। यह भी अब सम्पूर्ण महाभाष्य दर्शपौर्णमास-पद्धति कात्यायन श्रौतसूत्र पूर्वार्द्ध और निरुक्त ६ अध्याय कर चुका है, अब द्वितीयावृत्ति आदि पढ़ाता है। यह हमारे लिये कुछ भी आश्चर्य नहीं, केवल 'अष्टाध्यायी' का चमत्कार है, और कुछ भी नहीं। इसमें हमारा वैशिष्ट्य कुछ नहीं। हाँ, ढंग अवश्य है।

विद्वानों को देखना चाहिये कि अष्टाध्यायी-पद्धति की सरलता का यह कितना नग्न सत्य है, और कितना अकाट्य प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे प्रायः सब छात्र इसी तरह बता सकते हैं, और इसी तरह पढ़ाते हैं।

यह सब देखकर हमारे प्रेमियों की प्रबल प्रेरणा है कि आप अष्टाध्यायी मूल सम्पूर्ण कण्ठस्थवालों के लिये भी मार्ग दर्शन अवश्य करें। सो अब हम यह प्रकरण उठाते हैं। यह पूरा हो जाने पर शेष जो ऊपर कहा है लिखेंगे। पाठक घबरायें नहीं॥

अष्टाध्यायी का मुख्य वा आदर्श पाठ्यक्रम

व्याकरण का सम्पूर्ण ज्ञान

प्रथमावृत्ति से महाभाष्य पर्यन्त ४ वर्ष में

अब प्रथमावृत्ति का शुद्ध मूलभूत प्रकार उपस्थित करते हैं—

हमारे विचार में अष्टाध्यायी का आदर्श वा मुख्य पाठ्यक्रम वह है, जिसमें संस्कृताध्ययन-अध्यापन के सम्बन्ध में अष्टाध्यायी और महाभाष्य के द्वारा सम्पूर्ण व्याकरण का ज्ञान बालकों को ६-१० वर्ष की आयु से मूल अष्टाध्यायी धातुपाठादि कण्ठस्थ कराकर कराया जाता है। अपने गत ४० वर्ष के अनुभव से हम यहां अति संक्षेप से निर्देशमात्र लिखते हैं। विस्तार पुनः कभी लिखा जायेगा।

प्रवेशार्थी ८ से १२ वर्ष की आयु तक का, हिन्दी में कम से कम ५ श्रेणी तक की योग्यतावाला हो। ऐसे या तो पहले घर पर श्लोक मन्त्र गद्य पद्य आदि कण्ठस्थ कर आये हों, शब्दरूप धातुरूप तथा संस्कृत का सामान्य ज्ञान करा लिया गया हो, या प्रविष्ट होने पर कुछ समय अर्थात् २-३ मास का समय लगा लेना चाहिये। साथ में उच्चारण शुद्ध कराकर अष्टाध्यायी मूल कण्ठस्थ करायें। प्रायः एक वर्ष **प्रवेशिका** में लगता है, कम भी हो सकता है। कण्ठ करने में पांच-पांच या दस-दस सूत्र एक साथ कण्ठ करने में सुगमता रहती है। उच्चारण प्रारम्भ से ठीक होना चाहिये। सूत्र में किसको किसके साथ मिलाकर उच्चारण करना है, यह ज्ञान होना आवश्यक है। प्रातःकाल एक घंटा प्रतिदिन पिछले पाठ को बिना पुस्तक के आवृत्ति करना। मध्याह्न वा रात्रि में प्रतिदिन आधा घण्टा सूत्र सुनाकर अभ्यास करना चाहिये। हमारा यह अनुभूत और दृढ़ सिद्धान्त है कि सूत्रों (चाहे वह व्याकरण के हों या दर्शनादि के) को कण्ठ कर लेने से आयुभर के लिये अत्यन्त लाभ होता है। पर १६ वर्ष से ऊपर के छात्रों को विना अर्थ ज्ञान के स्मरण करने में कठिनाई होती है। मैट्रिक आदि पढ़ों को तो सूत्र कण्ठस्थ करने में विशेष कठिनाई प्रतीत होती है। हाँ यदि कोई करले, तो बड़ा लाभ होता है।

नियम यह है कि प्रौढ़ व्यक्ति विवश होकर कोई सूत्र कण्ठस्थ न करे। स्वेच्छा से जब उसे लाभ प्रतीत होने लगे और सामर्थ्य भी हो, इच्छा प्रबल

हो उठ, तब भले ही कर ले। और वह भी जब सूत्र समझ में आ जावें तभी करे, तो उसे सुगमता रहती है। २५वर्ष से ऊपरवालों को ६ मास का क्रम पढ़कर स्वयं ही कण्ठस्थ करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, ऐसा अनुभव में आया है। अर्थ समझ में आ जाने पर सूत्र स्वयं याद होने लगते हैं।

संस्कृत में पाणिनीय व्याकरण की समता अंगरेजी व्याकरण (ग्रामर) से कदापि न करनी चाहिए। दोनों में परस्पर भारी भेद है, यह बात कभी न भूलनी चाहिये।

अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होने के पश्चात् पदच्छेद-विभक्ति-समास-अधिकार वा अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि (सब सूत्रों सहित)[1] की प्रथम (पहिली) आवृत्ति (पढ़ना वा पारायण) करना प्रथमावृत्ति कहलाती है। चाहे बालक पढ़े, चाहे प्रौढ़, पहले सम्पूर्ण आठों अध्यायों की प्रथमावृत्ति पढ़नी चाहिये। इसके प्रत्युदाहरण, शङ्का-समाधान से सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पढ़ना द्वितीयावृत्ति कहलाती है।

अब हम प्रथमावृत्ति के विषय में विस्तार से अपना वक्तव्य आरम्भ करते हैं। प्रथमावृत्ति आरम्भ करने से पूर्व क्या-क्या जान लेना आवश्यक है, इस सम्बन्ध में लिखते हैं।

अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति

प्रथमावृत्ति से पहले

सर्वप्रथम छात्र को कहीं से भी १०-२० सूत्र पूछकर परीक्षण करलें कि उसे अष्टाध्यायी कण्ठस्थ भी है कि नहीं। एक भी सूत्र पूछने पर भूलना न चाहिये। जो सूत्र पूछे उससे आगे दस सूत्र सुना दे। कहीं से पूछे दस सूत्र सुना दे, तो समझना चाहिये कि मूल अष्टाध्यायी में उत्तीर्ण है। एक भूल तो क्षन्तव्य है। प्रतिदिन प्रायः एक घण्टा बिना पुस्तक के स्वयं पाठ करें, या किसी को सुनावें वा सुनें।

जब मूल अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जावे, तो छात्र को २-३ दिन में यह परिचय करा देना चाहिये कि अष्टाध्यायी में कितने प्रकरण[2] हैं, और वे

१. इस निर्देश के अनुसार ग्रन्थकार स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति भी लिखी है। यह तीन भागों में छप चुकी है।

२. सब प्रकरणों को हमने परिशिष्ट नं० २ में दर्शा दिया है, पठनार्थी छोटे या प्रौढ़ दोनों ही इसे अवश्य देखें।

कहाँ से कहां तक हैं। यह अधिक समय का काम नहीं। इसका प्रकार यह है कि हमें छात्र को बता देना चाहिये कि सूत्र ७ प्रकार के हैं—(१) अधिकार (२) संज्ञा (३) परिभाषा (४) विधि (५) निषेध (६) नियम (७) अतिदेश। यह बात हम दूसरे तथा तीसरे दिन के पाठ में भी बता चुके हैं। अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करनेवालों की दृष्टि से स्पष्टता के लिये पुनः भी लिखते हैं—

१—**अधिकारसूत्र** वह है, जिसे यह अधिकार (आज्ञापत्र या परमिट) मिल जाता है कि वह जहां से जहां तक कि उसका अधिकार है, वहां तक के सब सूत्रों में जाकर बैठ जाये। जैसे—**प्रत्ययः, परश्च** (३।१।१,२) इनका अधिकार यहां (=३।१।१,२) से **निष्प्रवाणिश्च** (५।४।१६०) सूत्र तक जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि १८२१ सूत्रों (तृतीय अध्याय=६३७ सूत्र+चतुर्थ अध्याय=६३०+पञ्चम अध्याय=५५४=१८२१ सूत्र) में '**प्रत्ययः, परश्च**' ये दोनों जाकर बैठ जाते हैं। दूसरा अधिकार **धातोः** (३।१।९१) का है, यह **छन्दस्युभयथा** (३।४।११७) तक ५४० सूत्रों में जाकर बैठता जायेगा।

'**प्रत्ययः**' इस अधिकारसूत्र के आरम्भ में लाल पैन्सिल या गेरू से मोटा चिह्न—प्रारम्भ में (') उलटा कामा, तथा ५।४।१६० की समाप्ति में सीधा कामा (') ऐसा लगवाया जावे कि दूर से ही दिखाई देता रहे। अब सूत्र का अर्थ कैसे बना, यह समझाना है। सो छात्र से पूछना चाहिये कि **वर्त्तमाने लट्** (३।२।१२३) में ऊपर से किस-किस का अधिकार आ रहा है। वह छात्र लाल पैन्सिल के चिह्न को देखकर बता देगा कि इस सूत्र में '**प्रत्ययः**' '**परश्च**' '**धातोः**' इन तीनों सूत्रों का अधिकार आता है। सो यह तीनों सूत्रों के पद सूत्र से आगे आकर बैठ गये, तो अर्थ बन गया—'**वर्त्तमाने लट् प्रत्ययः, परश्च, धातोः**'। सो छात्र को समझाना चाहिये कि अब इनको कहो कि बैठते तो हो, पर ढंग से बैठो—'**धातोः वर्त्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च।**' अब इसके आगे **भवति-भवेत्-भविष्यति-स्यात्** आदि में से कोई भी क्रियापद लगा दो। संस्कृत में अर्थ बन गया—**धातोः वर्त्तमाने लट् प्रत्ययः भवति परश्च**=हिन्दी में अर्थ बन गया—धातु से वर्तमान (काल) में लट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। छात्र के हृदय में बिठा देना चाहिये कि **अधिकार और अनुवृत्ति** (छोटे अधिकार) से अर्थ करने में कितनी सुगमता होती है। अधिकारसूत्र उसे कहते हैं, जो सूत्र पूरे का पूरा आगे के सूत्रों में बैठता है। **अनुवृत्ति** उसे कहते हैं, जो किसी सूत्र के एक या अनेक पद

आगे के सूत्रों में जाते हैं (पूरा सूत्र न जाता हो)।जैसे—'हलन्त्यम्' (१।३।३) में 'उपदेशे' 'इत्' की, और चुटू (१।३।७) में 'उपदेशे' 'इत्' 'प्रत्ययस्य आदिः' इन पदों की अनुवृत्ति आकर 'चुटू' के आगे ये पद बैठ जाते हैं। सूत्र का अर्थ बन गया—उपदेशे प्रत्ययस्य आदी चुटू इतौ (भवतः)। भवति के स्थान में द्विवचन होने से 'भवतः' ऐसा पद अन्त में लगा देना चाहिये। अर्थात् उपदेश में प्रत्यय के आदि=आरम्भ के चु=चवर्ग (च छ ज झ ञ) और टु=टवर्ग (ट ठ ड ढ ण) इत्संज्ञक (इत् संज्ञावाले) होते हैं। अब तस्य लोपः (१।३।९) जिसकी इत् संज्ञा (नाम) हो, उसका लोप हो जाता है। लोप=अदर्शनं लोपः (१।१।५९)—अर्थात् अदर्शन=हट जाने को 'लोप' कहते हैं।

सो अधिकार और अनुवृत्ति से अर्थ करने की विधि छात्र के हृदय पर अङ्कित करने के लिये कुछ (सब नहीं) अधिकारसूत्र बताने चाहियें। छात्रों को निम्नलिखित अधिकार आरम्भ में ही बता देने चाहियें—

(१) प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२ से ५।४।१६० तक)
(२) धातोः (३।१।९१ से ३।४।११७ तक)
(३) भूते (३।२।८४ से ३।२।१२२ तक)
(४) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१ से ५।४।१६० तक)
(५) तद्धिताः (४।१।७६ से ५।४।१६० तक)
(६) संहितायाम् (६।१।७० से ६।१।१५१ तक)
(७) अङ्गस्य (६।४।१ से ७।४।९७ तक)
(८) पदस्य (८।१।१६ से ८।३।५४ तक)
(९) पदात् (८।१।१७ से ८।१।६९ तक)
(१०) संहितायाम् (८।२।१०८ से ८।४।६७ तक)
(११) इत्प्रकरण (१।३।२ से १।३।९ तक)
(१२) स्त्रियाम् (४।१।३ से ४।१।८१ तक)
(१३) आत्मनेपदम् (१।३।१२ से ७७ तक)
(१४) परस्मैपदम् (१।३।७८ से ९३ तक)
(१५) कारके (१।४।२३ से ५५ तक)
(१६) निपाताः (१।४।५६ से ९७ तक)
(१७) समासः (२।१।३ से २।२।३८ तक)
(१८) अनभिहिते (२।३।१ से ७३ तक)
(१९) कृत्प्रत्यय (३।१।९३ से ३।४।११७ तक)

(२०) **कृत्यप्रत्यय** (३।१।९५ से १३२ तक)

(२१) **भविष्यति** (३।३।३ से १७ तक)

यहां हमने अत्यावश्यक अधिकार और अनुवृत्तियां दर्शाई हैं। आगे जब-जब कोई भी सूत्र पढ़ें वा पढ़ावें, उसके अधिकार और अनुवृत्ति पर लाल पेन्सल से सर्व प्रथम चिह्न करें तथा करावें। इस प्रकार यह संग्रह धीरे-धीरे स्वयं बढ़ता जायेगा।

प्रथमावृत्ति में १ पदच्छेद २ विभक्ति ३ समास, ४ अधिकार या अनुवृत्ति ५ अर्थ ६ उदाहरण ७ सिद्धि, ये सात अंश प्रत्येक सूत्र के समझने होते हैं। यद्यपि ये सातों बातें और इनका स्वरूप हम पहिले ही पाठ ६ पृष्ठ ४१-४३ पर कह चुके हैं। यहां कण्ठस्थ करनेवालों के लाभार्थ पुनः लिख रहे हैं। ऐसा ही आगे समझना।

(१) **पदच्छेद**—पदों का छेद अर्थात् अलग-अलग करना। जैसे **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) में वृद्धिः। आदैच्॥ **अदेङ् गुणः** (१।१।२) में अदेङ्। गुणः।

(२) **विभक्ति**—**वृद्धिः** १।१॥ (अर्थात् प्रथमा विभक्ति का एकवचन। इसी प्रकार आगे भी समझना) आदैच् १।१। वृद्धि शब्द इकारान्त स्त्रीलिङ्गवाची है। इसके रूप '**मति** या '**रुचि**' के समान चलते हैं। 'आदैच् के चकारान्त **वाच्** शब्द के समान रूप समझने चाहियें। संग्रह करके धातुरूप शब्दरूप का पहिले थोड़ा ज्ञान करा लेना होगा।[1]

(३) **समास**—जिसमें अनेक पदों का एक पद, अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति, और अनेक स्वरों का एक स्वर हो उसे 'समास' कहते हैं। यह (=समास) चार प्रकार का होता है—१. **अव्ययीभाव** २. **तत्पुरुष** ३. **बहुव्रीहि**, और ४. **द्वन्द्व**। इनमें पूर्वपदार्थप्रधान **अव्ययीभाव** कहलाता है। अर्थात्–जिसमें पहिले पद के अर्थ का प्राधान्य हो। उत्तरपदार्थप्रधान **तत्पुरुष**, अन्यपदार्थप्रधान **बहुव्रीहि**, तथा उभय(दोनों) पदार्थ प्रधान **द्वन्द्व** समास होता है। इसका उदाहरण **राजपुरुषमानय**=राजपुरुष को लाओ। इसमें पूर्व (पहिला) पद है राज, उत्तर (पिछला) पद है पुरुष। सो 'राजपुरुष को लाओ' इतना कहने पर पुरुष लाया जाता है, न कि राजा। अतः यह तत्पुरुषसमास है। **लम्बकर्णम् आनय**=लम्बे कानवाले को लाओ। यहां न लम्बे को लाया जाता है, न कान को। अपितु इन दोनों से अन्य (भिन्न)

---

१. शब्दरूपों का संग्रह 'शब्दरूपावली' पुस्तक के नाम से रा० ला० कपूर ट्रस्ट से पृथक् छपा हुआ मिलता है। उस से लाभ उठाया जा सकता है।

लम्बे कानवाले व्यक्ति को लाया जाता है। अन्य=जिनका समास हुआ है, उनसे भिन्न पद का अर्थ प्रधान होने से यह बहुव्रीहि समास होता है। तत्पुरुष समास नो प्रकार का होता है—द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, तथा कर्मधारय (विशेषण-विशेष्य समास), नञ् और द्विगु। द्वन्द्व भी दो प्रकार का होता है—**समाहार द्वन्द्व** (एकवचन में), तथा **इतरेतरद्वन्द्व समास** (रामलक्ष्मणौ)।

समास का इतना ज्ञान आरम्भ में ही करा देना चाहिये। अतः आत् ऐच्=आदैच्, यहां एकवचन होने से समाहार द्वन्द्व समास है।

(४) **अधिकार या अनुवृत्ति**--सूत्र का अर्थ करने से पहले यह देखना चाहिये कि इस सूत्र में ऊपर के किन-किन पदों का अधिकार या अनुवृत्ति आ रही है। जैसे—'**क्ङिति च**' (१ १।५) सूत्र में **इको गुणवृद्धी** (१।१।३) पूरा सूत्र, तथा **न धातुलोप आर्धधातुके** (१।१।४) से 'न' की अनुवृत्ति आ रही है। सो आगे बैठ जाने पर अर्थ बना—**क्ङिति च इको गुण-वृद्धी न(भवतः)**। ऐसे ही **परोक्षे लिट्** (३।२।११५) में ऊपर से ३।१।१,२ से **प्रत्ययः, परश्च** की, ३।१।६१ से **धातोः** की, तथा ३।२।८४ से भूते की, ३।१।१११ से **अनद्यतने** का अधिकार और अनुवृत्ति आ रही है। सो आगे बैठने पर अर्थ बना—**परोक्षे लिट् प्रत्ययः परश्च धातोः अनद्यतने भूते**। सो यही शब्द यों बन गये—**धातोः अनद्यतने परोक्षे भूते लिट् प्रत्ययः परश्च (भवति)**—अर्थात् धातु से अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में लिट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। अनुवृत्ति और अधिकार का ज्ञान प्रत्येक सूत्र में आवश्यक और अनिवार्य है।

यह अनुवृत्ति और अधिकार का स्वरूप छात्र को अवश्य समझा देना चाहिये। इनमें पहले तो मुख्य-मुख्य ही २०-२५ अधिकारसूत्र बता देने चाहियें, जिनका अधिकार दूर तक जाता है। जैसे हम इसी प्रकरण में पहले बता चुके हैं।

आगे धीरे-धीरे सूत्र काम में आने पर इनमें आनेवाले अधिकार और अनुवृत्ति का ज्ञान तथा परस्पर भेदज्ञान भी धीरे-धीरे संचित होता रहेगा। यह विषय हम तृतीय दिन के पाठ में लिख चुके हैं। वहां भी देख लेना चाहिये।

इसी के साथ छात्र को यह भी बता देना चाहिये कि सूत्र सात प्रकार के होते हैं, जैसा कि पहले बता चुके हैं। **अधिकार-संज्ञा-परिभाषा-विधि-निषेध-नियम और अतिदेश**। सो अधिकार का स्वरूप और उदाहरण तो

ऊपर दिखा चुके हैं। शेष ६ के स्वरूप और उदाहरण बता देने चाहियें, जो हम अपने चतुर्थ दिन के पाठ में दिखा चुके हैं। उनमें मुख्य-मुख्य संज्ञायें और परिभाषादि का स्वरूप छात्र को समझा देना चाहिये। यह अर्थ समझने में बहुत उपयोगी है।

(५) **अर्थ**—(क) अनुवृत्ति या अधिकार से आये पदों को सूत्र के आगे बिठाकर पीछे उन्हें व्यवस्थित अर्थात् ढंग से बिठाने के पश्चात् अन्त में केवल **भवति, भवेत्, भविष्यति, स्यात्** इनमें से कोईसा पद लगा देना चाहिये। उनका अर्थ छात्र से हिन्दी में कराना चाहिये। बिना समझाये अर्थ रटाना महामूर्खता है, चाहे वह हिन्दी में हो या संस्कृत में हो। हां, छोटे बालकों को पहिले समझाकर आगे उनसे बार-बार सुनकर अभ्यास करा देना चाहिये। बिना समझाये उनको भी केवल रटाना नहीं चाहिये। जैसे—**क्ङिति च** (१।१।५)इस सूत्र में ऊपर से **इको गुणवृद्धी** (१।१।३) सारा सूत्र, तथा **न धातुलोप आर्धधातुके** (१।१।४) से '**न**' इतने शब्दों की अनुवृत्ति आती है। अर्थात् ये शब्द इस **क्ङिति च** (१।१।५) सूत्र में बैठ गये। इनका रूप बन गया—'**क्ङिति च इको गुणवृद्धी न** (भवतः)'। अर्थ हुआ—गित् कित् ङित् को मानकर जो इक्-लक्षण गुण वृद्धि प्राप्त हों, वे न हों। यहां पर '**क्ङिति**' पर सप्तमी नहीं, अपितु निमित्त सप्तमी है। अर्थात् 'गित् कित् ङित् को मानकर' ऐसा अर्थ है। सूत्रार्थ करने का ढंग जानने के लिये **लट्-लिट्**-लुट्-लृट्-लेट्-लोट्-लङ्-लिङ्-लुङ्-लृङ् इनके विधान करनेवाले सूत्रों पर अनुवृत्ति और अधिकार दर्शाते हुये अर्थ स्वयं समझ लें, वा अध्यापक समझा दें। जिससे कि छात्रों को अर्थ की प्रक्रिया का अच्छी तरह से ज्ञान हो जाये। जैसा कि हम छठें पाठ में बता चुके हैं, वहां से जान लेवें। यहां हम उसको पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं समझते।

(ख) अधिकार अनुवृत्ति तो एक ही है, केवल पूरे अधूरे का भेद है। सो अधिकार या अनुवृत्ति तथा अर्थ में वास्तव में कुछ भेद नहीं। हमने अधिकार या अनुवृत्ति को चतुर्थ संख्या (चौथा नम्बर) पर जान कर रखा है। पांचवां नम्बर अर्थ का रखा है। सूत्र से सूत्र का अर्थ अधिकार वा अनुवृत्ति से होता है। इसी को स्पष्ट शब्दों में कह देना (वाक्य बनाकर परिमार्जित रूप में कह देना) अर्थ कहाता है। बस इन दोनों में इतना ही भेद समझें। अधिकार समझ लेने के पीछे ही अर्थ विस्पष्ट होगा।

(ग) सूत्रों का अर्थ करने में यह भी समझा दें कि पञ्चमी विभक्ति जहां होगी, वहां '**से परे**' अर्थ करें। जैसे—**धातोः**=धातु से परे। जहां

षष्ठी विभक्ति हो (और सम्बन्ध कहीं न लगता हो) वहां **'के स्थान में'** ऐसा अर्थ करें। और जहां सप्तमी विभक्ति हो, वहां 'के **परे रहने पर'** ऐसा अथ करें। जैसे—**इको यणचि** (६।१।७४)—(**इकः** ६।१, **यण्** १।१, **अचि** ७।१) यहां '**अचि**' का अर्थ होगा **अचि परे**=अच् परे रहने पर, इकः षष्ठी है, इसका अर्थ होगा **'इकः स्थाने'**=इक् के स्थान में, **यण्**=यण्, **भवति**= होता है।

सूत्रों में प्रायः चार विभक्तियां आती हैं—पञ्चमी, षष्ठी, प्रथमा और सप्तमी। इनका मोटा-मोटा अर्थ इस प्रकार है—पञ्चमी का अर्थ 'से', षष्ठी का 'के स्थान में', प्रथमा का 'अमुक होता है', सप्तमी का 'के परे रहने पर' अधिकतर होता है। सप्तमी तीन प्रकार की होती है, यह हम आगे बता रहे हैं।

पञ्चमी विभक्ति ३, ४, ५ अध्यायों के सूत्रों में अवश्य रहेगी। तीसरे अध्याय में 'धातु से परे', चतुर्थ पञ्चम अध्याय में 'प्रातिपदिक से परे'।

षष्ठी विभक्ति की यह व्यवस्था है कि जिसका सम्बन्ध कहीं और प्रकार से न जुड़ता हो, उसको अनियतयोगा षष्ठी कहते हैं, अर्थात् जिसका सम्बन्ध कहीं नहीं जुड़ता। **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४८) सूत्र उस अनियत-योगा षष्ठी को **स्थानेयोगा** कहता है। ऐसी षष्ठी का **'के स्थान में'** अर्थ होता है।

अब रही प्रथमा विभक्ति की बात। सो इसका अर्थ 'अमुक होता है' ऐसा है। जो तीसरे चौथे पांचवें अध्याय में तो **प्रत्ययः परश्च भवति** के साथ जुड़कर 'अमुक प्रत्यय होता है, और वह परे होता है' इस रूप में परिणत हो जाता है। शेष सर्वत्र भी 'भवति' के अध्याहार में सम्मिलित होकर 'अमुक होता' है, ऐसा अर्थ प्रथमा विभक्ति का बन जाता है।

सप्तमी के तीन प्रकार के अर्थ हैं, या सप्तमी विभक्ति तीन प्रकार की होती है—

(क) पर-सप्तमी—जैसे—**इको यण् अचि** (६।१।७४) में 'अचि' का अर्थ है—अच् परे रहने पर।

(ख) निमित्त-सप्तमी—जैसे—**क्ङिति च** (१।१।५), यहां 'क्ङिति' यह निमित्तसप्तमी है, अर्थात् गित् कित् ङित् को निमित्त मानकर जो इक् के स्थान में गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं वे न हों, यह सूत्र का अर्थ बना।

(ग) विषय-सप्तमी—जैसे—**संहितायाम्** (६।१।७०) का अर्थ है—संहिता के विषय में; **आर्द्धधातुके** (२।४।३५)=आर्द्धधातुक का विषय होने पर। ऐसे ही **वर्त्तमाने लट्** (३।२।१२३) में **प्रत्ययः परश्च धातोः**

इन पदों का अधिकार वा अनुवृत्ति आने पर सूत्र का अर्थ—**धातोः वर्त्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च (भवति)**=धातु से वर्त्तमान काल में लट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है,यह बना।

यहां प्रकृत में सब से पहिला सूत्र **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) है। सो यहां वृद्धिः आदैच् का अर्थ– **आदैच् वृद्धिः भवति**=आत् (दीर्घ आकार) और ऐच् (ऐ औ) की वृद्धि संज्ञा (नाम) होती है। **आदैचां वृद्धिसंज्ञा भवति।** यह संज्ञा सूत्र है। किसी भी शब्द में आ ऐ और औ पहिले से ही हों, या सूत्रों द्वारा बने हों, वे 'वृद्धि' संज्ञावाले ही होंगे। इन्हें हम व्याकरणशास्त्र में वृद्धि ही कहेंगे।

(६) उदाहरण—किसी भी ऐसे प्रयोग को जिस की, सूत्रों द्वारा सिद्धि करने में **वृद्धिरादैच्** या अन्य सूत्र का काम पड़ता है, उस सूत्र का उदाहरण कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस प्रयोग में वह सूत्र लगता है, वह उदाहरण कहाता है। जैसे—**शालीयः, मालीयः, नायकः, पावकः, कारकः, भागः।**

जहां तक हो सके अधिक प्रसिद्ध=अर्थात् व्यवहार में अधिक आनेवाले शब्दों से उदाहरण देने चाहियें, जिसे पढ़नेवाला सहज में समझ सके। जैसे—'**इको यणचि**' का उदाहरण **यद्यपि**, और '**आद् गुणः**' का उदाहरण **सूर्योदयः** अधिक अच्छा है। ऐसे व्यवहारोपयोगी उदाहरण समझ लेने पर छात्र को काशिका या हमारे अष्टाध्यायीभाष्य में दिया उदाहरण भी अवश्य समझा देना चाहिये। उदाहरणों के अर्थ भी साथ-साथ अवश्य बताने चाहियें।

(७) सिद्धि—अब हमें इन उदाहरणों से बताना है कि **वृद्धिरादैच्** इस सूत्र ने क्या काम किया। इसको बताने का नाम ही सिद्धि है।

इसमें प्रारम्भ में अध्यापक को कष्ट प्रतीत होगा, फिर भी वह ऐसे ढङ्ग से बतावे कि एक उदाहरण की सिद्धि से आगे सिद्धि करने का साहस एवं रुचि स्वयं छात्र की बढ़ती जावे। इसमें इतनी बात ध्यान देने की है कि यदि छात्र सुबोध हो, तो सिद्धि में लगनेवाले सूत्रों की अनुवृत्ति और अधिकार अध्यापक बताकर उस सूत्र का सामान्य अर्थ बताता जाये। पर आगे लगनेवाले सूत्रों के अर्थ पुनः पुनः जब वह सूत्र लगे, तो बराबर बताता जाये। (आगे लगनेवाले सूत्रों का अर्थ छात्र से अध्यापक पूछे नहीं)। इस

प्रकार बार-बार लगनेवाले सूत्रों के अर्थ छात्र की बुद्धि में स्वयं बैठ जायेंगे। सिद्धि में अगले दिन छात्र से इतना अवश्य पूछ लें कि इस उदाहरण में इस सूत्र ने क्या काम किया? यदि वह सूत्र न लगता तो क्या होता? इतनी बात तो प्रत्येक छात्र को समझ लेनी अनिवार्य है। छात्र बार-बार लगनेवाले सूत्रों के समझ में आ जाने पर उनके नीचे अपनी अष्टाध्यायी में गेरु या लाल पेन्सिल से चिह्न करता जाये। प्रथम पाद तथा द्वितीय पाद के २६ सूत्रों तक की सिद्धि समझ लेने पर अष्टाध्यायी की सारी सिद्धियां अनायास समझ में आ जाती हैं यह हमारा दृढ़ अनुभव है। हां, यदि छात्र १० दिन पढ़ाने पर सर्वथा न समझे तो फिर उसे प्रथम पाद के तत्तत् उदाहरणों में उस-उस सूत्र ने क्या कार्य किया, केवल इतना ही समझायें। पीछे दुबारा पूरी सिद्धि का क्रम चलाया जा सकता है। ऐसे छात्रों को व्याकरण की योग्यता बहुत देर में हो पाती है। दो छात्र होने पर भी उदाहरण की सिद्धि कृष्ण-पटल (ब्लैकबोर्ड) पर लिखकर कराना बहुत लाभकर होता है। यह बात भी अत्यन्त ध्यान देने की है। कहीं अध्यापक आलस्य न कर जायें। इससे निर्बल व अल्पवयस्क बालक भी सिद्धियां समझने और समझ कर नोट करने (लिखने) में समर्थ हो जाते हैं।

हमारी दृष्टि में अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जाने पर व्याकरणशास्त्र का एक चौथाई भाग पूर्ण हो जाता है।

पदच्छेद आदि के ढङ्ग पर प्रथमावृत्ति हो जाने पर व्याकरणशास्त्र का अगला चौथा भाग पूरा हो गया, ऐसा समझना चाहिये। और आठों अध्याय की द्वितीयावृत्ति तथा सम्पूर्ण महाभाष्य को हम व्याकरणशास्त्र का अन्तिम चौथा भाग पूर्ण होना समझते हैं। प्रथमावृत्ति ही मुख्य व्याकरण है। कुछ संस्थाओं में अष्टाध्यायी का नाम तो रखा होता है, पर पढ़ानेवाले स्वयं इस प्रक्रिया से अनभिज्ञ होते हैं। और साथ ही उन्हें अष्टाध्यायी प्रक्रिया पर आस्था भी नहीं होती, और न उन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होती है। वे छात्रों को अष्टाध्यायी कण्ठ कराकर भी ठीक ढङ्ग से नहीं पढ़ा सकते। छात्रों को सूत्रों के अर्थ काशिका आदि से रटाने लगते हैं। यह सब इस प्रक्रिया में अज्ञान वा अनुभवहीनता के परिचायक हैं। ऐसे ही बिना उदाहरण बताये या उक्त उदाहरण में उस सूत्र को घटाये बिना सूत्र का अर्थ पढ़ाना वा रटाना भी मूर्खतापूर्ण है, और अपना तथा छात्र का समय नष्ट करना है।

प्रथमावृत्ति में केवल मूल अष्टाध्यायी पर ही पढ़ाया जावे। हां, भूलने

पर हमारे 'अष्टाध्यायीभाष्य'[1] तथा काशिका से देख सकते हैं। अध्यापक यदि सिद्धि के विषय में देखना चाहें, तो वह काशिका की व्याख्या न्यास से भी देख सकते हैं।

एक अन्य आवश्यक बात की ओर भी हम निर्देश कर देना अनिवार्य समझते हैं कि प्रथमावृत्ति में शङ्का-समाधान पढ़ानेवाले अध्यापक को अष्टाध्यायी प्रक्रिया से अनभिज्ञ वा पढनेवाले छात्र का शत्रु ही समझना चाहिए। हां, छात्र को स्वाभाविक शङ्का उत्पन्न होने पर उसका सामान्य रीति से समाधान कर दे। विशेष शङ्कासमाधान तो द्वितीयावृत्ति में ही होना उचित है। क्योंकि छात्र की शङ्कासमाधान करने वा समझने की योग्यता वा शक्ति तभी है। आरम्भ में शङ्का-समाधान पढ़ाना कौमुदी की छाया का परिणाम है। इसमें शक्ति और समय का व्यर्थ दुरुपयोग होता है। यह हमारे अनुभव का विषय है।

हां,द्वितीयावृत्ति में शङ्का-समाधान महाभाष्यकार के ढङ्ग से छात्र को संक्षेप से और सरलता से समझा सकनेवाला अध्यापक ही योग्य समझा जायगा। वास्तविक शङ्काओं का समाधान तो महाभाष्य पढ़ने के समय ही होगा, और होना उचित भी है।

सिद्धि-प्रक्रिया पर विचार

सिद्धि—जो भी उदाहरण हम देंगे, चाहे वह एक हो वा अनेक, उनमें हमें प्रथम मुख्यतया यह समझाना है कि इस उदाहरण या इन उदाहरणों में इस प्रकृत सूत्र ने क्या किया। **शालीयः** आदि उदाहरणों में **वृद्धिरादैच्** सूत्र ने क्या किया,यह बात समझाने के लिए हमें इस सूत्र को घटाकर ही बताना होगा। **शालीयः** उदाहरण में बात तो केवल इतनी ही है कि शाला शब्द में दो अच् हैं। इसमें आदि (पहिला) अच् 'शा' में 'आ' है, सो वृद्धिसंज्ञक है। क्योंकि **वृद्धिरादैच्**=**आत्** (दीर्घ आकार), **ऐ**, और **औ** को वृद्धि कहते हैं। सो सूत्र के अर्थ से यह समझ में आ गया कि 'शाला' शब्द में पहिला अच् 'आ' वृद्धि संज्ञावाला है। उधर सूत्र है—**वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१।१।७२)। इसका अर्थ है—**वृद्धिः यस्य अचाम् आदिः तद् वृद्धम्** (**भवति**)—जिसके अचों में आदि (पहिला) अच् वृद्धि (आ, ऐ और औ में से कोई हो) उसकी वृद्ध संज्ञा (नाम) होती है। सो जब शाला के आ को

---

१. पाठकों को विदित रहे कि ग्रन्थकार ने अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति के उदाहरणों की पूरी सिद्धि अष्टाध्यायी भाष्य के (परिशिष्ट में) लिख दी है। यह भाष्य तीन भागों में छप चुका है।

वृद्धि संज्ञा हो गयी, तभी शाला शब्द की वृद्ध सज्ञा हुई। वृद्ध संज्ञा हो जाने पर **शालायां भवः**=शाला में होनेवाले बालक वा यज्ञ का नाम हुआ शालीयः हुआ। सो शाला प्रातिपदिक की वृद्ध संज्ञा होकर उससे **वृद्धाच्छः** (४।२।११३) सूत्र से छ प्रत्यय होता है। **वृद्धाच्छ.** सूत्र में ऊपर से **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (४।१।१), **शेषे** (४।२।९१), **प्रत्ययः परश्च तद्धिताः** इत्यादि पदों का अधिकार तथा अनुवृत्ति आती है। तो अब **वृद्धाच्छः** (४।२।११३) सूत्र का अर्थ हो गया **वृद्धात् छः प्रातिपदिकात् शेषे प्रत्ययः=वृद्धात् प्रातिपदिकात् शेषे छः प्रत्ययः परश्च तद्धितः** (भवति)=वृद्ध प्रातिपदिक से शेष अर्थों में (शेष अर्थ ४।३।२५ से ४।३।१३२ तक हैं) छ प्रत्यय होता है, और वह परे होता है, और तद्धित होता है।

इतना सब बताने पर भी छात्र की आकांक्षा पूरी नहीं होती कि शाला + छ हो गया, 'शालीयः' तो फिर भी न बना। इसलिये हमारे उपर्युक्त विवेचन से यह बात सिद्ध हुई कि जब तक पूरी सिद्धि न बताई जावे, तब तक पठनार्थी की आकांक्षा मिटती नहीं। अपितु बनी ही रहती है कि शाला + छ बन गया, फिर हुआ क्या ?

सो हमारा यह दृढ़ मत और ४० वर्ष का स्वयं पढ़ाकर प्राप्त अनुभव है। तथा आर्यसमाज के प्रसिद्ध सुयोग्य विद्वान् श्री पं० शङ्करदेवजी आचार्य की हमारे साथ पूरी सहमति रही और है कि सिद्धि आरम्भ से ही पूरी करानी चाहिए। और अध्यापक बहुत ही धैर्य और इस विश्वास के साथ करावे कि मैं अपने छात्र को सरल से सरल ढंग बनाकर इस उदाहरण की सिद्धि समझा लूंगा। इसमें दो बातें बहुत गम्भीरतापूर्वक विचारार्थ उपस्थित होती हैं कि सिद्धि में लगनेवाले आगे के सूत्र लगाते समय हमें उन सूत्रों का अर्थ वा अभिप्राय भी बताना चाहिये या नहीं, या केवल उस सूत्र का कार्य ही बताना चाहिए। प्रश्न है कि १० वर्ष के बालक पर कहां तक भार डाला जावे। इसमें हमारा गम्भीर अनुभव यह है कि आगे आनेवाले सूत्रों का अर्थ यदि हम अधिकार और अनुवृत्तिपूर्वक बता देते हैं, तब तो छात्र को आगे लगनेवाले सूत्र का अभिप्राय समझ में आ जाता है। और ऐसा बार-बार लगनेवाला सूत्र तो उसे विना रटे ही समझ में आ जाता है। और वह स्वयं ही अध्यापक के विना कहे उस सूत्र को लगाता चला जाता है। इसमें परीक्षा है अध्यापक के धैर्य की, वह कहां तक धैर्य रखकर छात्र को समझा सकने में समर्थ है। यह निश्चय है कि एक प्रकार की सिद्धि में लगे सामान्य सूत्र बार-बार वे ही लगते हैं। बार-बार लगते-लगते वे सूत्र छात्र को पूरे समझ

में आते जाते हैं, और उत्साह एवं रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। हमने अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये सैकड़ों छात्रों को इसी क्रम से सरलतापूर्वक पढ़ाया तथा पढ़वाया है। हमारे यहाँ तो यह प्रक्रिया ४० वर्ष से बराबर चल रही है। हमसे पढ़ा हुआ प्रत्येक छात्र अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये हुओं को पढ़ाने में पूरा समर्थ है। ऐसे पढ़ा सकनेवालों शिष्यों की संख्या मेरे विचार से लगभग १०० होगी। यह भी विदित रहे कि श्रीमद्दयानन्द विद्यापीठ की संस्थाओं में प्रायः अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति पूर्वोक्त रीति अर्थात् पूरी सिद्धिसहित ही पढ़ायी जाती है। इतना ही नहीं, मैं तो विना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये (=विना रटे) पढ़नेवालों को भी, इसी उपर्युक्त ढंग से प्रत्येक सूत्र का अर्थ अधिकार और अनुवृत्ति के आधार पर, अल्प-बुद्धिवाले छात्रों को भी अच्छी तरह समझा लेता हूं। वह अर्थ उसके मस्तिष्क में बैठ जाता है, और उसको स्वयं अर्थ करने की विधि समझ में आ जाती है। और वह थोडे से सहारे से अद्भुत रीति से सूत्रों का अर्थ करने लगता है। यह पाणिनीय अष्टाध्यायी के क्रम की विशेषता है। कुछ अध्यापक के सरल ढंग से बताने की भी विशेषता है। अतः हम यहां इसी निश्चय पर पहुंचे हैं कि छात्र को तत्तद् सूत्र के उदाहरण की पूरी सिद्धि आरम्भ में ही बता देनी चाहिये। आगे लगनेवाले सूत्रों का अर्थ अनुवृत्ति और अधिकार दर्शाते हुए छात्र को बता अवश्य दें, जिससे उसे सूत्र का अर्थ स्थूल दृष्टि से विदित हो जावे। पर आगे लगनेवाले सूत्र का अर्थ भी छात्र को याद करके सुनाना पड़े, ऐसा कदापि न करना चाहिये। छात्र से कभी न पूछें, हां बार-बार लगनेवाले सूत्रों का अर्थ जब स्वयं छात्र के मस्तिष्क में बैठ जावे, तभी पूछना चाहिये। अष्टाध्यायीक्रम की यह एक गहरी घुण्डी है। इस पर पूरा ध्यान रखना होगा। इस बात को अध्यापक को अपने से योग्य अनुभवी अध्यापक से सीखने की आवश्यकता है। इसे कदापि न भूलना चाहिये, नहीं तो छात्रों की बुद्धि भ्रान्त होने लगती है।

यह भी विदित रहे कि व्याकरण में सिद्धि सात प्रकार की ही है—

(१) तिङन्त=पठति (लट्), अचैषीत् (लुङ्), पठिष्यति (लृट्) इत्यादि।
(२) कृदन्त=नायकः, कारकः, नेता, चेता, पठित्वा, भागः इत्यादि।
(३) कृत्यप्रत्यय=पठितव्यम्, चयनीयम्, करणीयम्, सुपाठ्यम् इत्यादि।

} ये तीनों प्रत्यय धातु से आते हैं।

कृत् और कृत्य प्रत्यय भिन्न होने पर भी इनकी सिद्धि में कोई भेद

नहीं होता।

(४) सुबन्त=पुरुषः, वाग्भ्याम्, सर्वेषाम्।
(५) स्त्रीप्रत्यय=अजा, ब्रह्मचारिणी, ब्राह्मणी, कुमारी, भा[illegible]ी।
(६) तद्धितप्रत्यय=शैवः, माथुरः, शालीयः, दाधिकम्।

} ये तीनों प्रत्यय प्रातिपदिक से होते हैं।

(७) समास=देवदत्तस्य पुस्तकम्=(देवदत्त+ङस्) (पुस्तक+सु)= देवदत्तपुस्तकम्, देवगृहम्।

'देवदत्तपुस्तक' शब्द से आगे फिर नया सु आया, तो 'देवदत्तपुस्तकम्' बना। इसी प्रकार वेदमन्दिरम्।

(इससे अतिरिक्त सन्धि का विषय है, उसे ८वां गिन सकते हैं)।

अर्थात्—धातु से साधारणतया तीन प्रकार के प्रत्यय होते हैं—कृत्, कृत्य, और तिङ्। प्रातिपदिक से भी तीन प्रकार के प्रत्यय होते हैं—सुप्, स्त्री, और तद्धित। सातवां समास। इस प्रकार सिद्धि के सात[1] प्रकार हैं। नामधातु इससे पृथक् है। इसकी सिद्धि में कुछ विशेषता है, सो ४१वें पाठ में समझ लेनी चाहिये।

बस जितनी भी सिद्धियां हैं, वे सब इन सात प्रकार के अन्तर्गत आती हैं, कोई बाहिर नहीं बचती। हमें यहां कहना यह है कि यदि उदाहरणों की सिद्धियां अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर चुके छात्र को आरम्भ में, अर्थात् पहिले पाद व दूसरे पाद के १।२।२६ सूत्र तक करादी जावे, और वह कर लेवे तो अष्टाध्यायी की प्रायः मुख्य सिद्धियां समाप्त हो जाती हैं। या अधिक से अधिक तीसरे अध्याय के प्रथम पाद के आरम्भ में ही समाप्त हो जाती हैं। आगे तो छात्र को कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती। उसका ज्ञान वार-बार सिद्धि आने से बढ़ता ही जाता है। वैसे हमारा अनुभव तो यह है कि १।१।५ अर्थात् 'क्ङिति च' सूत्र तक सातों प्रकार की सिद्धि के उदाहरण इन पहिले ५ सूत्रों के उदाहरणों की सिद्धि में आ जाते हैं। केवल एक समास भले ही बच जाता है। सो वह भी 'आदैच्' में या 'गुणवृद्धी' में आ सकता है। अब हम सिद्धि का प्रकार दर्शाते हैं।

कृष्ण-पट्ट (ब्लैकबोर्ड) पर सिद्धि की स्थिति

सिद्धि सदा कृष्णपट्ट (ब्लैकबोर्ड) पर चाक से लिखकर ही दिखानी चाहिये। इसमें आरम्भ में पढ़नेवालों को कापियों पर लिखने में बहुत ही

---

१. कृत्यप्रत्ययान्त को कृदन्त के अन्तर्गत समझने पर छः प्रकार रह जाते हैं।

सहायता मिलती है। नहीं तो छात्र अशुद्ध लिखते हैं, और बहुत घबराने लगते हैं। लिखने की परिपाटी निम्न प्रकार है—

वाच्	अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५)
	ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१)
	स्वौजसमौट् (४।१।२)
	प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)
	सुपः (१।४।१०२), विभक्तिश्च (१।४।१०३)
	प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२।३।४६)
	से प्रथमा विभक्ति होकर
वाच् सु	द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२)
	उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९),
	अदर्शनं लोपः (१।१।५९)
वाच् स्	अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१), हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६)
वाच्	प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१।१।६१)
	सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४)
	पदस्य (८।१।१६)
	चोः कुः (८।२।३०)
वाक्	स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)
वाग्	झलां जशोऽन्ते (८।२।३९)
	विरामोऽवसानम् (१।४।१०९)
वाक् वाग्	वाऽवसाने (८।४।५५)।

इस प्रकार बोर्ड पर सिद्धि दर्शानी चाहिये। और बार-बार लगनेवाले सूत्रों का पदच्छेद, विभक्ति, अनुवृत्ति और सामान्य अर्थ भी बताते चलें॥

अब हम प्रकृत में 'शालीयः' शब्द की सिद्धि पूरे सूत्र लगाकर दर्शाते हैं·

शालीयः

शाला[1]—**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (१।२।४५) यह संज्ञा सूत्र है। **अर्थवत्, अधातुः, अप्रत्ययः, प्रातिपदिकम्**=अर्थवान् की प्रातिपदिक संज्ञा होती है, धातु और प्रत्यय को छोड़कर। इससे शाला[2] की प्रातिपदिक संज्ञा होकर ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) से (५।४।१६०) तक इसका

१. शालीयः की सिद्धि वास्तव में सुबन्त से आरम्भ होती है। सो प्रथमावृत्ति में देखें। आरम्भिक छात्र की दृष्टि से हमने प्रातिपदिक से ही सिद्धि दर्शायी है।

२. यहां [illegible] की गई है।

अधिकार है। इससे ङी आप् प्रातिपदिक से परे प्रत्यय आवेंगे। फिर पूर्वोक्त **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) सूत्र से 'शाला' शब्द में आदि आकार की वृद्धि सञ्ज्ञा हुई। तदनन्तर—**वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१।१।७२)—(वृद्धिः १।१।। यस्य ६।१।। अचाम् ६।३।। आदिः १।१।। तत् १।१।। वृद्धम् १।१।।) अर्थ—**यस्य अचामादिः (अच्) वृद्धिः, तत् वृद्धम्**=जिस शब्द के अचों में आदि (पहिला) अच् वृद्धि (आ, ऐ, औ में से कोई) हो, तो उसकी वृद्ध संज्ञा (नाम) होती है। इस सूत्र से 'शाला' को वृद्ध संज्ञा हो गई। **वृद्धाच्छः** (४।२।११३) में **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (४।१।१) से, **प्रत्ययः परश्च** (३।१।१,२) से, तथा **शेषे** (४।२।९१) से इन पदों का अधिकार और अनुवृत्ति आ रही है। सूत्र का अर्थ बना—**वृद्धात् छः ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः परश्च शेषे=शेषे वृद्धात् प्रातिपदिकात् छः प्रत्ययः परश्च** (भवति)—शेष अर्थ में वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से तद्धित छ प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। अतः इस (४।२।११३) सूत्र से 'शाला' शब्द से परे छ प्रत्यय हो गया, और 'शाला+छ' ऐसा बन गया। अब **यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (१।४।१३)—(यस्मात् ५।१।। प्रत्ययविधिः १।१।। तदादि १।१।। प्रत्यये ७।१।। अङ्गम् १।१।।) अर्थ—जिससे प्रत्यय किया जावे, प्रत्यय परे रहने पर तदादि=वह धातु या प्रातिपदिक आदि में है जिसके, उसकी अङ्गसंज्ञा होती है। अतः इससे शाला की अङ्ग संज्ञा होकर—**अङ्गस्य** (६।४।१) के अधिकार में **आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम्** (७।१।२)—प्रत्यय के आरम्भ क अङ्ग सम्बन्धी फ् ढ् ख् छ् घ् के स्थान में क्रम से 'आयन्' 'एय्', 'ईन्', 'ईय्', 'इय्' ये पांच आदेश हो जाते हैं। इस सूत्र से 'छ' प्रत्यय के आदि छ् के स्थान में ईय् आदेश होकर और शेष बचा 'अ' मिलाकर 'शाला ईय' ऐसा बना। अब 'ईय' को मानकर **यचि भम्** (१।४।१८) में **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** की अनुवृति आकर (यचि ७।१।। भम् १।१।।)—सर्वनामस्थान से भिन्न स्वादि प्रत्ययों में से यदि यचि=यकारादि अथवा अजादि प्रत्यय हों, तो पूर्व की 'भ' संज्ञा हो। इससे 'ईय' के अजादि प्रत्ययों में आ जाने के कारण शाला की भ संज्ञा होकर, **यस्येति च** (६।४।१४८)—(यस्य ६।१।। ईति ७।१।। च अ० ।।) इस सूत्र में **ढे लोपोऽकद्र्वाः** (६।४।१४७) से **लोपः** की, **नस्तद्धिते** (६।४।१४४) से **तद्धिते** की, तथा **भस्य** (६।४।१२९) इस सूत्र से **भस्य** की अनुवृत्ति आती है। तो सूत्र का रूप बन गया—(इ+अ=य) =**यस्य भस्य ईति तद्धिते च लोपः।** अर्थ बना—भसंज्ञक इवर्ण तथा अवर्ण का तद्धित परे रहते लोप होता

है, ई परे रहते भी। यहां ईय १।१।५५ सूत्र से स्थानिवत् होकर तद्धित माना जाकर इस सूत्र से शाला के आकार का लोप होकर 'शाल्+ईय = शालीय बना। अब छ के तद्धित होने के कारण **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।६४)—कृत् तद्धित (अन्तवाले) तथा समास की प्रातिपदिक संज्ञा हो जावे। इस सूत्र से 'शालीय' की प्रातिपदिक संज्ञा हो गई। अब **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (४।१।१) तथा **स्वौजसमौट्०** (४।१।२) से सुप् (२१) **प्रत्ययः, परश्च** (३।१।१,२) आवेंगे और परे होंगे। **सुपः** (१।४।१०२) **विभक्तिश्च** (१।४।१०३) से विभक्ति संज्ञा होकर **तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः** (१।४।१०१) सुप् के तीन-तीन क्रमशः एकवचन द्विवचन बहुवचन संज्ञक होकर, तथा **द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने** (१।४।२२) से एकवचन की विवक्षा (=कहने की इच्छा) में सु हुआ, और वह परे हो गया।

शालीय सु, **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२)—उपदेश में अनुनासिक अच् इत्संज्ञक हो। यह संज्ञासूत्र है। जिसकी इत्संज्ञा हो **तस्य लोपः** (१।३।९) से उसका लोप होकर 'शालीय+स्'। **सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१४) सुप् तिङ् जिसके अन्त में हों उसकी पदसंज्ञा हो। पुनः **पदस्य** (८।१।१६) के अधिकार में **ससजुषो रुः** (८।२।६६)—सकारान्त पद और सजुष् के अन्त को 'रु' हो। अतः इससे स् को 'रु' होकर 'शालीय रु' इस अवस्था में **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१।३।२) से इत्संज्ञा और लोप होकर 'शालीय र्' रहा। **विरामोऽवसानम्** (१।४।१०९) से अवसान संज्ञा होकर, **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८।३।१५)—खर् परे हो या अवसान में र् के स्थान में विसर्जनीय हो। ':' होकर **शालीयः** बना। **अर्थ**—'शालायां भवः'=शाला में होनेवाला (जो भी हो)। सो यहां शालीयः उदाहरण में **वृद्धिरादैच्** सूत्र ने तो इतना ही काम किया, कि जब शाला से तद्धित प्रत्यय **वृद्धाच्छः** (४।२।११३) से लाने लगे, तो इस सूत्र ने शाला के पहिले आ की वृद्धि संज्ञा की। पुनः वृद्धि संज्ञा होने के कारण **वृद्धिर्यस्याचामादिस्त०** से 'शाला' की वृद्धसंज्ञा होकर **वृद्धाच्छः** से छ प्रत्यय हो गया। इस उदाहरण में **वृद्धिरादैच्** सूत्र ने इतना ही काम किया। इसी प्रकार यदि **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) के उदाहरणों में **शालीयः, भागः, अचैषीत्, पाठ्यम्, मार्ष्टि, कुम्भकारः, ऐन्द्री** इनकी सिद्धि समझा दी जावे, तो सातों प्रकार की सिद्धियां समाप्त हो जाती हैं। यह बात पढ़ने वाले के बलाबल पर निर्भर करती है।

सिद्धि से क्या लाभ है?

उपर्युक्त रीति से सिद्धि करने में यह लाभ है कि जितने सूत्र सिद्धि में

लगते हैं, उन सब का ज्ञान छात्र को साथ-साथ होता जाता है। अब तद्धित का कोई भी उदाहरण सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में आवेगा, उसकी सिद्धि अनायास ही समझाने पर छात्र समझ सकेगा, प्रक्रिया यही रहेगी। हां, सूत्र कहीं-कहीं दो चार भिन्न-भिन्न लगकर रूप सिद्ध होते रहेंगे। इसी प्रकार सातों प्रकार की सिद्धियों की एक-एक सिद्धि पूर्वोक्त रीति से सूत्र लगाकर समझ-समझा लेने से सिद्धि की आधारशिला बन जायेगी। यह निश्चय है कि यदि सिद्धि नहीं करेंगे, तो लाखों करोड़ों शब्दों के रूप रटने पड़ेंगे। जब हम उन लाखों करोड़ों शब्दों को वर्गीकरण द्वारा सात वर्गों में बांट देंगे, जो हम ऊपर दिखा चुके हैं, और पीछे हम एक-एक वर्ग के एक दो शब्दों की सिद्धि समझा देंगे, तो छात्र को अपने में अद्भुत शक्ति का आभास होने लगेगा। अतः सिद्धि ही परम अवलम्ब है। यही मूल कारण है कि जहां हम लघुकौमुदी आदि ग्रन्थों का खण्डन करते हैं, वहां अंग्रेजी ढंग (भण्डारकर आदि के क्रम) को भी हम अत्यन्त कठिन, अग्राह्य तथा परम रटनेवाला समझते हैं। उसमें भेद केवल इतना ही है कि अंग्रेजी पढ़ानेवाले समझाकर पढ़ाते हैं, केवल रटाते नहीं। समझा तो देते हैं, पर सब विषय स्मरण नहीं रह सकता। सूत्र उस लम्बी-चौड़ी बात को जरा से में कह देता है। इसका रहस्य एक बार बुद्धि में बैठ जाने पर पढ़नेवाला इस भण्डारकरादि को छूता भी नहीं। अतः सर्वोत्तम उपाय सूत्र-पद्धति से अर्थात् अष्टाध्यायी पद्धति से ही व्याकरण का यथार्थ और सुगम बोध होता है। और इसी से संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य पर वास्तविक अधिकार हो सकता है। यह हमारा दृढ़ अनुभव है, परीक्षित है, यों ही नहीं।

सिद्धि पढ़ाने में असमर्थों के लिये एक विकल्प

अध्यापक योग्य न हो, या छात्र को सुगम ढंग से पढ़ाने में असमर्थ हो अथवा पठनार्थी ही असमर्थ हो, और १०-२० दिन यत्न करने पर भी अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किया हुआ छात्र भी सिद्धि को ग्रहण ही न कर पावे (ऐसा ही बहुत कम होता है, वास्तव में उसे अष्टाध्यायी ठीक-ठीक याद होती नहीं), ऐसे असमर्थ छात्र को उस श्रेणी से अलग करके नई श्रेणी बना देनी चाहिए। उसे केवल सिद्धि का उतना ही विषय बताया जावे, जितना वह ग्रहण कर लेवे। जब तक वह प्रतिदिन की पढ़ाई सिद्धि को विना कापी देखे दोहरा न दे, तब तक आगे नहीं पढाना चाहिए। इस उदाहरण में इस सूत्र ने क्या काम किया, इतना तो अवश्य बता देवे। इस प्रकार प्रथम पाद में पहिले साधारण सिद्धि बताकर, जब प्रथम पाद समाप्त

हो जावे, तो पुनः सारी सिद्धि कराने का यत्न करें। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि आरम्भ में सिद्धि कराने से बहुत लाभ होता है। यद्यपि पढ़ानेवाले को परिश्रम बहुत करना पड़ता है, और छात्र को भी। परन्तु **'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'**=जो अच्छे लाभ के कार्य होते हैं, उनमें आरम्भ में कठिनाई अवश्य होती है, पर परिणाम में इससे अत्यन्त लाभ होता है।

इतना होने पर भी कोई अल्पबुद्धि या मन्दबुद्धि हो, या बन गया हो (क्योंकि मन्दबुद्धि प्रायः करके अध्यापक की असावधानी वा ढील से बनते हैं), तो उसे सामान्य रीति से सिद्धि बतलाकर तीसरे अध्याय के धातोः (३।१।९१) सूत्र से आगे पूरी सिद्धियां आरम्भ कर दें। इसमें स्वर के सूत्र भी लगा देने चाहियें। इस पर भी कुछ कमी रहे, तो प्रथमावृत्ति और द्वितीयावृत्ति के बीच में दश लकार और प्रक्रियाओं को सधवाते समय पूरी सिद्धि कराकर प्रयोगों को पूरा-पूरा सधवा दें।

यहां तक हमने अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये छात्रों के लिए प्रथमावृत्ति के विषय में लिखा। इसमें १॥या दो वर्ष लगते हैं। प्रौढ़ पठनार्थी तो और भी कम समय में कर लेते हैं। यह प्रथमावृत्ति तो हर एक को पढ़नी ही चाहिए। इतना पढ़कर संस्कृत पर अधिकार कर सकता है। अब आगे चलते हैं—

प्रथमावृत्ति और द्वितीयावृत्ति के मध्य में दश लकार, दश प्रक्रिया पढ़ें। प्रथमावृत्ति में बहुत सी धातुओं से बहुत से लकारों वा कृदन्त वा कृत्य प्रत्ययों में प्रयोगों की सिद्धि छात्र कर चुका है। धातुपाठ कण्ठस्थ होने पर एक-एक धातु से दश लकार और दश प्रक्रियाओं में प्रयोगों की सिद्धि और अभ्यास, उणादिकोष तथा सुबन्त सब विषय कराना होता है। इसमें प्रत्येक धातु से सब कृदन्त तथा कृत्य प्रत्ययों का भी अभ्यास करा देना चाहिये। इसमें माधवीय-धातुवृत्ति से काम लिया जा सकता है। यह सब विषय ६या ८ मास में हो जाता है। लिङ्गानुशासन तथा कुछ गण तथा फिट्सूत्र भी करा देने चाहियें।

जब तक अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति सम्पूर्ण पृथक्रूप में नहीं छप जाती[1], तब तक काशिका से सहायता लेकर (आनुपूर्वी से नहीं) प्रथमावृत्ति पढ़ायी जावे। उसमें पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-समासादि अपनी ओर से अध्यापक पढ़ावें। अष्टाध्यायी-भाष्य अजमेर मुद्रित में यही क्रम है। १—३ अध्याय तक उससे लाभ उठाया जा सकता है। काशिका में अर्थ और

---

१. ग्रन्थकार की यह अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति अब तीनों भागों में छप कर तैयार हो गई है।

उदाहरण ही प्रथमावृत्ति का विषय है। शेष प्रत्युदाहरण से लेकर आगे सब द्वितीयावृत्ति का विषय है। प्रथमावृत्ति में उसे छोड़ देना चाहिए। यह बात भली-भांति समझ लेना आवश्यक है। विदित रहे कि किसी-किसी गुरुकुल में भी हमने छात्रों को काशिका की वृत्ति रटते और रटवाते देखा है, जो अति निन्दित तथा मूर्खतापूर्ण बात है। ऐसे लोग स्वयं तो जानते नहीं, किसी से पूछने में अपनी मानहानि समझते हैं। ऐसे लोग विद्या के शत्रु ही कहे जा सकते हैं।

अष्टाध्यायी की द्वितीयावृत्ति

इतना हो जाने के पश्चात् सूत्र का प्रत्युदाहरण-शङ्का-समाधान-वार्त्तिक-कारिका-परिभाषा की घटनापूर्वक अष्टाध्यायी की द्वितीयावृत्ति पढ़ावें। इसमें 'अष्टाध्यायी-भाष्य' (आचार्य दयानन्दसरस्वतीकृत) तथा काशिका (महाभाष्य के विरुद्ध अंशों को छोड़कर) से सहायता ली जा सकती है, जब तक कि कोई प्रौढ़ अष्टाध्यायीभाष्य सम्पूर्ण तैयार न हो जावे। द्वितीयावृत्ति का अध्ययन ६ मास में या एक वर्ष में हो सकता है।

महाभाष्य का अध्ययन

जो अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करके प्रथमावृत्ति तथा द्वितीयावृत्ति को पूर्वोक्त रीति से पढ़ा हो, वह महाभाष्य सम्पूर्ण आठ अध्याय १॥ वर्ष में कर लेता है। दो वर्ष में श्रीमद्दयानन्द विद्यापीठ की सब संस्थाओं में अनेक छात्र सम्पूर्ण महाभाष्य की परीक्षा सफलतापूर्वक उत्तीर्ण कर चुके हैं। इसमें इतना ही कहना है कि पढ़नेवाला पहिले सूत्र के (महाभाष्य के) प्रकरण बांट दे, और उन में सर्वत्र सिद्धान्त-पक्ष छात्र को चिह्न करा दे। और इस विषय में महाभाष्य में जहां-जहां जो विषय आया हो, उसका निर्देश भी कराता जाये। या फिर एक बार सम्पूर्ण महाभाष्य की, एक-एक अध्याय करके छात्रों की परीक्षा ले ले। जो परीक्षा न दे, उसे न पढ़ा हुआ समझा जावे। वह आगे पढ़ा नहीं सकता। सो जब एक बार महाभाष्य समाप्त हो जावे, तो एक वर्ष और लगाकर महाभाष्य का पूर्वापरसम्बन्ध और एक-देशीय भाष्य तथा सिद्धान्त उत्तरों का विवेचन कराकर व्याकरण का विशेषज्ञ बना दे। महाभाष्य पढ़ाने में कैय्यट वा नागेश की व्याख्या कदापि न पढ़ानी चाहिए। मूल महाभाष्य पढ़ाकर छात्र में ऐसी क्षमता उत्पन्न कर देनी चाहिए कि वह कैय्यट और नागेश की व्याख्या भी स्वयं समझ

ले। अध्यापक पढ़ाते समय कैय्यट नागेश आदि को भले ही आवश्यकता पड़ने पर देख ले।

अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये हुओं के लिए प्रथमावृत्ति के पढ़ाने का प्रकार हमने बतलाया। श्रीमद्दयानन्द विद्यापीठ की सब संस्थाओं में प्रायः इसी क्रम से पढ़ाया जाता है। और विश्वासपूर्वक अनुभव के आधार पर इस क्रम को सब ठीक समझते हैं, और यही क्रम अपने यहां चला रहे हैं।

प्रौढ़ पठनार्थियों के विषय में धीरे-धीरे स्थिति सामने आने पर विचार-विनिमय हो चुका है, और हो रहा है। अष्टाध्यायी की सरलता तो सर्व-सम्मत है। इन विद्वानों के द्वारा देश में संस्कृत का उद्धार और महान् उपकार हो सकता है। संस्कृत-अध्ययन में यदि भारत में अष्टाध्यायी अनि-वार्य कर दी जावे, और इस पद्धति से पढ़ाने की व्यवस्था हो जाये, तो यह भी पञ्चवर्षीय योजना से किसी अवस्था में कम महत्व का कार्य नहीं है।।

प्रौढ़ पठनार्थियों के लिए शेष पाठ्यक्रम

संस्कृत-पुस्तक पढ़ाने का प्रकार

पहिले हम संस्कृत-पुस्तक के पढ़ाने के विषय में लिखते हैं। पश्चात् ५ मास के पाठ्यक्रम के विषय में लिखेंगे।

हम चौदहवें दिन के पाठ (सिंहावलोकन) के अन्त में सामान्यतया लिख चुके हैं कि तब तक आरम्भ के १४ दिन में संस्कृत-पुस्तक कैसे पढ़ाई जावे। अब हम पहिले ४४ दिनों के पाठों के साथ संस्कृत-पुस्तक के पढ़ाने का प्रकार और इस विषय में निर्देश उपस्थित करते हैं—

इसमें दो प्रकार के पठनार्थी हमारे सामने आते हैं—(१) एक वे हैं जो संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, और जिन्होंने बाल्यावस्था में उर्दू फारसी पढ़ी होती है। आर्यसमाज या किसी के सम्पर्क में आने पर कुछ हिन्दी पढ़ी होती है। वे अध्यापक की बताई हुई बात को नोट भी नहीं कर सकते। ऐसे सज्जनों को पहिले एक मास (वा न्यूनाधिक) में हिन्दी का अच्छा अभ्यास हो जाने पर ही संस्कृत-श्रेणी में सम्मिलित करना चाहिये। इनकी हिन्दी की श्रेणी तब तक अलग चलानी चाहिये, जब तक ये महानुभाव हमारे प्रथम पाठ के कलम, कलम, क्लम, कलम् आदि सयुक्त अक्षरों के शुद्ध उच्चारण तथा श्रुतलेख लिखने में ठीक समर्थ न हो जावें। पंजाब में प्रायः देखा गया है कि भूषण प्रभाकर वा सस्कृत की परीक्षा पास व्यक्ति भी शुद्ध उच्चारण और लेखन में भूल करते हैं। क्योंकि उन्हें ठीक समझाया नहीं होता।

(२) दूसरे वे व्यक्ति हैं जिन्हें हिन्दी का ठीक ज्ञान है। सत्यार्थप्रकाश शुद्ध पढ़ लिख सकते हैं। संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इन्हें भी अष्टाध्यायी के सूत्रों के पढ़ने और श्रुतलेख (बोलने पर शुद्ध लिखने) का अभ्यास होना आवश्यक है। आरम्भ में दो-तीन दिन में इनका अभ्यास करा लेना चाहिये।

(३) तीसरे वे व्यक्ति हैं, जो मैट्रिक तक संस्कृत पढ़ें हैं। उनको नाम वा आख्यात (क्रियावाची) पदों का कुछ-कुछ ज्ञान होता है। सो इन तीनों प्रकार के पठनार्थियों में पहिले दो को तो हम एक में ही गिन लेते हैं। क्योंकि हिन्दी का उपर्युक्त रीति से ज्ञान होने पर ही हम संस्कृत आरम्भ कराते हैं। सो संस्कृत से अनभिज्ञ तथा संस्कृत का मैट्रिक तक ज्ञान रखनेवाले दो

प्रकार के पठनार्थी हमारे सामने हैं। अब इनको संस्कृत कैसे पढ़ाई जावे, यह हम उपस्थित करते हैं—

(१) संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ को हमारे १४वें पाठ में दर्शाये ढंग से पढ़ना-पढ़ाना चाहिये। इसके लिए पाठचक्रम में 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' (वैदिक यन्त्रालय अजमेर मुद्रित), या पं० जे० पी० चौधरी कृत 'संस्कृतप्रवेशिका' (मिलने का पता—चौधरी एण्ड सन्स, नीचीबाग वाराणसी), अथवा के० एल० वी० शास्त्री कृत 'संस्कृतबालादर्श'—प्रथमादर्श-द्वितीयादर्श-तृतीयादर्श चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से मिलती है। प्रकाशक—आर० एस० विद्यासागर एण्ड सन्स बुकसेलर्स, कालपति पालघाट-३, दक्षिण भारत), अथवा इसी प्रकार की और काई उपयोगी पुस्तक पढ़ाई जा सकती है।

एक दिन संस्कृत से हिन्दी, दूसरे दिन हिन्दी से संस्कृत में अनुवाद तथा शब्दकोश का थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करते-कराते चलना चाहिये। जब संस्कृतवाक्यप्रबोध तथा संस्कृतबालादर्श का प्रथम भाग समाप्त हो जावे, तब ४४ दिन के पाठों के साथ संस्कृतबालादर्श का दूसरा भाग पूर्वोक्त रीति से पढ़ाया जावे। इसके साथ-साथ या पश्चात् मनुस्मृति के तथा गीता[1] के दूसरे अध्याय के श्लोक जितने साथ-साथ हो सकें, कराने चाहियें।

इसमें मैट्रिक की योग्यतावाले भी साथ-साथ चल सकते हैं। इसमें इतना और करना चाहिये कि नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात के भेद तथा इनके अवान्तर भेद भी साथ-साथ बताने चलना चाहिये। नाम में कौनसा कारक, कौन विभक्ति, कौन वचन तथा किस शब्द के समान इसके रूप चलेंगे इतना ज्ञान, और आरम्भ से ही संस्कृत-पुस्तक में पठनार्थियों को अभ्यास करने-कराने चलना चाहिये। आख्यात मे भी कौन धातु किस गण का, कौनसा लकार, कौन वचन, यह दर्शाते चलना चाहिये। आरम्भ के ८-१० पाठ पढ़ाने के पश्चात् पठनार्थी यह समझने लग जाता है। अध्यापक इस बात का ध्यान रखें कि उधर जो प्रकरण पढ़ाया जा रहा है, अगले दिन संस्कृत-पुस्तक में उसी का अभ्यास अधिक कराया जावे। यदि पुस्तक में ऐसे स्थल न हों, तो वे स्वयं ऐसे वाक्यनिर्माण करके संस्कृत से हिन्दी तथा हिन्दी से संस्कृत अनुवाद, तथा पठित के आधार पर शब्द-कोश लिखाते

---

१. विदुरनीति से भी यह काम लिया जा सकता है। विदुरनीति का पदार्थ और व्याख्या सहित मुद्रण वेदवाणी में हो चुका है। और रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) से इसका पुस्तकाकार मुद्रण भी हो चुका है।

जावें ।४४दिन में सभी विषयों में सामान्य ज्ञान अवश्य हो जावेगा । भाव-कर्म-प्रक्रिया का अभ्यास अन्त में विशेषरूप मे कराया जावे, जिससे अनुवाद करने में पठनार्थी की ठीक गति चल पड़े ।

४४ पाठों के बीच में (चौदह पाठों के पश्चात्) तथा अन्त में छात्रों की लिखित परीक्षा भी अवश्य ली जावे । प्रतिदिन पहिले पाठ में से दो-चार मिनट प्रश्न अवश्य पूछने चाहियें ।

जो सज्जन प्रतिदिन एक घंटा ही समय लगा सकते हैं, उन्हें आरम्भ में एक मास तक ४० मिनट संस्कृत और २० मिनट तक संस्कृत-व्याकरण पढ़ाया जावे । एक मास के पश्चात् आधा घंटा संस्कृत पुस्तक तथा आधा घंटा संस्कृत-व्याकरण पढ़ाना होगा । ऐसे सज्जन सामान्यतया (विशेष योग्यों को छोड़कर) ६ मास के स्थान में एक वर्ष में यह पाठ्यक्रम समाप्त कर पायेंगे ।

यह हमने ४४ दिन के पाठों के साथ संस्कृत-पुस्तक पढ़ाने के विषय में लिखा । आगे५मास तक का पाठ्यक्रम सामान्यतया यही है कि जो प्रकरण[1] व्याकरण-विषय में हम पढ़ाते चलें, उन्हीं के अभ्यासार्थ संस्कृत-वाक्यसंग्रह, अनुवाद तथा शब्द-कोश का अभ्यास कराते चलें । प्रतिदिन के पाठों में प्रश्नों के द्वारा भी अभ्यास कराते चलना चाहिये । शब्द-कोश भी तदनुसार ही संगृहीत कराते जाना चाहिये । १५ दिन में पढ़े विषय का सिंहावलोकन बहुत लाभकर रहता है ।

४४ दिन के पश्चात् ५ मास में संस्कृत-पुस्तक का पाठ्यक्रम

४४दिन में संस्कृतबालादर्श के दो भाग तथा गीता मनुस्मृति के द्वितीयाध्याय के कुछ श्लोक,तथा संस्कृतवाक्यप्रबोध का कुछ भाग हो चुकता है ।

अब आगे हम ५ मास के संस्कृत-पुस्तक का पाठ्यक्रम सामान्य रीति से लिखते हैं । इसका विभाग अध्यापक पठनार्थियों की योग्यता से करलें ।

---

१. इसके लिये कई सज्जन हमें प्रत्येक पाठ के अन्त में संस्कृत के अभ्यासार्थ अनुवाद-वाक्य-संग्रह करने को कह रहे हैं। पर हमें प्रत्येक पाठ के अन्त में ऐसा करने में पठनार्थियों की दृष्टि से कुछ कठिनाई की संभावना प्रतीत होती है । सो हमें यदि अवकाश मिला, तो हम इस विषय में पृथक् एक संग्रह कर देना चाहते हैं । इन ४४ पाठों को पढ़ें सज्जन हमें इस विषय में अपना विचार लिखें, तो और अच्छा है । उपर्युक्त दोनों पुस्तकों की कठिनाई यदि हो, तो वह भी दर्शायें ।

प्रथम २॥ अढ़ाई मास का संस्कृत पाठ्यक्रम

(१)	संस्कृतबालादर्श १-२ भाग, पूर्वोक्त	अङ्क १०
(२)	मनुस्मृति अ० २ के १०० श्लोक (गीता प्रेस का छपा)	१०
(३)	गीता अ० २ (गीता प्रेस का छपा)	१०
(४)	संस्कृतवाक्यप्रबोध आधा (वैदिक यन्त्रालय अजमेर)	१०
(५)	संशोधित पञ्चतन्त्र, प्रथम तन्त्र (चौखम्बा पुस्तकालय बनारस नं० १)	१५
(६)	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका[1] (वेदविषय के तीन प्रकरण)	१५
(७)	अनुवाद—अनुवादचन्द्रिका के आधार पर (मोतीलाल बनारसी दास नैपाली खपरा बनारस से मुद्रित)	२०
(८)	व्युत्पत्तिप्रदर्शन तथा पत्र लिखना।	१०
		१००

शेष २। अढ़ाई मास का संस्कृत पाठ्यक्रम

(१)	पञ्चतन्त्र संशोधित द्वितीय तन्त्र (चौखम्बा बनारस से मुद्रित)	अङ्क १५
(२)	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका[1] ३ प्रकरण	१०
(३)	संस्कृतवाक्यप्रबोध शेष आधा (वैदिक यन्त्रालय अजमेर)	७
(४)	ईश तथा केन उपनिषद्	१३
(५)	ऋग्वेद का प्रथम सूक्त, तथा यजुर्वेद का ३२वां अध्याय (ऋषि दयानन्द कृत भाष्य)	१५
(६)	अनुवाद(अनुवादचन्द्रिका के आधार पर)तथा संस्कृत-भाषण	२०
(७)	निबन्ध	२०
		१००

संस्कृत-परीक्षा पासवालों को, मैट्रिक तथा संस्कृत पढ़ों को इसमें स्वभावतः बहुत सुगमता रहेगी।

इन सब में जो-जो प्रकरण अष्टाध्यायी में पढ़ चुके हैं, उन-उन का अभ्यास कराते चलें। प्रत्येक पुस्तक के संस्कृत-वाक्यों में व्याकरण का अभ्यास प्रतिदिन कराते चलना चाहिये। संस्कृत जाननेवाले स्वयं अभ्यास करें।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का एक सुन्दर शुद्ध और सटिप्पण संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) से स्थूलाक्षरों में बड़े आकार में छप चुका है।

संस्कृत-पुस्तक के विषय में विशेष वक्तव्य

हमने इस विषय की अनेक पुस्तकें छोटी-बड़ी संगृहीत कीं, और उन्हें देखा। उनमें पूना की छपी भण्डारकर की प्रथम पुस्तक तथा द्वितीय पुस्तक सन् १८६४ तथा १८६८में प्रथम बार छपो ही मुख्य है। पीछे लिखी जानेवाली सभी पुस्तकों में न्यूनाधिक इसी की शैली का अनुकरण किया गया है। भण्डारकरकृत उक्त पुस्तक का निर्माण प्रेसीडेन्सी कालेज पूना के अधिकारियों, विशेषकर मि० हाग की प्रेरणा से हुआ, और इसका रूप भी उनके द्वारा निश्चित होकर छपा। इतना तो हम मानने को तैयार हैं कि केवल अंग्रेजी जाननेवालों के लिये यह पुस्तक (दोनों भाग) उपयोगी और लाभकारी हैं। अंग्रजी जाननेवाले इससे सहायता लें। पर हम अपने अनुभव के आधार पर यह कह सकते हैं कि सूत्र-पद्धति (अष्टाध्यायी-पद्धति) इस भण्डारकर-पद्धति से अत्यन्त सरल और सुबोध है। सूत्र द्वारा जो बात थोड़े से में छात्र समझ लेता है, उसे भण्डारकर की व्याख्या पढ़कर उपस्थित करने में अत्यन्त कठिनाई होती है। यतः अंग्रेजीवाले समझकर पढ़ते और पढ़ाते हैं.इससे उनके लिए यह भण्डारकर-पद्धति लघुकौमुदी,मध्य सिद्धान्तकौमुदी की पद्धति से पर्याप्त सरल तो है, पर भण्डारकर पद्धति में भी पठनार्थी को सब कुछ याद करना पड़ता है, जो अष्टाध्यायी-पद्धति से अधिकार और अनुवृत्ति के आधार पर अनायास थोड़े परिश्रम से बहुत बोध और वह बुद्धि में शीघ्र बैठ जाने से अधिक काल तक उपस्थित भी रह जाता है। विस्मृत हो जाने पर भी अष्टाध्यायी देखनेमात्र से झट उपस्थित होने लगता है। यही एक रहस्य की बात है, जो अष्टाध्यायी-पद्धति में है, और किसी पद्धति में नहीं।

भण्डारकर के पश्चात् इस विषय में लिखी जानेवाली प्रायः सभी पुस्तकों में भण्डारकर की नकल की गई है। हां, संस्कृत वा शब्दसंग्रहादि में भेद किया गया है,पद्धति में कुछ भेद नहीं। अतः ये सब की सब भण्डारकर के अन्तर्गत समझनी चाहियें। इन सब में मुख्यतया रटना ही पड़ता है। सो भी अत्यन्त रटना पड़ता है, हाँ कौमुदी से कम।

इस ६ मास की श्रेणी में यदि पहिले कुछ २५-३० मुख्य-मुख्य सुबन्त शब्दों के रूप[1] अर्थ समझकर स्मरण हो जावें,साथ में १०गणों के मुख्य-मुख्य थोड़े से धातुओं के (अर्थ समझपूर्वक)रूप स्मरण हो जावें,तो हमारे विचार

---

१. शब्दरूपावली भी रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत) से छप गई है।

में भण्डारकर वा इस पद्धतिवाली सभी पुस्तकों से यही अच्छा हो सकता है। इतना हो जाने पर संस्कृत की पुस्तक और अनुवाद आरम्भ किया जा सकता है। यह भी एक प्रकार संस्कृत पढ़ने-पढ़ाने का है। भिन्न-भिन्न योग्यता तथा परिस्थिति के पठनार्थियों में जो भी ठीक बैठ जावे, वह ६ मासवाली श्रेणी के लिये ग्राह्य हो सकता है। नियमानुसार अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करनेवालों का ढंग तो दूसरा ही चलेगा। उन्हें संस्कृत-अनुवाद पृथक् ही पढ़ना होता है। इनको तो संस्कृत-भाषण का नियम कर देने से बहुत लाभ होता है।

संस्कृत-पुस्तक के विषय में पढ़ने-पढ़ाने पर हमने अपने विचार अति-संक्षेप से लिखे हैं। पाठक और कुछ ज्ञातव्य समझें, तो पूछ सकते हैं।

संस्कृत-भाषण का अभ्यास सुगमता से हो सकता है, यदि अध्यापक श्रेणी में संस्कृत में बोलने का नियम कर दें, और पठनार्थी घर पर संस्कृत बोलने का अभ्यास करें।

संस्कृत इतनी सरल है कि रसोई बनानेवाले तक संस्कृत समझ लेते हैं। मैंने अपने एक पाचक (जो थोड़े दिनों से मेरे पास था) से पूछा 'जलं कुत्रास्ति'? उसने झट उत्तर दिया—'जलम् उत्रास्ति'। यदि थोड़ा-थोड़ा बताते चलें, तो वह अंग्रेजों के बहरों की अंग्रेजी से कहीं अधिक संस्कृत बोल लेगा। संस्कृत-भाषण का नियम करना परमावश्यक उपाय है।

४४ दिन के पश्चात् ५ मास का पाठ्यक्रम

अब हम प्रकरणों का आरम्भ करते हैं—

(१) वर्णोच्चारणशिक्षा

अजमेर मुद्रित ४-५ दिन में सब पढ़ा दें। बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्नों पर अभ्यास करा दें। और प्रत्येक वर्ण के स्थान और प्रयत्न का अच्छी तरह अभ्यास करा दें। आगे जहां-जहां काम पड़े, वहां-वहां समझाते चलें।

(२) पठ् भू एध् प्रकरण

१० लकारों में पठ्-भू-एध् धातुओं के सब रूप सिद्धि-सहित पढ़ाने हैं। इसमें आख्यातिक के क्रम से सूत्रों को प्रथमावृत्ति के ढंग से, अर्थात् पदच्छेद-विभक्ति-समास(अनुवृत्ति, अधिकार)अर्थ-उदाहरण-सिद्धिसहित अष्टाध्यायी[1]

---

[1] यह विषय इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में भी दिया है। उससे सहायता लेने में सुगमता होगी।

पर से पढ़ावें । हां, भूलने पर छात्र आख्यातिक से देख लें । यह एक सप्ताह में या अधिक से अधिक १० दिन में किया जा सकता है । इसमें परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों का ही ज्ञान हो जायेगा । लिट् और लुङ् कुछ कठिन पड़ेगा । सो वह भी करा देना ठीक होगा,ताकि आगे काम दे । यह प्रकरण पाठ सं० ३५-३६ के आधार पर आख्यातिक की सहायता से पढ़ें ।

(३) अष्टाध्यायी प्रथमपाद प्रथमावृत्ति

प्रथमाध्याय प्रथम पाद में संज्ञा और परिभाषा के सूत्र हैं (इनमें २७ से ३५ तक, तथा ५६, ५७ तथा ७४ सूत्र छोड़े भी जा सकते हैं) । सो उपर्युक्त रीति से १०-१२ दिन में अच्छी तरह हो सकते हैं । ४४ दिन के पाठ के पश्चात् तो ७ दिन में अच्छी तरह हो सकते हैं,अधिक से अधिक १० दिन में । इसका लाभ यह है कि सात प्रकार की सिद्धि का ढंग इस प्रकरण में पूरा आ जाता है, और आगे कठिनाई नहीं रहती ।

(४) सन्धि-प्रकरण

इस विषय में प्रारम्भिक सन्धिज्ञान हम पाठ २२,२३में दर्शा चुके हैं । यह सन्धिप्रकरण भी अष्टाध्यायी में दो स्थलों में सम्पूर्ण आ जाता है । पहिले ६।१।७० से १५१ तक ८१ सूत्र प्राय: अच् सन्धि के हैं । आगे पुनः ८।२।१०८ से ८।४।६६ तक १८५ सूत्र हल्‌विसर्ग सन्धि के हैं । सन्धि-विषय में संज्ञा और परिभाषा के सूत्र और हैं, जिन्हें पठनार्थी प्रथम पाद में प्रायः पढ़ चुके हैं ।

सो इन दोनों प्रकरणों में चाहें तो बहुत कम कार्य में आनेवाले सूत्र छोड़ दें । ४० सूत्र अच् सन्धि के पढ़ा दें, लगभग ६० सूत्र हल्‌सन्धि के, २० सूत्र विसर्गसन्धि के भी । यदि पठनार्थी योग्य हो,तो सन्धिविषय के सब सूत्र पढ़ा दें, नहीं तो १५० सूत्र पढ़ा दें । इसमें १०-१२ दिन से अधिक समय नहीं लगता । ये सब सूत्र पढ़ाने अष्टाध्यायी पर से ही हैं । हां, पीछे आवश्यकता पड़ने पर, वा भूल जाने पर, वा अष्टाध्यायी पर समझ लेने के पश्चात् सन्धिविषय में भी देख सकते हैं। यह विदित रहे कि सन्धिविषय में सूत्र का अर्थ उदाहरण ही समझें । आगे जो प्रत्युदाहरण या शङ्कासमाधान है, वह द्वितीयावृत्ति का विषय है । वह अभी ६ मास के पठनार्थी को नहीं पढ़ना है । यह बात प्रौढ़ पठनार्थी को वेदाङ्गप्रकाश के आगे के भागों में भी ध्यान में रखनी है। इसको न समझकर कोई-कोई अनाड़ी अध्यापक वेदाङ्ग-प्रकाश में लिखे सूत्रों का सभी विषय आरम्भिक विद्यार्थी को भी बलात्

(जबरदस्ती चाहे समझ सके वा न समझ सके) पढ़ाते हैं, जिससे वह पठ-नार्थी वेदाङ्गप्रकाश द्वारा ग्रहण नहीं कर पाता, अन्त में छोड़ बैठता है।

सन्धिविषय, नामिक, आख्यातिक आदि प्रौढ़ पठनार्थियों के लिए बहुत सहायक हैं। क्योंकि हिन्दी में होने से इनमें महान् लाभ उठाया जा सकता है। कौमुदी से पढ़ा पण्डित इनके महत्त्व को समझ नहीं सकता।

(५) नाम (=सुबन्त) नामिक के आधार पर

इसमें पहिले ३२, ३३, ३४ पाठ देखें। आगे नामिक के क्रम से पहिले उत्सर्ग अजन्त और हलन्त शब्द सिद्धि-सहित, पीछे शेष बचे सब शब्द सिद्धि सहित करा देने हैं। प्रत्येक सूत्र मूल अष्टाध्यायी पर से अनुवृत्ति अधिकार और सिद्धिसहित पढ़ाना है। हां, नामिक से सहायता ले लेनी है। शब्दों का क्रम नामिक के अनुसार ही रखना है। नामिक के अप्रसिद्ध शब्द वा सूत्र को छोड़ सकते हैं। इसमें २० दिन लगाने चाहियें। यह बहुत परिश्रम से समझा कर चलना चाहिये। इसमें बहुत लाभ होता है। पठनार्थी अपनी मूल अष्टाध्यायी पर सूत्र पढ़ते समय अध्यापक से अधिकार और अनुवृत्ति का पूरा ज्ञान, और लाल पैन्सिल से चिह्न करते चलें। जो अध्यापक न बता सके, उन से न पढ़ें। अष्टाध्यायी-क्रम से पढ़ा, अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किया विद्वान् ही छात्र को सन्तोष करा सकेगा, यह निश्चित है।

(६) कारक तथा विभक्ति-प्रकरण

कारक-प्रकरण अष्टाध्यायी में (१।४।२३ से ५५ तक) ३३ सूत्रों का है। उधर (२।३।१ से ७३ तक) ७३ सूत्र विभक्ति-प्रकरण के हैं। ये दोनों एक ही स्थान में हैं, और सम्पूर्ण हैं। इस विषय में पहिले अपादानादि कारक संज्ञा कही हैं। २।३ में कर्म में द्वितीया और अपादानादि में पञ्चमी आदि विभक्ति कही है। शेष सूत्रों में विना कर्म और अपादान के द्वितीया और पञ्चमी विभक्ति कहां-कहां और कब-कब होती हैं, यह कहा है। इस प्रकार द्वितीया और पञ्चमी आदि विभक्ति के प्रकरण एक ही जगह समाप्त हो जाते हैं। बस इन दोनों स्थलों में कारक और विभक्ति-प्रकरण पूरा हो जाता है। यह एक साथ होने से पूर्वोक्त रीति से अष्टाध्यायी पर से ही पढ़ाना चाहिये। इस विषय में १५-१६वें पाठ में देखें। इस प्रकरण में ७० सूत्र पढ़ाये जा सकते हैं। कारक और विभक्ति-प्रकरण में काशिका या कारकीय से सहायता ले लें।[1]

---

१. यह विषय इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में भी देखें।

(७) समास-प्रकरण

समास का संक्षिप्त विषय १७वें पाठ में देखें। यह विषय अष्टाध्यायी में एक ही स्थल पर मिल जाता है। २।१।१ से २।२।३८ तक चारों प्रकार के समास-विधायक सूत्र हैं। उधर ५।४।६८ से १६० तक समासान्त-प्रकरण है, अर्थात् समास हो जाने पर समास के अन्त में कौन-कौन प्रत्यय कब-कब होता है, यह प्रकरण है। समास का तीसरा स्थल ६।३।१ से ३७ तक अलुक् प्रकरण है, और उत्तरपद का अधिकार पाद के अन्त तक जाता है। समास का पूर्ण विषय इतना ही है।

इस प्रकरण में सब से मुख्य और सर्वप्रथम यह बात समझ लेने की है कि समासविधायक सूत्र द्वारा अमुक सुबन्त अमुक समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होकर अमुक समास हो जाता है। इसमें उपसर्जन पहले आता है। समास में प्रातिपदिक के दोनों के दोनों पहिले सुपों का लुक् होकर प्रातिपदिक संज्ञा से नया सुप् आता है। इसमें जो सूत्र अधिक काम में नहीं आते, उन्हें छोड़ा जा सकता है। लगभग ४० सूत्र इस प्रकार के एक सप्ताह में अच्छी तरह समझाये वा पढ़ाये जा सकते हैं।

(८) आख्यात (=क्रियावाची शब्द)-प्रकरण

इस विषय में पठनार्थी ६, १०, ११, १२, १३, १४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९ और ४० इन पाठों को एक बार स्वयं पुनः देख लें। आगे ५ मास के क्रम में भी नं० २ पठ् भू एध् का प्रकरण भी देख लें। इससे आगे का क्रम चलाने में बहुत सुगमता हो जायेगी। अब वैदिक यन्त्रालय अजमेर का आख्यातिक लेकर पहिले भू एध् की पूरी सिद्धि विना आख्यातिक के पठनार्थियों द्वारा करवावें। पीछे उन्हें कहें कि आख्यातिक भी देख लो। यह सब सूत्र पठनार्थियों ने अष्टाध्यायी पर से पढ़ने हैं। इस अवसर पर हम पठनार्थियों को यह परामर्श देंगे कि वह वैदिक यन्त्रालय अजमेर का छपा अष्टाध्यायीभाष्य[1] दोनों भाग प्राप्त कर लें। साथ ही काशिका भी पठनार्थी के पास अवश्य होनी चाहिये। उसमें प्रत्युदाहरण से पहिले-पहिले अर्थात् उदाहरण और उसकी सिद्धि तक प्रथमावृत्ति का विषय है। प्रौढ़ पठनार्थी इससे आगे काशिका में क्या लिखा है, उसको देखें भी नहीं। व्यर्थ में बुद्धि खराब क्यों करें? उदाहरण से आगे का विषय द्वितीयावृत्ति का है। काशिका

---

१. इसकी अपेक्षा ग्रन्थकारकृत अष्टाध्यायीभाष्य प्रथमावृत्ति अधिक उपयोगी है। वैदिक यन्त्रालय का अष्टाध्यायीभाष्य अधूरा (केवल तीसरे अध्याय तक) भी है।

में से महाभाष्य के विरुद्ध अंश को छोड़ दें। काशिका का बड़ा लाभ यह है कि उसमें सब के सब सूत्र, उनका अर्थ और उदाहरण मिल जायेंगे, जो सम्प्रति अन्यत्र कहीं नहीं मिलेंगे।[1] पदच्छेद-विभक्ति का ज्ञान इस समय तक छात्रों को हो चुका है। वे स्वयं समझ सकते हैं, अध्यापक से स्वयं भी पूछ लें। हां, वृन्दावन[2] की छपी मूल अष्टाध्यायी से अधिकार और अनुवृत्ति का ज्ञान (जो-जो सूत्र भी पढ़ें उनमें) साथ-साथ अवश्य करना चाहिये। चिह्न अपनी मूल अष्टाध्यायी (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित) पर ही लगावें। इसमें विशेष रहस्य की बात है। कण्ठस्थ किये या विना कण्ठस्थ करनेवालों के लिए इस अष्टाध्यायी पर प्रतिदिन अभ्यास करना विशेषरूप से लाभप्रद है, यह अनुभव की बात है।

अब रहा भू एध् से आगे कैसे चला जावे ? सो जो तो सुबोध होवें, वे तो दो मास में ही १०गण कर सकते हैं। क्योंकि इस विषय में लगभग१५० सूत्र इनके हो चुके हैं। जो इतना न कर सकें, उनकी दृष्टि से ३०० धातु जो बहुत ही प्रसिद्ध हैं, करा दें। इनमें १२५ भ्वादिगण के, शेष १७५ सब गणों के करा दें। यह ध्यान रहे कि इसमें ३०० सूत्र नये और जानने के लिए बचते हैं, सो दो मास में सब नहीं हों, तो २०० तो अच्छी तरह हो सकते हैं। वार्त्तिक छोड़ सकते हैं। धातु का विषय बहुत ही काम का है। इसका जितना ही अभ्यास होगा, उतना ही संस्कृत की पुस्तक समझने और अनुवाद करने तथा संस्कृत लिखने में अधिक लाभ होगा। कहना यह है कि धातु का विषय जितना ही अधिक कर लेंगे, उतना ही अधिक लाभ होगा। इतने धातुओं के १५ प्रत्ययों में भी रूप बनाने चाहियें, जो १६वें पाठ में बताये गये हैं। छात्र में इतनी योग्यता होनी चाहिये, कि संस्कृत की पुस्तक में आये तिङन्त पदों के धातु तथा लकार का ज्ञान वह कर सके, और सामान्यतया सिद्धि भी। संस्कृत पढ़ाते समय अध्यापक इस विषय में छात्र को अवश्य बताते चलें। यही बात सुबन्त (नाम) के विषय में भी विशेष ध्यान देने योग्य है। हमारा विश्वास है कि इस विषय में छात्र स्वयं भी आगे-आगे समझता जायेगा। थोड़ासा सहारा अध्यापक का चाहिए।

---

१. अब ग्रन्थकार कृत अष्टाध्यायीभाष्य (प्रथमावृत्ति) के सम्पूर्ण छप जाने से काशिका की भी आवश्यकता नहीं रही।

२. यह मूल अष्टाध्यायी बहुत उपयोगी है। हमने इसकी सैकड़ों प्रतियां पठनार्थियों तक पहुंचाईं। यह पुस्तक पड़ी सड़ रही थी, काम में आ गई। अब यह सर्वथा अप्राप्य है। वृन्दावनवाले इसे छापने को तैयार नहीं। प्रतीत होता है कि इसका भी शुद्ध संस्करण हमको ही निकालना पड़ेगा। पुस्तक किसी भी मूल्य पर नहीं मिल रही है।

पठनार्थी अपठित धातुओं के रूप भी १० लकारों में, और कम से कम १५ मुख्य कृदन्त प्रत्ययों में सूची में देखकर भी बना सकेगा। कहीं-कहीं कठिनाई प्रतीत होगी, अध्यापक के सहयोग से वह भी दूर होती रहेगी।

(६) कृदन्त-प्रकरण

इसके पश्चात् पठनार्थी को २६, २७, २८, २९वें कृदन्त के पाठों का पुनरवलोकन करके आगे प्रसिद्ध अधिक काम में आनेवाले प्रत्ययों को पढ़ लेना चाहिये। इसमें छात्र लगभग १५० सूत्र तो पढ़ चुका है, शेष ३०० मुख्य-मुख्य सूत्र और पढ़ा दें। कृदन्त में एक आवश्यक बात समझ लेनी है। कि **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (३।१।९२) यह सूत्र कहता है कि तत्र=यहां से लेकर धातु अधिकार (३।४।११७) तक सूत्रों में जो सप्तमीविभक्तिस्थ पद है, उसकी प्रायः 'उपपद' संज्ञा होती है। जैसे—**कर्मण्यण्** (३।२।१) (**कर्मणि**७।१।। **अण्**१।१।।)**कर्मणि**=कर्म उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। कुम्भं करोति,कटं करोति=कुम्भकारः,कट-कारः। कुम्भ (घड़े) और कट (चटाई) को बनानेवाला यह अर्थ हुआ। **वयसि च** (३।२।१०) में 'हरतेः' '**अच्**' और '**कर्मणि**' की अनुवृत्ति आती हैं। सूत्र का अर्थ बना—**कर्मणि उपपदे हरतेः धातोः वयसि च अच् प्रत्ययः** (भवति) **परश्च**=कर्म उपपद होने पर हृ धातु से वयस् अर्थ प्रतीत होने पर 'अच्' प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। यहां 'कर्मणि' का अर्थ 'कर्म' उपपद होने पर है। वयसि में भी ७ वीं विभक्ति का एकवचन है। पुनरपि यहां 'वयसि' का अर्थ 'वयस्' उपपद होने पर ऐसा नहीं। अपितु वयस् (=यौवनादि) गम्यमान हो(अर्थात् यौवनादि कहने पर)तो अच् प्रत्यय होता है। सो यहां कर्मणि की अनुवृत्ति होने से 'कर्म उपपद होने पर' ऐसा अर्थ हो गया। 'वयसि' में उपपद का सम्बन्ध नहीं जुड़ता। इसी प्रकार यह बात यत्र-तत्र सूत्रों के अभ्यास द्वारा समझा देनी चाहिये। स्वयं पढ़नेवाला अष्टाध्यायी-भाष्य में से देख लें। इस प्रकरण को ऐसा कराना चाहिये, जिससे संस्कृत-भाषण-लेखन का उत्साह और अभ्यास पठनार्थी को स्वयं दिन-प्रतिदिन अधिक बढ़ता जावे। इस प्रकरण के सूत्र **धातोः** ३।१।९१ से ३।४।११७ तक एक ही स्थान पर हैं। इनमें से सिद्धि में बहुत से सूत्र पठ-नार्थी पढ़ चुका है, कहीं-कहीं कोई नया सूत्र भले ही लगेगा। यह प्रकरण वास्तव में व्याकरण का प्राणभूत है,अतएव बड़े महत्त्व का है। इस प्रकरण में २० दिन लगाने चाहियें।

(१०) स्त्री-प्रत्यय और तद्धित-प्रकरण

इस विषय में ३०वां और ३१ वां पाठ पुनः देख लें। स्त्री-प्रकरण में २५ सूत्र प्रसिद्ध-प्रसिद्ध करा दें। तद्धित में उत्सर्ग सूत्र (बहुत काम में न आनेवालों को छोड़कर) करा दें। लगभग १०० सूत्र तक हो सकते हैं। आवश्यक उदाहरणों की दृष्टि से सूत्रों का निर्वाचन कर लिया जावे। वैसे तद्धित-प्रकरण बहुत ही काम का प्रकरण है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रकरण का भारी महत्त्व है। जो लोग तद्धित-प्रकरण को निरर्थक समझकर छोड़ देते हैं, वे भारी भूल करते हैं। यह नितान्त अज्ञानमूलक है। यहां तो हमारे पास तद्धित के लिए ५ दिन, और स्त्री-प्रत्यय के लिए २ दिन, कुल ७ दिन हैं। सो इसी में १२५ सूत्रों का बोध हमें करा देना है।

कुछ आवश्यक निर्देश

(१) हमने जो प्रारम्भ में ४४पाठ लिखे हैं। इनके विषय में कुछ महानुभाव पूछते हैं कि ये पठनार्थी की दृष्टि से लिखे गये हैं, या अध्यापकों अर्थात् पढ़ानेवालों की दृष्टि से। हमारा कहना यह है कि ये ४४ पाठ मुख्यतया पठनार्थियों की दृष्टि से लिखे गये हैं। अर्थात् पढ़नेवाले इस क्रम से पढ़ते जायेंगे, तो उनको बहुत सुगमता होगी, समझने में विशेष कठिनाई न होगी। हमारी व्यवस्था से संचालित श्रेणी में, चाहे वह काशी में हो या बाहिर, ये ४४ पाठ पढ़ लेने के पश्चात् पठनार्थी आगे स्वयं भी बहुत कुछ पढ़ सकते हैं। पर ये ४४ पाठ तो यदि मुझ से ही पढ़ लिए जावें, तो सर्वोत्तम बात है। यतः यह अवस्था हर एक के लिए सुप्राप्य नहीं। ऐसी अवस्था में पठनार्थी पत्रव्यवहार द्वारा पहिले अपनी आयु,योग्यता (हिन्दी वा अन्य भाषा की) संस्कृत का ज्ञान वा कौन-कौन पुस्तकें और कब पढ़ी हैं? जिन अध्यापक महानुभावों से पढ़ना चाहते हैं, वे संस्कृत की योग्यता कहां तक रखते हैं? अष्टाध्यायी उन्हें कण्ठस्थ है वा नहीं? निश्शुल्क पढ़ावेंगे वा सशुल्क? कितना समय पढ़ाने में देंगे? इत्यादि पूरा परिचय दें। ४४ पाठों के पश्चात् तो सम्भवतः बहुत से विद्वान् ऐसे मिल जावेंगे, जो हमारे द्वारा प्रदर्शित ५ मास के पाठ पढ़ा सकें। पर इस में से दो मास तक की पढ़ाई का सब विवरण हमारे पास लिखकर भेजते रहें,तो भी बहुत कुछ सहायता हो सकती है। यह आवश्यक है कि पढ़नेवाले महानुभावों को हमारे द्वारा प्रदर्शित-इस क्रम या शैली में हृदय से प्रेम और आस्था हो। ४४ पाठों के विषय में कठिनाई अवश्य है, पर पत्रव्यवहार द्वारा कुछ परामर्श किया जा

सकता है। इन दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए हमने अध्यापक के लिए भी तत्-तत् स्थानों में निर्देश देने का प्रयास किया है। हमारे इस प्रौढ़ पठनार्थियों के ६ मास के पाठ्यक्रम के बिना अध्यापक की सहायता से केवल स्वावलम्बन से ये पाठ होने असम्भव तो नहीं, पर घोर परिश्रमसाध्य अवश्य हैं। अतः सामान्यतया ये ४४ पाठ दोनों को ही दृष्टि में रखकर लिखे गये हैं।

(२) पांच मास के पाठों के सम्बन्ध में जो विशेष ज्ञातव्य हो, उसे पाठक पूछ सकते हैं। ऐसी अवस्था में जब पठनार्थी और उनके अध्यापक का पूरा परिचय उपर्युक्त रीति से प्राप्त होगा, तभी हम परामर्श दे सकेंगे।

(३) इस सरलतम पद्धति से बाहर के या अगले पांच मास के पाठ्यक्रम में आये किसी भी सूत्र को जब समझना हो, तो उसे पदच्छेद-विभक्ति-समास आदि के क्रम से अधिकार अनुवृत्तिसहित अष्टाध्यायी पर से समझें। नामिक आख्यातिक आदि से नहीं। हां; पीछे इन्हें देख सकते हैं।

(४) कहीं-कहीं हमने सूत्र ही लिखे हैं, उनका पदच्छेद विभक्ति आदि नहीं लिखा। सो वहां केवल सूत्र का कार्य ही बताना अभीष्ट है, आवश्यक होने पर उसका पूरा परिचय आगे मिलेगा। पाठक यदि आवश्यक हो, तो ऐसे सूत्रों का विभक्ति वचन स्वयं जान लें, या अध्यापक से पूछ सकते हैं।

(५) प्रौढ़ पठनार्थियों की दृष्टि मे एक बात और समझ लेना आवश्यक है। यदि वे आरम्भ से एक सिरे से सूत्रों की अनुवृत्ति-अर्थ-सिद्धि आदि पढ़ना आरम्भ करें, और बीच-बीच में कम काम में आनेवाले सूत्र छोड़ दें, और इस प्रकार अष्टाध्यायी के १२०० या १५०० सूत्र पढ़ें, तो भी इन्हें सिद्धि समझ में आयेगी नहीं, क्योंकि इन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ नहीं है। यदि वे सिद्धि छोड़ भी दें, उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया, इतना मात्र ही करते चलें, तो भी इतने में ही एक वर्ष का समय लगेगा। समय लेकर आये हैं वे छः मास का, इसलिए प्रौढ़ों के लिए हमारे दर्शाये ४४पाठों का ढंग ही अधिक सुगम और सुबोध है।

ऐसे पठनार्थियों को एक वर्ष उपर्युक्त रीति से पढ़ लेने पर भी हमारे ४४ पाठों को अपनाना पड़ेगा। इससे अधिक अच्छा यह है कि वे जैसे-तैसे अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर हमारी दर्शाई प्रथमावृत्ति के ढंग से पढ़ें। इसमें तो सूत्र छोड़ने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती।

(६) अब रही बात १०-११ वर्ष के बच्चों के लिए। जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ है, उन्हें तो अवश्य ही सब सूत्र प्रथमावृत्ति के ढंग से

पढ़ाने चाहियें, जैसा कि हम ४४ पाठों के पश्चात् पृथक् प्रकरण में लिख चुके हैं। हमारी दृष्टि से विना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किए छोटे बच्चों को अष्टाध्यायी-क्रम से छोड़-छोड़ कर सूत्र पढ़ाना ठीक नहीं। उन्हें तो विना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये पढ़ाना ही न चाहिये। हाँ, यदि वे लोग हमारे ४४पाठों को समझ लें, तो उन्हें प्रथमावृत्ति बहुत ही सरल और अच्छी तरह हृदयंगम हो सकेगी।

(७) ६ मास के पठनार्थियों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब कौमुदी क्रम से पढ़ने वा पढ़ानेवाले परस्पर मिलते हैं, चाहे वे सूत्र का अर्थ उदाहरण तथा उक्त उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया इत्यादि न जानते हों, पर रटी हुई शङ्का वे अवश्य पूछने की चेष्टा करते हैं। ऐसे पूछनेवालों से घबराना नहीं चाहिये। पहिले उनसे उसी सूत्र का अर्थ पूछना चाहिए। फिर पूछना चाहिए कि यह अर्थ कैसे हो गया? पीछे उन्हें बता देना चाहिए कि हमारी प्रथमावृत्ति में शङ्का-समाधान नहीं होता। यह हमें अष्टाध्यायी की द्वितीयावृत्ति में पढ़ाया जाता है, ६मास के पाठचक्रम में नहीं पढ़ाया जाता।

पठनार्थी ऐसी बातों से कभी निराश न हो। हमारा २०दिन का छात्र यदि उनसे पूछ बैठे कि अमुक सूत्र का क्या अर्थ है, और कैसे बना? तो निश्चय ही वह उत्तर न दे सकेंगे। पर हमें तो किसी का निरादर नहीं करना। हां, ज्ञानवृद्धि के लिए किसी से प्रेमपूर्वक पूछना और बात है। वे सिद्धि कृत्रिमता (=रटे हुए) से करते हैं, पर हमारा छात्र स्वाभाविक रीति से करता है। वह यह भी जानता है कि इसके पश्चात् कौनसा सूत्र लगेगा, और क्यों?

(८) हमारी इस सरलतम पद्धति के विषय में पठनार्थियों को जहां भी कठिनाई हो, वे पत्रव्यवहार द्वारा हमसे पूछ सकते हैं। उन्हें पत्र द्वारा समझाने का यत्न किया जायेगा। किसी भी प्रकार की कठिनाई हो तो लिखें। विशेष आवश्यकता होने पर 'वेदवाणी' में उनके प्रश्नों को प्रकाशित कर उत्तर दिये जा सकेंगे। प्रश्नकर्त्ता को अपना पूरा परिचय आयु, अन्य भाषा की योग्यता, संस्कृत में क्या पढ़ा, अध्यापक की योग्यता, अष्टाध्यायी कण्ठस्थ है या नहीं, इत्यादि लिखकर भेजना चाहिए, ताकि उत्तर तदनुसार उपयुक्त सिद्ध हो सके। पठनार्थियों के लिए यह व्यवस्था है, सो लाभ उठा सकते हैं। व्यर्थ पत्र लिखनेवालों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा।

(९) अन्त में एक विशेष सुझाव यह भी है कि ५ मास के पाठचक्रम में पूर्वोक्त १० प्रकरणों में पृ० २२० से २२६ तक प्रायः सभी अध्यायों के

सूत्र आये हैं। पुनरपि यदि अधिक चाहें और पठनार्थी कर सकें, तो अङ्गाधिकार के अन्य आवश्यक १५० सूत्र और करा सकते हैं। ७वें अध्याय पाद २ का सेट् और अनिट् प्रकरण, अन्त में त्यदादीनामः(७।२।१०)का प्रकरण करा सकते हैं। ७।४ में अभ्यास-प्रकरण के कुछ सूत्र और करा दें।

यह सब करने वा कराने का मुख्य प्रयोजन यही है कि पठनार्थी न पढ़े हुए सूत्रों को भी काशिका[1] वा वेदाङ्ग-प्रकाश आदि को देखकर सूत्र का अर्थ उदाहरण-सिद्धि स्वयं (=विना अध्यापक की सहायता के) ही समझ लें। हमारे विचार से तो अवश्य समझ लेंगे। यदि कभी किसी से कहीं कुछ पूछना भी पड़ जावे, तब भी कोई बुरी बात नहीं। इसी पद्धति से ६ मास पढ़कर पठनार्थी अपने पांव पर खड़ा हो जायेगा। जिस विषय को भी वह चाहेगा, पढ़ सकेगा।

इसी प्रकार हमने ६ मास का विना रटे अष्टाध्यायी-पद्धति से संस्कृत सीखने का सरलतम उपाय लेखरूप में संस्कृतानुरागी सज्जनों के लाभार्थ उपस्थित किया है। समयाभाव से यद्यपि हमें इसमें बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। इन कामों में अकेले होने के कारण भी बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा।

आज[2] १८ सितम्बर तक वेदवाणी छपकर तैयार हो जानी चाहिए। मैं यह पंक्तियां लिख रहा हूं (गत छः अङ्कों में भी प्रायः ऐसी स्थिति में ही ये लेख लिखे जा चुके हैं), इसको देखने का भी पूरा समम नहीं रहा। २० सितम्बर ५५ को कम्पोज आरम्भ हुआ,पर यह लेखमाला आरम्भ हो गई, तो लिखना अनिवार्य हो गया। अन्यथा उत्तम तो यह था कि अवकाश के समय में लिखते। उसे एक बार पुनरावृत्ति करते, तो बहुत अच्छा होता। इस ढंग से करते,तो सम्भव है यह लेख लिखा ही न जाता।यह लिखा गया, यही बड़ा काम हो गया। इसका परिवर्त्तन परिवर्धन होता रहेगा। इतना विदित रहे कि जो मैं पढ़ाता हूं, प्रायः वही लिखा गया है। शीघ्रता में अनवधानता से कहीं-कहीं छपने में, संशोधन तथा लेखन में भूल रही थीं,

---

१. ग्रन्थकारकृत अष्टाध्यायीभाष्य से पूरी सहायता मिलेगी।

२. यह प्रथम संस्करण की तिथि है,जो उस समय'वेदवाणी'बनारस में छपा था। द्वितीय संस्करण की प्रेस कापी २३ जून १९५७ को तैयार हुई, और ३१-७-५७ को प्रेस में दी गई। तृतीय संस्करण की प्रेस कापी आज १७-७-६२ गुरु पूर्णिमा को समाप्त हुई, और प्रेस में दी गयी। चतुर्थ संस्करण नवम्बर१९६८में छपा। यह पंचम संस्करण है।

सो ठीक कर दी गई है। इस पर भी यदि कोई सज्जन सद्भावना से कोई भूल या नया सुझाव देंगे, उस पर हम ध्यानपूर्वक विचार करेंगे, और ठीक होने पर शोधन कर देंगे। द्वेष वा ईर्ष्यावश विरोधमात्र उठानेवालों की बात पर ध्यान नहीं दिया जावेगा।

संस्कृतप्रेमी महानुभाव इस प्रकार से यदि लाभ उठायेंगे, संस्कृत पठन-पाठन में इस अष्टाध्यायी-पद्धति के सरलतम उपाय को काम में लावेंगे, और में देश व्यापक रीति से इस क्रम का विस्तार स्वयं वा अन्यों द्वारा करेंगे वा करायेंगे, तो हम अपने अल्प प्रयास को सफल समझेंगे ॥

परिशिष्ट सं० (१)

सन्धि-अभ्यासार्थं चित्र

विशेष निर्देश

आगे दिये गये उदाहरणों में जो सूत्र आपकी पुस्तक में नहीं आये, उन्हें अष्टाध्यायी में से निकालकर समझ लेना चाहिए, अथवा सन्धि-विषय में से निकालकर समझ लेवें। वैसे तो यह सन्धि का सम्पूर्ण प्रकरण सन्धिविषय में अष्टाध्यायी पर से पदच्छेदादि करके अच्छी प्रकार समझा जा सकता है, कुछ भी कठिन नहीं। कठिनाई यदि थी भी, तो वह ४४ पाठ निकाल चुके हैं, अब कठिनाई किस बात की ?

सन्धि-चित्र को देखने का ढंग— दाहिना हाथ सूत्र पर रख लें। जो उदाहरण बनता है वहां तक कागज रखलें, अर्थात् उसे छिपालें। विग्रह को देखकर पहिले स्वयं विचारें कि सन्धि का क्या रूप बनेगा। फिर देखें कि आपका बनाया रूप ठीक है या नहीं। पीछे यह भी विचारें कि इस सन्धि में सूत्र कौनसा लगा, फिर देखें आपने सूत्र ठीक लगाया कि नहीं। अथवा यह भी हो सकता है कि एक व्यक्ति पूछे, दूसरा बताता जाये।

अच् सन्धि और हल् सन्धि में अधिक-से-अधिक उपयोग में आनेवाली सन्धियां दर्शा दी गई हैं। इस चित्र (चार्ट) पर अभ्यास हो जाने से सन्धियों में परम लाभ होगा, यह निश्चित है। रटने का काम नहीं। इनको रटने-वाला और रटानेवाला दोनों ही महांमूढ़ होंगे। समझदार ऐसा काम कभी नहीं करेगा।

हमने जानकर ही सब सूत्रों के अर्थादि नहीं बताये। सन्धि के ये सूत्र (जो नहीं भी पढ़े) एक सप्ताह या अधिक-से-अधिक १० दिन में समझे वा समझाये जा सकते हैं। ४४ पाठ पढ़ लेने पर इतनी शक्ति अवश्य आ जाती है। हमारे इस सन्धिचित्र पर अभ्यास करनेवाले सन्धि में कभी भूल नहीं करेंगे। यह बात अभ्यास पर निर्भर है। इतना हम कह सकते हैं कि ३०० शास्त्री परीक्षार्थियों में २०-२५ को छोड़कर सन्धि की भयङ्कर भूलें करते हमने देखे हैं। आचार्य परीक्षार्थियों का भी यही हाल देखा है। लेख

में सन्धि की भूल होना भयङ्कर दोष माना जाता है, और है भी। हमारा यह चित्र इस में परम सहायक होगा, ऐसी हमें पूरी आशा है। पठनार्थी को कोई कठिनाई हो तो हमें लिखें॥

❦

अच्सन्धिः

(१) अ आ

विग्रह सन्धि	सूत्र निर्देश
तव+अत्र=तवात्र	अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।९७
वेद+आदिः=वेदादिः	,,
विद्या+अत्र=विद्यात्र	,,
विद्या+आलयः=विद्यालयः	,,
देव+इन्द्रः=देवेन्द्रः	आद् गुणः ६।१।८४
परम+ईश्वरः=परमेश्वरः	,,
माला+इयम्=मालेयम्	,,
विद्या+ईश्वरः=विद्येश्वरः	,,
तव+उष्ट्रः=तवोष्ट्रः	,,
विद्या+उत्तमा=विद्योत्तमा	,,
मम+ऊहा=ममोहा	,,
विद्या+ऊहा=विद्योहा	,,
ब्रह्म+ऋषिः=ब्रह्मर्षिः[1]	,,
उप+ऋच्छति=उपार्च्छति[1]	उपसर्गादृति धातौ ६।१।८८
महा+ऋषिः=महर्षिः[1]	आद् गुणः ६।१।८४
तव+ऋकारः=तवर्कारः[1]	,,
माला+ऋकारः=मालर्कारः[1]	,,
तव+लृकार=तवल्कारः	,,
तव+एकः=तवैकः	वृद्धिरेचि ६।१।८५
उप+एलयति=उपेलयति	एङि पररूपम् ६।१।९१

१. इन में उरण रपरः (१।१।५०) से गुण वृद्धि रपर होते हैं।

माला+एका=मालैका	वृद्धिरेचि ६।१।८५
परम+ऐश्वर्यम्=परमैश्वर्यम्	"
विद्या+ऐश्वर्यम्=विद्यैश्वर्यम्	"
मम+ओदनः=ममौदनः	"
माला+ओदनः=मालौदनः	"
तव+औपगवः[1]=तवौपगवः	"
रामा+औपगवः=रामौपगवः	"
(२) इ ई	
यदि+अपि=यद्यपि	इको यणचि ६।१।७४
यदि+आकांक्षति=यद्याकांक्षति	"
यदि+इदम्=यदीदम्	अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।९७
यदि+ईश्वरः=यदीश्वरः	"
यदि+उक्तम्=यद्युक्तम्	इको यणचि ६।१।७४
यदि+ऊहा=यद्यूहा	"
यदि+ऋणम्=यद्यृणम्	"
यदि+लृकारः=यद्य्लृकारः	"
यदि+एकः=यद्येकः	"
यदि+ऐश्वर्यम्=यद्यैश्वर्यम्	"
यदि+ओदनः=यद्योदनः	"
यदि+औपगवः=यद्यौपगवः	"
कुमारी+अत्र=कुमार्यत्र	"
कुमारी+आनयति=कुमार्यानयति	"
कुमारी+इयम्=कुमारीयम्	अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।९७
अग्नी (१।२)+इमौ=अग्नी इमौ	ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११ प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२१
कुमारी+ईशः=कुमारीशः	अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।९७
कुमारी+उक्तवती=कुमार्युक्तवती	इको यणचि ६।१।७४
कुमारी+ऊहा=कुमार्यूहा	"
कुमारी+ऋणम्=कुमार्यृणम्	"
कुमारी+लृकारः=कुमार्य्लृकारः	"
कुमारी+एका=कुमार्येका	"

१. उपगु नाम के व्यक्ति का पुत्र औपगव।

कुमारी+ऐश्वर्यम्=कुमार्यैश्वर्यम् इको यणचि ६।१।७४
कुमारी+ओदनः=कुमार्योदनः ,,
कुमारी+औपगवः=कुमार्यौपगवः ,,

(३) उ ऊ

मधु+अत्र=मध्वत्र ,,
मधु+आम्रम्=मध्वाम्रम् ,,
वधू+अलंकारः=वध्वलंकारः ,,
भू+आदिः=भ्वादिः ,,
वधू+आलयः=वध्वालयः ,,
मधु+इदम्=मध्विदम् ,,
वधू+इच्छा=वध्विच्छा ,,
मधु+ईशः=मध्वीशः ,,
वधू+ईशः=वध्वीशः ,,
मधु+उदकम्=मधूदकम् अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।९७
चमू+उत्तमा=चमूत्तमा ,,
मधु+ऊहति=मधूहति ,,
वधू+ऊहा=वधूहा ,,
मधु+ऋच्छति=मध्वृच्छति इको यणचि ६।१।७४
वधू+ऋणम्=वध्वृणम् ,,
मधु+लृकारः=मध्व्लृकारः ,,
वधू+लृकारः=वध्व्लृकारः ,,
मधु+एकम्=मध्वेकम् ,,
वधू+एका=वध्वेका ,,
मधु+ऐश्वर्यम्=मध्वैश्वर्यम् ,,
वधू+ऐश्वर्यम्=वध्वैश्वर्यम् ,,
वायू+इमौ=वायू इमौ ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११, प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२१

(४) ऋ

कर्त्तृ+अत्र=कर्त्रत्र इको यणचि ६।१।७४
पितृ+आलयः=पित्रालयः ,,
पितृ+इच्छा=पित्रिच्छा ,,

पितृ+ईशः=पित्रीशः इको यणचि ६।१।७४
पितृ+उदकम्=पित्रुदकम् ,,
पितृ+ऊहा=पित्रूहा ,,
पितृ+ऋणम्=पितॄणम् अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।९७
पितृ+एकः=पित्रेकः इको यणचि ६।१।७४
पितृ+ऐश्वर्यम्=पित्रैश्वर्यम् ,,
पितृ+ओदनः=पित्रोदनः ,,
पितृ+औपगवः=पित्रौपगवः ,,

(५) ए पदान्त

गृहे+अत्र=गृहेऽत्र एङः पदान्तादति ६।१।१०५
गृहे+आनय=गृह आनय एचोऽयवायावः ६।१।७५, लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९
गृहे+इदम्=गृह इदम् ,,
माले+इमे=माले इमे ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११, प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२१
गृहे+ईश्वरः=गृह ईश्वरः एचोऽयवायावः ६।१।७५, लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९
गृहे+उत्तम्=गृह उत्तम् ,,
गृहे+ऊर्णा=गृह ऊर्णा ,,
गृहे+ऋषिः=गृह ऋषिः ,,
गृहे+ऋकारः=गृह ऋकारः ,,
गृहे+ऌकारः=गृह ऌकारः ,,
गृहे+एकः=गृह एकः ,,
गृहे+ऐश्वर्यम्=गृह ऐश्वर्यम् ,,
गृहे+ओदनः=गृह ओदनः ,,
गृहे+औपगवः=गृह औपगवः ,,

(६) ऐ (क) अपदान्त

चि+अक=चै+अक=चायकः एचोऽयवायावः ६।१।७५
चि+णिच्=चै इ=चायि तृच्=चायितृ=चायिता ,,

ऐ (ख) पदान्त

विद्यायै+अत्र=विद्यायायत्र एचोऽयवायावः ६।१।७५
विद्यायै+आनय=विद्यायायानय ,,

विद्यायै+इदम्=विद्यायायिदम् एचोऽयवायावः ६।१।७५
विद्यायै+ईशः=विद्यायायीशः ,,
विद्यायै+उक्तम्=विद्यायायुक्तम् ,,
विद्यायै+ऊहा=विद्यायायूहा ,,
विद्यायै+ऋणम्=विद्यायायृणम् ,,
विद्यायै+एकः=विद्यायायेकः ,,
विद्यायै+लृकारः=विद्यायाय्लृकारः ,,
विद्यायै+एकः=विद्यायायेकः ,,
विद्यायै+ऐश्वर्यम्=विद्यायायैश्वर्यम् ,,
विद्यायै+ओदनः=विद्यायायोदनः ,,
विद्यायै+औपगवः=विद्यायायौपगवः ,,

(७) ओ (क) अपदान्त

भू+शप्=भो अ=भव तिप्=भवति ,,
भू+इट्+तृच्=भो इतृ=भवितृ ,,

ओ (ख) पदान्त

वायो+अत्र=वायोऽत्र एङः पदान्तादति ६।१।१०५
वायो+आयाहि=वायवायाहि एचोऽयवायावः ६।१।७५
वायो+इदम्=वायविदम् ,,
वायो+इति=वायविति, वायो इति ,, सम्बुद्धौ० १।१।१६
वायो+ईश्वरः=वायवीश्वरः ,,
वायो+उदकम्=वायवुदकम् ,,
वायो+ऊहा=वायवूहा ,,
वायो+ऋषि=वायवृषिः ,,
वायो+एकः=वायवेकः ,,
वायो+ऐश्वर्यम्=वायवैश्वर्यम् ,,
वायो+ओदनः=वायवोदनः ,,
वायो+औपगवः=वायवौपगवः ,,

(८) औ (क) अपदान्त

भू+घञ्=भौ अ=भावः एचोऽयवायावः ६।१।७५
पू+ण्वुल्=पौ अक=पावकः ,,
नौ+ठक्=नौ इक=नाविकः ,,

औ (ख) पदान्त

बालकौ + अत्र = बालकावत्र — एचोऽयवायावः ६।१।७५
तङानौ + आत्मनेपदम् = तङानावात्मनेपदम् "
बालकौ + इमौ = बालकाविमौ "
बालकौ + ईहेते = बालकावीहेते "
बालकौ + उक्तवन्तौ = बालकावुक्तवन्तौ "
बालकौ + ऊचतुः = बालकावूचतुः "
बालकौ + ऋणम् = बालकावृणम् "
बालकौ + एधेते = बालकावेधेते "
बालकौ + ऐच्छताम् = बालकावैच्छताम् "
बालकौ + ओदनम् = बालकावोदनम् "
बालकौ + औपगवः = बालकावौपगव "

इति अच्सन्धिः ॥

हल्स्वरसन्धिः

नीचे लिखे सभी प्रयोगों में पहले **चोः कुः** (८।२।३०) से कुत्व, पीछे **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) से गकार होता है—

वाच् + अत्र = वाक् + अत्र = वाग् + अत्र = वागत्र
वाच् + आगच्छति = वाक् आगच्छति = वाग् + आगच्छति = वागागच्छति
वाच् + इति = वाक् + इति = वाग् + इति = वागिति
वाच् + ईशः = वाक् + ईशः = वाग् + ईशः = वागीशः
वाच् + उक्ता = वाक् + उक्ता = वाग् + उक्ता = वागुक्ता
वाच् + ऊहा = वाक् + ऊहा = वाग् + ऊहा = वागूहा
वाच् + ऋषिः = वाक् + ऋषिः = वाग् + ऋषिः = वागृषिः
वाच् + ऌकारः = वाक् + ऌकारः = वाग्ऌकारः
वाच् + एका = वाक् + एका = वागेका
वाच् + ऐश्वर्यम् = वाक् + ऐश्वर्यम् = वागैश्वर्यम्
वाच् + ओजः = वाक् + ओजः = वागोजः
वाच् + औपगवः = वाक् + औपगवः = वागौपगवः

इसी प्रकार ऋत्विज्+अत्र=ऋत्विगत्र, सरट्+अत्र=सरडत्र, प्रष्ठवाट्+इति=प्रष्ठवाडिति, मरुत्+अत्र=मरुदत्र, समिध्+अत्र=समिदत्र, समिध्+आधानम्=समिदाधानम्, सुप्+अन्तः=सुबन्तः, ककुभ्+अत्र=ककुबत्र इत्यादि में ८।२।३६ से सन्धि समझ लेना चाहिये। प्रातर्+अत्र=प्रातरत्र, पुनर्+इह=पुनरिह, झय्+आदि=झयादि, सम्+अवैति=समवैति इत्यादि में कोई सूत्र नहीं लगता। हल् और अच् आपस में मिल जाते हैं॥

हल्सन्धिः

ग्रामम्+याति=ग्रामं याति	मोऽनुस्वारः ८।३।२३
मीमान् सते=मीमांसते	नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४
यशान् सि=यशांसि	,,
पुम् सु=पुंसु	,,
सम्+याति=संयाति	मोऽनुस्वारः ८।३।२३
सम्+राट्=सम्राट्	मो राजि समः क्वौ ८।३।२५
किम्+ह्मलयति=किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति	हे मपरे वा ८।३।२६
किम्+ह्नुते=किन् ह्नुते, किं ह्नुते	नपरे नः ८।३।२७
अं कः=अङ्कः	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५७
अं चनम्=अञ्चनम्	,,
चं डः=चण्डः	,,
कं पनम्=कम्पनम्	,,
कटम्+करोति=कटङ्करोति, कटं करोति	८।३।२३; वा पदान्तस्य ८।४।५८
बालम्+चेतयति=बालञ्चेतयति, बालं चेतयति	,,
ग्रामम्+टीकते=ग्रामण्टीकते, ग्रामं टीकते	,,
अग्निचित्+लुनाति=अग्निचिल्लुनाति	तोर्लि ८।४।५९
विद्युत्+लेलायते=विद्युल्लेलायते	,,
भवान्+लक्षयति=भवाँल्लक्षयति	,,
उदङ् शेते=उदङ्क्शेते, उदङ्शेते	ङ्णोः कुक्टुक् शरि ८।३।२८
उदङ्+षष्ठः=उदङ्क्षष्ठः, उदङ्षष्ठः	,,
उदङ्+सुनोति=उदङ्क्सुनोति, उदङ् सुनोति	,,

मधुलिट् + सीयते = मधुलिट्त्सीयते, मधुलिट्सीयते — डः सि धुट् ८।३।२९
भवान् + सुनोति = भवान्त्सुनोति, भवान् सुनोति — नश्च ८।३।३०
भवान् शेते = भवाञ्च्छेते, भवान् शेते — शि तुक् ८।३।३१
तिङ् + अतिङ् = तिङ्ङतिङ् — ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८।३।३२
उदङ् + आस्ते = उदङ्ङास्ते — "
प्रवण् + आस्ते = प्रवण्णास्ते — "
तस्मिन् + इति = तस्मिन्निति — "
शम् + उ + अस्तु = शम्वस्तु, शम् उ अस्तु — मय उञो वो वा ८।३।३३
इ छति = इच्छति — छे च ६।१।७१
आ छादयति = आच्छादयति — आङ्माङोश्च ६।१।७२
ह्री छति = ह्रीच्छति — दीर्घात् पदान्ताद्वा ६।१।७३
गायत्री + छन्दः = गायत्रीच्छन्दः, गायत्री छन्दः — "
विष्णुमित्रस् + शोभते = विष्णुमित्रश्शोभते — स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।३९
देवदत्तस् + चलति = देवदत्तश्चलति — "
अग्निचित् + शेते = अग्निचिच्छेते — ", शश्छोऽटि ८।४।६२
पुरुषस् + षष्ठः = पुरुषष्षष्ठः — ष्टुना ष्टुः ८।४।४०
पुरुषस् + टीकते = पुरुषष्टीकते — "
शूद्रस् + टलति = शूद्रष्टलति — "
योषित् + टलति = योषिट्टलति — "
षट् + सन्ति = षट् सन्ति — न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४१
षट् + नाम् = षण्णाम् — "
योषित् + षण्ढः = योषित्षण्ढः — तोः षि ८।४।४२
प्रछ् + न = प्रश् + न = प्रश्नः — शात् ८।४।४३
वाक् + नमति = वाङ्नमति, वाग्नमति — यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४४
कार् + यम् = कार्यम्, कार्य्यम् — अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४५
दधि + अत्र = दध्यत्र, दद्ध्यत्र — अनचि च ८।४।४६
उद् + स्थानम् = उत्थानम् — उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६०
वाक् + हसति = वाग्घसति — झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६१
वाक् + शेते = वाक् छेते, वाक् शेते — शश्छोऽटि ८।४।६२

विसर्गसन्धिः

पुरुषः+अत्र=पुरुषो अत्र, पुरुषोऽत्र	अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१०९), एङः पदान्तादति (६।१।१०५)
पुरुषः+आगच्छति=पुरुष आगच्छति	भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि(८।३।१७), लोपः शाकल्यस्य(८।३।१९)[1]
पुरुषः+इच्छति=पुरुष इच्छति	,, ,,
पुरुषः+ईश्वरः=पुरुष ईश्वरः	,, ,,
पुरुषः+उत्तमः=पुरुष उत्तमः	,, ,,
पुरुषः+ऊहते=पुरुष ऊहते	,, ,,
पुरुषः+ऋच्छति=पुरुष ऋच्छति	,, ,,
पुरुषः+एति=पुरुष एति	,, ,,
पुरुषः+ऐश्वर्यम्=पुरुष ऐश्वर्यम्	,, ,,
पुरुषः+ओदनम्=पुरुष ओदनम्	,, ,,
पुरुषः+औहत=पुरुष औहत	,, ,,
पुरुषाः+अत्र=पुरुषा अत्र	,, ,,
पुरुषाः+आगताः=पुरुषा आगताः	,, ,,
पुरुषाः+इच्छन्ति=पुरुषा इच्छन्ति	,, ,,
पुरुषाः+ईश्वरम्=पुरुषा ईश्वरम्	,, ,,
पुरुषाः+उत्तमाः=पुरुषा उत्तमाः	,, ,,
पुरुषाः+ऊहन्ते=पुरुषा ऊहन्ते	,, ,,
पुरुषाः+ऋच्छन्ति=पुरुषा ऋच्छन्ति	,, ,,
पुरुषाः+एधन्ते=पुरुषा एधन्ते	,, ,,
पुरुषाः+ऐश्वर्यम्=पुरुषा ऐश्वर्यम्	,, ,,
पुरुषाः+ओदनम्=पुरुषा ओदनम्	,, ,,
पुरुषाः+औपवगम्=पुरुषा औपगवम्	,, ,,
अग्निः+अत्र=अग्निरत्र	कोई सूत्र नहीं लगता।[2]
वायुः+अत्र=वायुरत्र	,,
अग्निः+आगच्छति=अग्निराच्छति	,,
अग्निः+उक्तवान्=अग्निरुक्तवान्	,,

१. अगले प्रयोगों में ये सूत्र क्रमशः लगते हैं, ऐसा समझें।

२. वस्तुतः 'अग्निर् दोनों अत्र' आदि सभी प्रयोगों में रु के 'र्' को स्वर परे होने

अग्निः+ईश्वरः=अग्निरीश्वरः कोई सूत्र नहीं लगता।[1]
अग्निः+एति=अग्निरेति ,,
वायुः+ओदनम्=वायुरोदनम् ,,
वधूः+आयाति=वधूरायाति ,,
नौः+आगच्छति=नौरागच्छति ,,
पुरुषः+करोति=पुरुष⌣करोति, पुरुषः करोति कुप्वोः⌣क⌣पौ च ८।३।३७
बालः+खादति=बाल⌣खादति, बालः खादति ,,
बालः+गच्छति=बालो गच्छति हशि च ६।१।११०, आद् गुणः ६।१।८४
बालः+घघति=बालो घघति ,, ,, ,, ,,
पुरुषः+चेतति=पुरुषस् चेतति=पुरुषश्चेतति विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४,
स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।३९
पुरुषः+छादयति=पुरुषस् छादयति=पुरुषश्छादयति ,,
पुरुषः+जानाति=पुरुषो जानाति हशि च ६।१।११७, आद्गुणः ६।१।८४
पुरुषः+टीकते=पुरुषष्टीकते ष्टुना ष्टुः ८।४।४०
उक्तः+ठकारः=उक्तष्ठकारः ,
पुरुषः+तरति=पुरुषस्तरति विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४
उक्तः+थकारः=उक्तस्थकारः ,,
पुरुषः+ददाति=पुरुषो ददाति हशि च ६।१।११०, आद् गुणः ६।१।८४
पुरुषः+पठति=पुरुष⌣पठति पुरुषः पठति कुप्वोः⌣क⌣पौ च ८।३।३७
पुरुषः+फलति=पुरुष⌣फलति, पुरुषः फलति ,,
पुरुषः+बलम्=पुरुषो बलम् हशि च ६।१।११० आद्गुणः ६।१।८४
पुरुषः+भवति=पुरुषो भवति ,, ,,
पुरुषः+याति=पुरुषो याति ,, ,,
पुरुषः+शेते=पुरुषस् शेते=पुरुषः शेते, वा शरि ८।३।३६
पुरुषश्शेते स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।३९
कवयः+षट्=कवयः षट्, कवयष्षट् वा शरि ८।३।३६, ष्टुना ष्टुः ८।४।४०
यशः+कल्पम्=यशस्कल्पम् सोऽपदादौ ८।३।३८
अयः+पाशम्=अयस्पाशम् ,, ,,
पुनः+कल्पम्=पुनः कल्पम् वा० अनव्ययस्य ८।३।३८

पर अवसान (विराम) न होने से ८।३।१५ से विसर्ग नहीं होता। उसी 'र' में अगला स्वर मिल जाता है। साधारण रूप से समझाने के लिये विसर्ग रखा है।

१. पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी दो देखें।

पयः+काम्यति=पयस्काम्यति सोऽपदादौ ८।३।३८
यशः+काम्यति=यशस्काम्यति „
पुरुषाः+कुर्वन्ति=पुरुषा⌣कुर्वन्ति, पुरुषाः कुर्वन्ति कुप्वोः⌣क⌣पौ च ८।३।३७
पुरुषाः+खादन्ति=पुरुषा⌣खादन्ति, पुरुषाः खादन्ति „ „
पुरुषाः+गच्छन्ति=पुरुषा गच्छन्ति ८।३।१७, हलि सर्वेषाम् ८।३।२२
पुरुषाः+घघन्ति=पुरुषा घघन्ति „ „ „
पुरुषाः+चलन्ति=पुरुषाश्चलन्ति „ विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४, स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।३९
पुरुषाः+छादयन्ति=पुरुषाश्छादयन्ति „ „
पुरुषाः+जानन्ति=पुरुषा जानन्ति ८।३।१७, हलि सर्वेषाम् ८।३।२२
पुरुषाः+टीकन्ते=पुरुषाष्टीकन्ते विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४, ष्टुना ष्टुः ८।४।४०
पुरुषाः+तरन्ति=पुरुषास्तरन्ति „
पुरुषाः+थकारम्=पुरुषास्थकारम् „
पुरुषाः+ददति=पुरुषा ददति ८।३।१७, हलि सर्वेषाम् ८।३।२२
पुरुषाः+धावन्ति=पुरुषा धावन्ति „ „
पुरुषाः+नृत्यन्ति=पुरुषा नृत्यन्ति „ „
पुरुषाः+पठन्ति=पुरुषाः⌣पठन्ति, पुरुषाः पठन्ति कुप्वोः⌣क⌣पौ च ८।३।३७
पुरुषाः+फलन्ति=पुरुषा⌣फलन्ति, पुरुषाः फलन्ति „
पुरुषाः+बाधन्ते=पुरुषा बाधन्ते ८।३।१७, हलि सर्वेषाम् ८।३।२२
पुरुषाः+भवन्ति=पुरुषा भवन्ति „ „ „
पुरुषाः+मन्यन्ते=पुरुषा मन्यन्ते „ „ „
पुरुषाः+यान्ति=पुरुषा यान्ति „ „ „
पुरुषाः+रमन्ते=पुरुषा रमन्ते „ „ „
पुरुषाः+लुनन्ति=पुरुषा लुनन्ति „ „ „
पुरुषाः+वपन्ति=पुरुषा वपन्ति „ „ „
पुरुषाः+शेरते=पुरुषाश्शेरते, पुरुषाः शेरते विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४, स्तोःश्चुना श्चुः ८।४।३९, वा शरि ८।३।३६
पुरुषाः+षट्=पुरुषाष्षट्, पुरुषाः षट् विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४, ष्टुना ष्टुः ८।४।४०, वा शरि ८।३।३६

पुरुषाः+सुवन्ति=पुरुषास्सुवन्ति, पुरुषाः सुवन्ति	वा शरि ८।३।३६
पुरुषाः+हसन्ति=पुरुषा हसन्ति	८।३।१७, हलि सर्वेषाम् ८।३।२२
अग्निः+करोति=अग्नि⌣करोति, अग्निः करोति	कुप्वोः⌣क⌣पौ च ८।३।३७
अग्निः+खादति=अग्नि⌣खादति, अग्निः खादति	" " "
अग्निः+गच्छति=अग्निर्गच्छति	
अग्निः+घघति=अग्निर्घघति	
अग्निः+चलति=अग्निश्चलति	विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४, स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।३९
वायुः+चलति=वायुश्चलति	" "
अग्निः+छादयति=अग्निश्छादयति	" "
अग्निः+जानाति=अग्निर्जानाति	
अग्निः+टीकते=अग्निष्टीकते	विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४, ष्टुना ष्टुः ८।४।४०
वायुः+टीकते=वायुष्टीकते	" "
कुमारीः[1]+गाययति=कुमारीर्गाययति	
कुमारीः+पाठयति=कुमारी⌣पाठयति, कुमारीः पाठयति	कुप्वोः⌣क⌣पौ च ८।३।३७
कुमारीः+भोजयति=कुमारीर्भोजयति	
कुमारीः+याजयति=कुमारीर्याजयति	
कुमारीः+एति=कुमारीरेति	
कुमारीः+ऐश्वर्यम्=कुमारीरैश्वर्यम्	
कुमारीः+ओदनम्=कुमारीरोदनम्	
नमः+कर्त्ता=नमस्कर्त्ता	नमस्पुरसोर्गत्योः ८।३।४०
पुरः+कृत्य=पुरस्कृत्य	"
हविः+काम्यति=हविष्काम्यति	इणः षः ८।३।३९
हविः+पाशम्=हविष्पाशम्	"
हविः+करोति=हविष्करोति, हविः करोति	इसुसोः सामर्थ्ये ८।३।४४

---

१. यहां सर्वत्र 'कुमारीः' द्वितीया का बहुवचन है।

निर्+कृतम्=निष्कृतम् इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य ८।३।४१
निर्+पीतम्=निष्पीतम् "
आविः+कृतम्=आविष्कृतम् "
तिरः+कृतम्=तिरस्कृतम्, तिरःकृतम् तिरसोऽन्यतरस्याम् ८।३।४२
द्विः+करोति=द्विष्करोति, द्विः करोति द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ८।३।४३
द्विः+पठति=द्विष्पठति, द्विः पठति "
त्रिः+करोति=त्रिष्करोति, त्रिः करोति "
त्रिः+पठति=त्रिष्पठति, त्रिः पठति "
चतुः+करोति=चतुष्करोति, चतुःकरोति "
चतुः+पठति=चतुष्पठति, चतुः पठति "
सर्पिः+कुण्डिका=सर्पिष्कुण्डिका नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ८।३।४५
अयः+कारः=अयस्कारः अतः कृकमिकंसकुम्भपात्र० ८।३।४६
अयः+कामः=अयस्कामः "
पयः+कुम्भः=पयस्कुम्भः "
पयः+पात्रम्=पयस्पात्रम् "
अधः+पदम्=अधस्पदम् अधःशिरसी पदे ८।३।४७
शिरः+पदम्=शिरस्पदम् "
भ्रातुः+पुत्रः=भ्रातुष्पुत्रः कस्कादिषु च ८।३।४८
वाचः+पतिः=वाचस्पतिः षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपार० ८।३।५३
अहन्+भ्याम्=अहोभ्याम् अहन् ८।२।६८
अहन्+रूपम्=अहोरूपम् "
अहन्+ददाति=अहर्ददाति रोऽसुपि ८।२।६९
अहः+पतिः=अहर्पतिः, अहःपतिः अहरादीनां०(वा०),,
विद्वस्+आसनम्=विद्वदासनम् वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२
विद्वस्+भ्याम्=विद्वद्भ्याम् " "
देवान्+आसादयति=देवाँ आसादयति आतोऽटि नित्यम् ८।३।३
सम्+करोति=सम्+सुट्+करोति=संस्करोति सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ६।१।१३२
उप+कुरुते=उप+सुट्+कुरुते=उपस्कुरुते उपात् प्रतियत्न० ६।१।१३४
सः+करोति=स करोति एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१२८
एषः+करोति=एष करोति "
सः+खादति=स खादति "

एषः+खादति=एष खादति	एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१२८
सः+गच्छति=स गच्छति	„
एषः+गच्छति=एष गच्छति	„
सः+घातयति=स घातयति	„
एषः+घातयति=एष घातयति	„
सः+चलति=स चलति	„
एषः+चलति=एष चलति	„
सः+छादयति=स छादयति	„
एषः+छादयति=एष छादयति	„
सः+जानाति=स जानाति	„
एषः+जानाति=एष जानाति	„
सः+टीकते=स टीकते	„
एषः+टीकते=एष टीकते	„
सः+तरति=स तरति	„
एषः+तरति=एष तरति	„
सः+ददाति+स ददाति	„
एषः+ददाति=एष ददाति	„
सः+धावति=स धावति	„
एषः+धावति=एष धावति	„
सः+नमति=स नमति	„
एषः+नमति=एष नमति	„
सः+पठति=स पठति	„
एषः+पठति=एष पठति	„
सः+फलति=स फलति	„
एषः+फलति=एष फलति	„
सः+बालकः=स बालकः	„
एषः+बालकः=एष बालकः	„
सः+भवति=स भवति	„
एषः+भवति=एष भवति	„
सः+मन्यते=स मन्यते	„
एषः+मन्यते=एष मन्यते	„

सः+याति=स याति	एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१२८
एषः+याति=एष याति	"
सः+रमते=स रमते	"
एषः+रमते=एष रमते	"
सः+लुनाति=स लुनाति	"
एषः+लुनाति=एष लुनाति	"
सः+वदति=स वदति	"
एषः+वदति=एष वदति	"
सः+शेते=स शेते	"
एषः+शेते=एष शेते	"
सः+ष्ठीवति=स ष्ठीवति	"
एषः+ष्ठीवति=एष ष्ठीवति	"
सः+सुनोति=स सुनोति	"
एषः-. सुनोति=एष सुनोति	"
सः+हसति=स हसति	"
एषः+हसति=एष हसति	"

परिशिष्ट (२)

अष्टाध्यायी के प्रकरणों का संक्षिप्त परिचय

बालकों (१६ वर्ष से कम) वा प्रौढ़ पठनार्थी, जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ नहीं है, उनकी दृष्टि से हम अब अष्टाध्यायी में कौन-कौन विषय कहां-कहां पर हैं, इसका संक्षिप्त परिचय कराते हैं। इसको जान लेने पर अष्टाध्यायी हस्तामलकवत् प्रतीत होने लगती है। पठनार्थी मूल अष्टाध्यायी हाथ में लेकर समझते वा देखते चलें। विना मूल अष्टाध्यायी हाथ में लिये कुछ भी बोध न होगा।

१ अध्याय

(१) १४ प्रत्याहार सूत्र।

(२) **प्रथम पाद** में सारे में संज्ञा परिभाषा तथा अतिदेश सूत्र ही हैं।

(३) **द्वितीय पाद** में १ से १६ तक कित्वत् तथा ङित्वत् प्रकरण। कित् वह होता है जिसका क् इत्संज्ञक हो। जो कित् या ङित् नहीं, वह कित् या ङित् के समान माना जावे, तो वह कित्वत् या ङित्वत् कहां जायेगा।

(४) आगे १।२।२७ से ४० तक स्वर-प्रकरण है। ४१ से ५० तक संज्ञा तथा कुछ अन्य सूत्र हैं। ५१ से ५७ तक अशिष्य प्रकरण, ५८ से ६३ तक वचन विषय, ६४ से ७३ तक एकशेष प्रकरण है।

(५) **तृतीय पाद** में १ धातु संज्ञा का सूत्र है, आगे २ से ६ तक इत् संज्ञा प्रकरण, १२ से ७७ तक आत्मनेपद, ७८ से ९३ तक परस्मैपद प्रकरण।

(६) **चतुर्थ पाद** में प्रथम दो सूत्र परिभाषा के, ३ से २० तक संज्ञा सूत्र, २१-२२ वचन के सूत्र हैं। आगे २३ से ५५ तक कारक प्रकरण, ५६ से ९७ तक निपात, गति, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय संज्ञाओं का प्रकरण है। ९८ से १०३ तक तिङ् तथा सुप् सम्बन्धी संज्ञा, १०४ से १०७ तक पुरुष प्रकरण, १०८-१०९ संज्ञा के सूत्र हैं।

२ अध्याय

२।१।३ से २।२।३८ तक समास प्रकरण। २।३।१ से ७३ तक विभक्ति-प्रकरण। २।४।१ से ३१ तक एकवचन नपुंसक प्रकरण, ३२ से ३४ तक अन्वादेश प्रकरण, ३५ से ५७ तक 'आर्धधातुके' प्रकरण, ५८ से ७४ तक लुक् प्रकरण, आगे एक सूत्र आदेश का है।

३ अध्याय

३।१।४ तक अधिकार, स्वर विषय। ३।१।५ से ३१ तक सनादि प्रकरण, ३२ से ४२ तक लिट्, ४३ से ६६ तक लुङ्, ६७ से ८६ तक 'सार्वधातुके' प्रकरण, ८७ से ९० तक कर्मवत्, ९१ से ३।४।११७ तक धातोः अधिकार के प्रत्यय बताये हैं, जिनमें कृदन्त, कृत्य तथा तिङन्त तीनों ही हैं। ३।४।७७ से ११७ तक लस्य का अधिकार है।

४ अध्याय

४।१।१ से 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' का अधिकार ५।४।१६० तक, अर्थात् प्रातिपदिक से प्रत्यय विधान प्रकरण। तदन्तर्गत ४ १।३ से ८० तक स्त्री-प्रत्यय प्रकरण, ७६ से ५।४।१६० तक तद्धित प्रकरण, अर्थात् तद्धित प्रत्ययों का विधान है। इस तद्धित के अवान्तर प्रकरण निम्न प्रकार हैं—४।१।९२ से १७६ तक अपत्य(सन्तान अर्थमें)प्रत्ययविधान प्रकरण। आगे ४।२।१से तेन रक्तं, संस्कृतं भक्षाः (४।२।१५) सास्य देवता (४।२।२३) तस्य समूहः (४।२।३६) तदधीते तद्वेद (४।२।५८) आदि प्रकरण हैं। आगे ४।२।६६ से ६९ तक ४ सूत्र चातुरर्थिक कहाते हैं, इनका प्रकरण(४।२।९०) तक है। ४।२।९१ से ४।३।१३१ तक शैषिक अधिकार में प्रत्यय कहे हैं। इसके भी अवान्तर प्रकरण तत्र जातः (४।३।२५) तत्र भवः (४।३।५३) तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१) तस्येदम् (४।३।१२०) आदि हैं। शैषिक अधिकार से आगे (४।३।१२२) से १६६ तक विकार-अवयव प्रकरण है।

४।४।१ से ७४ तक ठक् प्रत्यय का अधिकार है। ७५ से १४४ तक यत् का अधिकार है। इसी के अन्तर्गत ११० से ११४ तक छन्द के सूत्र हैं।

५ अध्याय

५।१।१ से १८ तक छ प्रत्ययाधिकार,१९ से ६१ तक आर्हीय ठक् प्रत्यय अधिकार, ५।१।६२ से ११७ तक तदर्हति आदि अधिकार हैं। ५।१।११८ से १३५ तक भाव अर्थ में प्रत्यय कहें हैं। ५।२।१ से ९३ तक विविध प्रकार के अधिकार हैं। आगे ९४ से १४० तक मत्त्वर्थ प्रकरण है। ५।३।१ से २७ तक विभक्ति प्रकरण, २८ से ४१ तक अस्ताति, ४२ से ६२ तक धा आतिशायिक प्रत्यय हैं। ७० से ९५ तक प्रागिवात् अर्थात् इवादि अर्थ में प्रत्यय हैं। ५।४।१ से ५७ तक प्रायः स्वार्थिक प्रत्यय हैं, ५।४।६८ से १६० तक समासान्त प्रकरण है।

६ अध्याय

६।१।१ से १२ तक धातु द्विर्वचन प्रकरण, १३ से ४३ तक सम्प्रसारण, ४४ से ५६ तक आत्त्व, ५७ से ६९ तक लोप इत्यादि प्रकरण हैं। ७० से १५१ तक अच् संहिता प्रकरण, आगे १५२ से ६।२।१९८ तक स्वर प्रकरण है। ६।३।१ से २२ तक अलुक् प्रकरण है। २३ से १७३ तक उत्तरपद परे कार्यविधान प्रकरण है। ६।४।१ से १७५ तक अङ्गाधिकार है, जो ७।४।९७ तक हैं।

७ अध्याय—अङ्गाधिकार

७ वां अध्याय पूरा अङ्गाधिकार है। तदन्तर्गत १ से ८ तक झि को अन्तादेशादि प्रकरण, ९ से ३७ तक सुबन्तादि, ३८ से ५१ तक छन्दोऽधिकार, ५२से ८३ तक सुट् नुट् नुम् आगम प्रकरण, ८४ से १०३ तक सुबन्त। ७।२।१ से ७ तक लुङ् वृद्धि प्रकरण, ८ से ३४ तक इट् निषेध प्रकरण, ३५ से ७८ तक इट् आगम प्रकरण। ८२ से १०३ तक सुबन्त विभक्ति, ७।२।११४ से ७।३।३५ तक वृद्धि प्रकरण, ३६ से ८१ तक फुटकर पुक् युक् आदि आगम प्रकरण, ८२ से ८८ तक गुण प्रकरण, ८९ से १०० तक फुटकर सूत्र, १०१ से ११९ तक सुबन्त प्रकरण। ७।४।१ से ५७ तक फुटकर तिङन्तादि के सूत्र, ५८ से ९७ तक अभ्यास प्रकरण।

८ अध्याय

८।१।१ से १५ तक द्विर्वचन प्रकरण, ८।१।१६ से ८।३।५४ तक पदस्य का अधिकार तथा पदात् १७ से ६९ तक। २० से २७ तक युष्मद् अस्मद् आदेश प्रकरण, २८ से ७४ तक निघात स्वर प्रकरण। ८।२।१ से ८।४।६७ तक पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण। इसके अवान्तर प्रकरण इस प्रकार हैं—४२ से ६१ तक निष्ठादेश प्रकरण। ८२ से १०८ तक प्लुतोदात्त प्रकरण। ८।२।१०८ से ८।४।६७ तक संहिता प्रकरण। तदन्तर्गत ८।३।५५ से ११९ तक षत्व प्रकरण, ८।४।१ से ३८ तक णत्व प्रकरण, आगे फुटकर सन्धि के सूत्र हैं। अन्तिम से पहिले दो सूत्र स्वर के हैं॥

व्याख्यात-अव्याख्यात-सूत्राणाम्

अकारादिक्रमेण सूचीपत्रम्

विशेष सूचना—(क) यह सूची इस सरलतम पद्धति में आये सूत्रों की अकारादि-क्रम से बनाई गई है। इनमें दो प्रकार के सूत्र हैं। १ व्याख्यात, २ अव्याख्यात। व्याख्यात वें सूत्र हैं, जिनका अर्थ खोलकर बताया गया है। अव्याख्यात वे सूत्र हैं, जिनकी बार-बार लगने के कारण पुनः-पुनः व्याख्या नहीं की गई। किन्तु कार्य के लिये सुगमतार्थं निर्देशमात्र किया गया है, जिससे पढ़नेवालों के हृदय में उक्त बात बैठती चली जावे। इसे विद्वान् महानुभाव पुनरुक्त दोष न समझें। अत्यन्त प्रसिद्ध तथा पुनः-पुनः लगनेवाले कुछ सूत्रों का निर्देश नहीं किया, सो भी विदित रहे।

(ख) अष्टाध्यायी सूत्रों की संख्या हमने इस पुस्तक में तथा इस सूची में भी श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) मुद्रित अष्टाध्यायी के अनुसार दी है। दूसरे संस्करणों से कहीं-कहीं थोड़ा अन्तर रहेगा।

स्

सन्धि-चित्र के सूत्रों की सूची

—:०:—